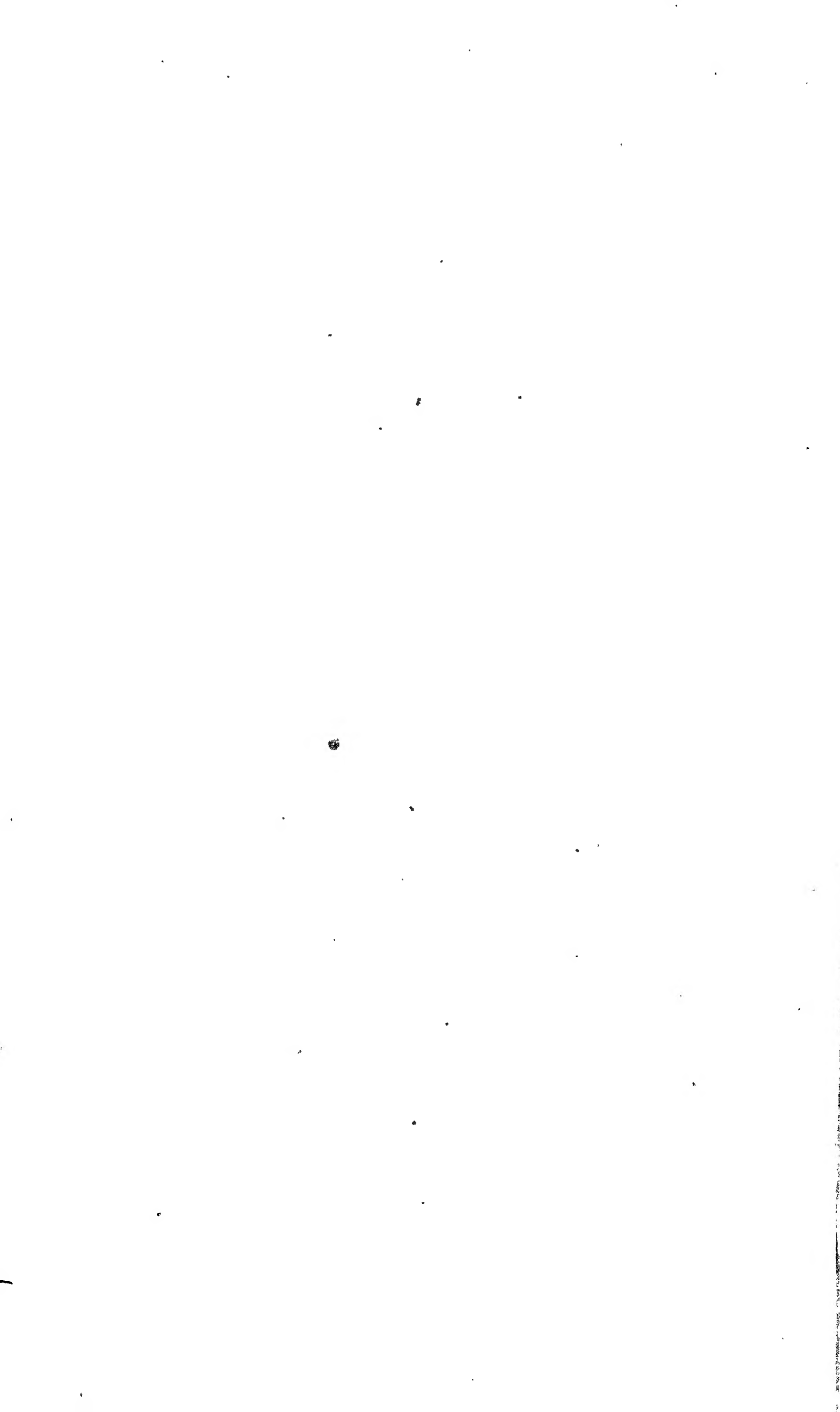


रीतिकाव्य-संग्रह

भूमिका-लेखक
एवं
संकलन-कर्ता

डा. जगदीश गुप्त



साहित्य भवन प्रा० लि०
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : सन् १९६१ ई०

दस रुपये मात्र

मुद्रक
सीताराम गुरुठे
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

श्रद्धास्पद
सनेही जी
को
आदर सहित

यह संग्रह

जिस प्रकार भक्ति-काव्य के साहित्यिक सौष्ठव एवं रस का आस्वादन करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आस्वादक व्यक्ति भक्त हो ही उसी प्रकार रीतिकाव्य के कलात्मक सौन्दर्यदर्शन एवं रसबोध के लिए रूढ़िवादी अथवा दरबारी मनोवृत्ति अनिवार्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अपने ब्रजभाषा-काव्य-प्रेम को मैंने सदा एक मूल्यवान् वस्तु माना है और आधुनिक युग के संदर्भ में भी मेरे मन में उसके कारण कोई संकोच नहीं होता है, क्योंकि ब्रजभाषा-काव्य के प्रति मेरी दृष्टि शुद्ध सौन्दर्यपरक रही है। रूढ़िवाद और दरबारदारी से पृथक् रहकर केवल काव्य के कलात्मक सौन्दर्य के आधार पर भी उसे देखा जा सकता है और मेरे निकट एक साहित्यिक के लिए वही दृष्टि सबसे उचित भी है। यह सत्य है कि जिस वातावरण में वह काव्य लिखा गया वह ठेठ मध्यकालीन है और आधुनिक चेतना से उसकी बहुधा असंगति दिखायी देती है। परन्तु भावना और सौन्दर्य का आयाम ऐसा भी होता है, जहाँ कलाकृति समय की सीमाओं से ऊपर उठ जाती है और उसका आस्वादन बिना उस युग की सीमाओं में घिरे भी सम्भव होता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर रीतिकाव्य अब तक किये गए सारे आक्षेपों के बावजूद मुझे हिन्दी के गौरव को परिवर्धित करता हुआ ही प्रतीत होता है। प्रारम्भ की विस्तृत भूमिका में मैंने उसकी उपलब्धियों, सीमाओं तथा पूर्व-परम्परा का अपने ढंग से आकलन करने की चेष्टा की है। इस क्षेत्र में डॉ० नगेन्द्र आदि हिन्दी के विविध मान्य विद्वानों द्वारा जो अनुशीलन किया जा चुका है उससे मैंने यथेष्ट लाभ उठाया है और उनके प्रति अपना आभार प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है। रीतिकवि के परम्परा-अर्जित व्यक्तित्व एवं उसके सौन्दर्य-बोध की शास्त्रीय प्रकृति के प्रति जिज्ञासा रखने वालों को यदि मेरे इस अध्ययन से कुछ भी संतोष हो सकेगा तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक मानूँगा।

ब्रजभाषा-काव्य का संस्कार मेरे मन पर अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में और इतनी गहराई के साथ पड़ा कि उसने मुझमें न केवल ब्रजभाषा-काव्य का प्रेम उत्पन्न किया, वरन् मुझे ब्रजभाषा का कवि तक बना दिया। संकलित कवियों में ऐसे अनेक कवि हैं जिन्होंने मेरे कवि मन पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ा है

और उनके छंद मुझे अब भी बहुत प्रिय हैं। ब्रजभाषा-काव्य रीति-परम्परा तक ही सीमित नहीं है; भक्ति-काव्य में ब्रजभाषा का गौरव रीतिकाव्य से भी उच्चतर है और उसका अनुशीलन मैंने अपने शोध-प्रबन्ध 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। दोनों ग्रन्थ मिल कर मध्यकाल के ब्रजभाषा-काव्य के प्रति मेरी अपनी धारणा को प्रायः पूर्ण रूप में व्यक्त कर देते हैं और इसका मुझे संतोष है। यद्यपि इस विषय में अभी बहुत कुछ ऐसा है जिसे अधिक विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन के साथ व्यक्त करने की इच्छा मेरे मन में शेष है। प्रस्तुत संग्रह में 'रीति' को एक प्रवृत्ति के रूप में देखा गया है अतः 'काल' का बंधन छोड़ दिया गया है।

संकलन-भाग के अन्त में ब्रजभाषा के कुछ अप्रसिद्ध अथवा अल्पप्रसिद्ध कवियों के स्फुट रूप से प्राप्त प्रसिद्ध तथा मार्मिक छंदों की एक 'चयनिका' प्रस्तुत की जा रही है जो सहृदय पाठकों को रोचक प्रतीत होगी।

यह संग्रह कदापि पूरा न हो पाता, यदि इसके पीछे श्रद्धेय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का आदेश, डॉ० रामकुमार वर्मा का आशीर्वाद, पं० उमाशंकर शुक्ल एवं डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का अग्रज तुल्य आग्रह, डॉ० रघुवंश तथा डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का स्नेह-सद्भाव, 'बाबू' और केशव की उत्सुकतापूर्ण प्रेरणा, श्री विजयदेव नारायण साही के साथ हुई घंटों लंबी बहसें, भारती जी का व्यंग्य-विनोद और श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का मेरे आलस्य को पराभूत करने वाला धैर्य प्रारम्भ से ही न रहा होता।

काव्य-संकलन के लिए रीतिग्रंथों की उपलब्धि और पाण्डुलिपि प्रस्तुत करने में मुझे विभाग के अनन्य ब्रजभाषा प्रेमी छात्र श्री किशोरीलाल से विशेष सहयोग मिला है। नामानुक्रमणिका मेरे प्रिय शोध-छात्र श्री श्रीमन्नारायण द्विवेदी के श्रम का फल है। श्री सुदर्शन मिश्र एवं श्री श्रीराम वर्मा ने प्रूफ-संशोधन में सहायता दी है। श्री कन्हैयालाल नंदन की सत्याग्रहपूर्ण अभिलाषा तथा श्री लक्ष्मीधर मालवीय का देव के अनेक छंदों के पाठ-निश्चय में योग भी, यहाँ मेरे लिए अविस्मरणीय है। यह सभी छात्र मेरे स्नेह के पात्र हैं, अतएव उनके प्रति अन्य क्या भाव व्यक्त करूँ।

मोतीमहल
प्रयाग
२५-१२-६०

—जगदीश गुप्त

रीतिकाव्य-संग्रह

अनुक्रम

भूमिका पृ० सं०

काव्य-संकलन

रीतिकाव्य की पूर्व परम्परा

तथा

आधार-भूमि

पूर्व परम्परा

१. मध्य देश में राज-तन्त्र का विकास और राजाश्रित सभा-साहित्य की परम्परा का सूत्रपात

प्रकृति, परम्परा और प्रवृत्ति की दृष्टि से हिन्दी का रीति-काव्य उस राज-पथ का साहित्य है जिसका आरंभ सुदूर अतीत में सहस्रों वर्ष पूर्व इसी मध्यदेश में हुआ था। वर्तमान प्रजातान्त्रिक भारत में राज्यों के विलयन के साथ इस राज-पथ की प्रायः इति श्री हो गयी। राज-तन्त्र के उदय की अवस्था एक थी, विकास की दूसरी और ह्रास की तीसरी। हिन्दी का सम्पूर्ण रीति-कालीन साहित्य इसी तीसरे राजसी-सामंती ह्रासोन्मुखी युग की सृष्टि है। भारतीय साहित्य में यद्यपि अनेक लौकिक धार्मिक भाव-धाराएँ कभी प्रमुख कभी गौण रूप में मिलती हैं परन्तु सभा-साहित्य की जो धारा सामंती संस्कारों से युक्त प्रभूत वैभव-विलास के वातावरण में उत्पन्न हुई उसका स्वरूप अन्य धाराओं से आच्छन्न-प्रच्छन्न होता हुआ किसी न किसी प्रकार बराबर विकसित होता रहा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाएँ वह प्रदेश हैं जिनको पार करती हुई वह धारा उन्नीसवीं शती के अन्त तक अपने स्पष्ट व्यक्तित्व के साथ प्रवाहित होती रही। भाषा-रूपों का व्यवधान ऊपरी है, उनके भीतर से बह कर आने वाली प्रवृत्तियों और परम्पराओं का अपना स्वतन्त्र इतिहास होता है।

राजसत्ता से शासित समाज-व्यवस्था के विकास से पूर्व के जनपदीय आर्ष साहित्य और उसके बाद के सभा-साहित्य की प्रकृति और प्रवृत्ति में मौलिक अन्तर है जिसे उषा-सूक्त के किसी भी मन्त्र से वाणभट्ट की कादम्बरी के एक वाक्य की तुलना करके सहज ही पहचाना जा सकता है। वैदिक काल में राजन्य वर्ग पर ब्राह्मण वर्ग का अनेकमुखी प्रभुत्व था किन्तु कालान्तर में वह समाप्त हो गया और एक सर्वथा नये युग का विकास हुआ जिसमें राजन्य वर्ग ने प्रभुता-सम्पन्न होकर राजनैतिक शासन प्राप्त करने के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ग से धार्मिक-नैतिक क्षेत्रों का नेतृत्व भी हस्तगत कर लिया। राम-कृष्ण-जनक-महावीर-गौतम

के व्यक्तित्व इस नये युग के ज्योति स्तंभ थे। महाभारत के सर्वनाशकारी संघर्ष ने क्षत्रिय-शक्ति को कुंठित और जर्जर अवश्य बना दिया परन्तु उससे युग की गति नहीं बदली। ब्राह्मणों का क्षत्रियों के आश्रित होना एक प्रतीकात्मक तथ्य है जो इस सत्य को भी प्रकट करता है कि बहुत-सा शास्त्रप्रणयन और साहित्य-सृजन राजाश्रय में होने लगा। स्वतन्त्र-त्रेता ऋषि धीरे-धीरे राज-कृपा-कांक्षी सभा-पंडित या राजगुरु बन गये। राजकवि भी इन्हीं में से एक था। 'कवि' शब्द का वैदिक अर्थ काफी परिवर्तित और सीमित हो चुका था। उपनिषदों का 'कवि' राजाश्रित कवि से बहुत भिन्न था इसमें सन्देह नहीं।[1] मध्यदेश इस युग-परिवर्तन का प्रमुख केन्द्र बना[2]। केवल राजनैतिक सत्ता के कारण ही नहीं वरन् सांस्कृतिक समृद्धि के कारण भी मध्यदेश अन्य भारतीय प्रदेशों की दृष्टि में प्रेरक एवं विशेष महत्त्व-पूर्ण रहा है। जिन साहित्यिक रूपों का विकास इस भू-भाग में हुआ उन्होंने देश के अन्य भागों को बराबर प्रभावित किया, साथ ही यह भी हुआ कि इसे अन्य प्रदेशों के अनेक आचार्यों-कवियों-चिन्तकों ने अपने भावों और विचारों के प्रसार का मुख्य क्षेत्र बनाया। केन्द्रीय शासन-सत्ता के पाटनगर अधिकतर मध्यदेश या उसके समीपवर्ती भूभाग में ही स्थित रहे हैं। यही कारण है कि रीति-काव्य के

१—(i) हरिषेण की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के लिए 'कविराज' विशेषण का प्रयोग हुआ है।

(ii) The very existence of royal inscriptions written in Kavya-style, as well as the form, content and general outlook of Kavya literature itself, indicates its close connection with the courts of princes, and explains the association of Asvaghosa with Kaniska, of Kalidas with Vikramaditya or of Banabhatta with Harsavardhan. The royal recognition not only brought wealth and fame to the poets, but also some leisure for serious composition. —page 18-19

(iii) It is natural, therefore, that the poetry of this period pleases us more than it moves; for life is seldom envisaged in its infinite fervour, but it generally conceived in its playful moods of vivid enjoyment breaking forth into delicate little cameos of thought and fancy.
— S. K. De, History of Sanskrit Literature — page 20

२—लगभग ६०० पूर्व ई० तक जनपदों की स्वतन्त्र तथा पृथक् शासन प्रणाली मध्यदेश में चलती रही.... धीरे-धीरे राजनैतिक शक्ति जनता के हाथ से हट कर राजन्यवर्ग, विशेषतया राजा के हाथ में केन्द्रित हो गई।.... मध्यदेश की जनता का राजनैतिक पतन यहाँ से ही प्रारंभ होता है।
—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; मध्यदेश, पृ० ६७

रूप में राजाश्रित साहित्य की सुदीर्घ परम्परा तथा उसमें पनपने वाले संस्कृत के विशाल काव्य-शास्त्र का प्रधान उत्तराधिकार मध्यप्रदेश की आधुनिक आर्य-भाषा हिन्दी को प्राप्त हुआ। बँगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों में रीति-परम्परा का शृंखलाबद्ध साहित्य या तो रचा ही नहीं गया या अपवाद स्वरूप जो कुछ थोड़ा-बहुत रचा गया वह उस तरह प्रमुख नहीं हो सका जैसा हिन्दी में है। जिस काल में हिन्दी के कवि रीति-ग्रंथों की रचना कर रहे थे अन्य भाषाओं के कवि अधिकतर गीतिकाव्य रच रहे थे या आख्यान-काव्य। रीति-काव्य के सजग अध्येता के लिए इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। उपर्युक्त पृष्ठभूमि में यह तथ्य भी स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि जिस 'गाहासत्तसई' में रीतिकालीन हिन्दी कविता के बीजांकुर खोजे जाते हैं वह ई० पू० प्रथम शताब्दी के 'हाल' नामक उस प्राकृत-प्रिय व्यक्ति द्वारा संग्रहीत की गयी थी जो सातवाहन-वंश का एक शक्तिशाली राजा था और जिसका साम्राज्य मध्यदेश के आर-पार फैला हुआ था। राजाश्रय वस्तुतः रीतिकाव्य का मेरुदंड है क्योंकि वही कवियों के जीवन-यापन का आर्थिक आधार और यश-अभ्युदय की उपलब्धि का मुख्य कारक था। शास्त्रीयता, शृंगारिकता और अलंकरणप्रियता इत्यादि रीतिकाव्य की जो अन्य मुख्य विशेषताएँ हैं उनके स्वरूप को विकसित और नियोजित करने में भी राजाश्रय का महत्त्वपूर्ण योग रहा है।[१] प्रारंभ में राज-शक्ति का उदय युग की एक गहरी आवश्यकता के रूप में हुआ। उसमें दायित्व और सामर्थ्य की मात्रा विलास की अपेक्षा अधिक थी। क्रमशः यह राजसी वैभव-विलास एक चरम सीमा पर पहुँच गया जिसका आभास वाणभट्ट, राजशेखर और श्री हर्ष के काव्यों से मिलता है। कालान्तर में विदेशी आक्रमणों से पराभूत होते-होते राजशक्ति की केन्द्रीय सत्ता छिन्न-भिन्न हो गयी और भाषा-कवियों के लिए राजाश्रय मूलतः जर्जर होकर समस्त भारत के विशाल क्षेत्र में यत्र-तत्र बिखर गया।

इस बात का स्पष्ट बोध कराने के लिए कि हिन्दी रीतिकाल के आरम्भ

१—'But with regard to the age of the court poetry in general, we possess some valuable literary and epigraphical evidence, which proves that this type originated not later than about 200 B.C. and continued to be cultivated during succeeding centuries.' —The Imperial Gazetteer of India; The Indian Empire, Vol. II. —page 239.

होने से शताब्दियों पहले साहित्याचार्यों द्वारा राजाश्रय ग्रहण की जो परम्परा चल चुकी थी वह कितनी सुदृढ़ और देशव्यापी हो गयी थी, कुछ तथ्य संकलित करके नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

प्रथम शती ई० के कवि अश्वघोष कुषाण सम्राट कनिष्क की सभा के रत्न थे। पाँचवीं शती ई० में कालिदास का सम्बन्ध गुप्तवंशीय शासक चन्द्रगुप्त से रहा, यह बहुमान्य बात है। छठी और सातवीं शती के संधिकाल में स्थित वाणभट्ट भारत सम्राट् हर्ष के सभा कवि थे। उन्होंने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग हर्ष की राजधानी कन्नौज में बिताया। भारवि दाक्षिणात्य थे और कहा जाता है कि छठी शती ई० के लगभग कांची के किसी राजा के सभा पंडित थे।

भर्तृहरि (मृत्यु ६५१ ई०) उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के अग्रज (दासीपुत्र) बंधु थे। आठवीं शती में उद्भट और वामन दोनों काश्मीर-नरेश जयापीड के सभा-पंडित थे। कल्हण की राजतरंगिणी में तो वामन का मन्त्रिवर्ग में नामोल्लेख हुआ है। राजतरंगिणी से ही यह भी प्रमाणित होता है कि आनन्द-वर्धनाचार्य काश्मीराधिपति अवन्तिवर्मा की सभा को (नवीं शती) सुशोभित करते थे। आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में कन्नौज के शासक यशोवर्मन की राजसभा में भवभूति जैसे प्रतिभावान् महाकवि शोभायमान थे। और नवीं शती में राज-शेखर भी वहीं के राजा महेन्द्रपाल और महिपाल के विद्यागुरु एवं सभाकवि थे। **'आविष्कृतं मुञ्जमहीश गोष्ठी वैदग्ध भाजादशरूपमेतं'** के आधार पर अनुमान किया जाता है कि 'दशरूपक' के रचयिता धनंजय मुंज के सभा कवि थे। मुंज का राज्यकाल दसवीं शती ई० में माना जाता है। ११वीं शती में निर्धारित 'सरस्वतीकंठाभरण' और 'श्रृंगारप्रकाश' के प्रणेता भोजराज स्वयं धारा-नरेश थे। वे नवसाहसांक उपाधिधारी सिंधुराज के पुत्र थे। क्षेमेन्द्र का सम्बन्ध इसी शती के राजा अनन्तदेव से बताया जाता है। रुय्यक को 'राजानक' की उपाधि मिली थी। १२वीं शती में सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्र चालुक्य-नरेश सिद्धराज जयसिंह के सभा-पंडित तथा राजगुरु थे। उन्होंने आश्रयदाता के साथ अपना नाम मिलाकर अपने ग्रंथ को 'सिद्ध हेम' संज्ञा प्रदान की। कुमारपाल से भी उनका सम्बन्ध रहा। जय सिंह की स्तुति वाग्भट्ट के 'वाग्भटालंकार' में भी मिलती है जिसका रचनाकाल इसी शती में आता है। 'गीत गोबिन्द' के कवि जयदेव और 'आर्यासप्तशती' के निर्माता गोवर्धन पंडित इसी काल में बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की सभा के रत्न थे। १२वीं शती के उत्तरार्थ में पृथ्वीराज के आश्रित राजकवि चंद्रवरदायी हुए। १३वीं शती की रचना 'काव्यकल्पलता' के रचयिता और

वृत्तिकार अगरचन्द्र और अरिसिंह जैन राजमन्त्री वस्तुपाल के कृपा-भाजन थे। १३ वीं या १४वीं शती में विद्याधर ने उत्कल के राजा नरसिंह की प्रशंसा में 'एकावली' नामक ग्रंथ का निर्माण किया जिसमें चाटुकारिता का भाव भी आ गया था --

एष विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मित लक्षणम् ।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन् ॥

इसी एकावली में हरिहर नामक एक कवि का उल्लेख है जिसने अर्जुन नामक किसी राजा से असंख्य धन काव्य रच-रच कर उसके प्रतिदान में उपलब्ध किया था। लगभग इसी काल में विद्यानाथ ने काकतीयवंशी वारंगलनरेश के आश्रय में रह कर उन्हीं की प्रशंसा में 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक अलंकार ग्रंथ का निर्माण किया। उत्कलवासी 'महापात्र' उपाधिभूषित पंडित विश्वनाथ, जिन्होंने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्य दर्पण' की रचना की; १४वीं शती में कलिंगाधिपति के सांधिविग्रहिक थे। १५वीं शती के पूर्वार्ध में तिरहुत के राजा शिवसिंह के दरबार में विद्यापति वर्तमान थे। उन्होंने अपने अन्य आश्रयदाता कीर्तिसिंह की स्तुतिस्वरूप कीर्तिलता की रचना की। १६वीं शताब्दी में स्थित, 'अलंकारशेखर' के रचयिता केशव मिश्र राजा माणिक्यचन्द्र के आश्रित माने जाते हैं। १७वीं शती के अन्तर्गत अप्पय दीक्षित तंजौर के शासक शाहजी के सभापंडित थे। पंडितराज जगन्नाथ जो संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्तिम महत्त्वपूर्ण आचार्य कहे जाते हैं इसी शती में हुए। वे दारा के विद्यागुरु और शाहजहाँ के सभा-कवि थे। कुछ समय तक उन्होंने शाहजहाँ के दरबारी सरदार आसफ़ खाँ का भी आश्रय ग्रहण किया। १८वीं शती के आरम्भ में 'अलंकार कौस्तुभ' के सृष्टा विश्वेश्वर पंडित हुए और इसी शती में 'नञ्ज-राजयशोभूषण' ग्रंथ के लेखक नरसिंह कवि भी हुए जिनके आश्रयदाता नञ्जराज मैसूर राज्य के मंत्री थे। ऐसे ही और भी बहुत से नामों का उल्लेख किया जा सकता है।

इस प्रकार ईसवी सन् के आसपास से प्रारंभ होकर राजाश्रय की यह परम्परा सीधे रीति-काल के अंत तक चली आती है। हिन्दी रीतिकाव्य इसी सुदीर्घ परम्परा का परिविस्तार है। उसको राजपथ का काव्य कहने का आधार यही है।

२- कवि और शास्त्रकार के सम्मिलित व्यक्तित्व का उदय

कदाचित् राजाश्रय ने ही स्वतन्त्र व्यक्तित्वशाली आचार्य और कवि को एक हो जाने की प्रेरणा दी। कवि-शिक्षा सम्बन्धी विविध ग्रंथ इस बात के सूचक

हैं कि कविता को प्रायः शिक्षा-सापेक्ष माना जाता था। सभाओं के उच्चवर्गीय वातावरण में इसकी और भी आवश्यकता रही होगी। कवि और साहित्य-शास्त्राचार्य का सम्मिलित व्यक्तित्व राजसभाओं में अधिक गौरव की वस्तु समझा जाता होगा। राजशेखर ने तीन प्रकार के कवि माने हैं—शास्त्र कवि, काव्य कवि, उभय कवि और उन्होंने उभय कवि को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। सम्मिलन की यह प्रक्रिया भी रीतिकाल के आरंभ से बहुत पूर्व प्रारंभ हो गयी थी। डॉ० नगेन्द्र ने इसका सम्बन्ध प्राकृत अपभ्रंश से जोड़ा है।[1] हिन्दी रीति-काव्य में तो प्रत्येक आचार्य कवि है, भले ही प्रत्येक कवि आचार्य न हों क्योंकि इस समय तक शास्त्र-रचना न्यूनाधिक निर्जीव रूढ़ि का रूप धारण कर चुकी थी अतएव कवित्व-शक्ति का सहारा उसके टिके रहने के लिए प्रायः अनिवार्य हो गया था। गद्य का अभाव इसका मुख्य कारण नहीं माना जा सकता।[2] ब्रजभाषा के अनेक रीति-कवियों ने अपने ग्रंथों में गद्य का व्यवहार किया भी है। शुक्ल जी की यह धारणा अवश्य सत्य है कि 'इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्य के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचनाशक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ।[3] पर इस अशक्ति के कारण और भी थे जैसे रूढ़ि-पालन और पिष्टपेषण की वृत्ति, मौलिक चिंतन का अभाव तथा विषय का सतही ज्ञान इत्यादि। जैसा निर्देश किया जा चुका है, राजाश्रय की तरह इस एकीकरण की परम्परा भी काफी पुरानी है। निम्नलिखित तथ्य इसे प्रमाणित करते हैं—

काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यादर्श' के रचयिता दंडी ने उसमें समग्र उदाहरण स्वयं ही रच कर समाविष्ट किये हैं। दंडी का 'पदलालित्य', जो उनकी ख्यात विशेषता है, इन उदाहरणों में सर्वत्र मिलता है। 'अलंकारसारसंग्रह' की लघु-विवृति में प्रतिहारेन्दुराज के कथन 'अनेन ग्रन्थकृतास्वोपरचित कुमार-सम्भवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेन उपन्यस्तः' से प्रमाणित होता है कि उद्भट ने अपने ग्रंथ में स्वरचित उदाहरण दिये थे। लोचनकार आचार्यपाद अभिनवगुप्त ने

१—रीतिकाव्य की भूमिका; पृ० १४५

२—तात्पर्य इतना ही है कि संस्कृत के समान हिन्दी में आचार्यवर्ग अलग न हो सका और इसका मुख्य कारण गद्य-साहित्य का अभाव था। गंभीर विवेचन का मुख्य साधन गद्य ही है।

—ब्रजरत्नदास, पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ४४७

३—रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६०

वामन के 'आक्षेप' अलंकार के उदाहरणों को, जो वृत्ति में दिये गये हैं, वामन-कृत ही माना है। 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य कवि भी थे और उन्होंने 'देवीशतक,' 'विषमवाणलीला,' अर्जुनचरित आदि कई काव्यग्रंथों की रचना की। इसी प्रकार वाग्भट भी 'नेमिनिर्वाण' नामक काव्य के निर्माता कवि थे। 'चंद्रालोक' के प्रणेता पीयूषवर्ष जयदेव ही 'प्रसन्नराघव' नाटक के निर्माणकर्ता सिद्ध हुए हैं। 'चंद्रालोक' में लक्षण-उदाहरण एक ही छंद में दिये गये हैं अतः दोनों की रचना का श्रेय एक ही व्यक्ति को है। विद्याधर ने अपने ग्रंथ 'एकावली' में समस्त उदाहरण दंडी की तरह स्वयं रचकर प्रस्तुत किये हैं। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के रचयिता विद्यानाथ ने भी सब स्वरचित उदाहरण दिये हैं। यही नहीं अलंकार के प्रकरण में उन्होंने उदाहरण स्वरूप 'प्रतापकल्याण' नामक अपना पूरा नाटक सन्निविष्ट कर दिया। 'षोडशभाषावारविलासिनी भुजंग' पद से गौरवान्वित विश्वनाथ भी स्वयं कवि थे। संस्कृत में 'राघवविलास' नामक महाकाव्य और प्राकृत में 'कुवलयाश्वचरित' नामक काव्य उन्हीं के द्वारा प्रणीत हुए। रसमंजरी-कार भानुदत्त मैथिल कवि थे। 'गीतगौरीश' या 'गीतगौरीपति' शीर्षक से उन्होंने एक शिवपरक काव्य जयदेव के 'गीतगोविन्द' के आदर्श पर लिखा था। चैतन्य सम्प्रदायी रूपगोस्वामी कवि तथा शास्त्रकार दोनों ही थे। किन्तु इस परम्परा में सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं पंडितराज जगन्नाथ जिन्होंने गर्वोक्ति के साथ रसगंगाधर के समस्त उदाहरणों के स्वरचित होने की उद्घोषणा की है।[१] हिन्दी रीति कवियों को ऐसी गर्वोक्ति की आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि उन्होंने स्वाभाविक क्रम में कवि आचार्य के मिश्रित व्यक्तित्व को प्रायः एक साथ ही परम्परा से पाया था।

१—निर्माय नूतनमुदाहरणस्वरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥

—रसगंगाधर, पृ० ३

भावार्थ—मैंने अपने ग्रंथ में उदाहरणस्वरूप अपनी ही कविता रचकर रक्खी है। किसी दूसरे का रचा हुआ उसमें कुछ भी नहीं है। क्योंकि जिस मृग के पास कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति होती है वह फूलों की गंध सूँघने की बात नहीं सोचता।

३. ऐहिक शृंगार-भावना और अलंकृत मुक्तक-शैली

भौतिक सुख के त्याग और ऐन्द्रिक-मानसिक संयम के चरम आदर्श वाले इस आध्यात्मिक चेतना-प्रधान देश की कला और साहित्य में आमुष्मिकता की चिंता से हीन ऐहिक शृंगार भावना का जितना तीव्र आवेग विभिन्न युगों में लक्षित होता है वह किसी भी चिंतनशील अध्येता के लिए एक गहरी समस्या रहा है। भक्ति के प्रभाव से किसी अंश तक मुक्त होने पर भी हिन्दी रीतिकाव्य कुछ ऐसी ही समस्या प्रस्तुत करता है जिसके समाधान के लिए विद्वानों ने प्राकृत अपभ्रंश के लौकिक साहित्य से उसका सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में पर्याप्त मत-वैविध्य दिखायी देता है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने रीति-काव्य को काव्य-शास्त्र तक ही सीमित मानते हुए एक जगह लिखा है 'रीतिकाव्य की प्रेरणा हिन्दी को अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य से नहीं मिली।[१] फिर अन्यत्र उन्होंने लिखा कि 'हिन्दी रीति-परम्परा की एक क्षीण धारा अपभ्रंश काव्य में अवश्य ही रही होगी जिसका अभी पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सका[२] डॉ० नगेन्द्र ने 'रीति' के अतिरिक्त 'काव्य के भी यथोचित महत्त्व देते हुए प्राकृत और अपभ्रंश के प्रभाव को निर्भ्रान्ति रूप से स्वीकार किया है। प्रभाव ही नहीं उन्होंने उसे प्राकृत अपभ्रंश की परिपाटी का सीधा विकास माना है जो यथार्थ है।[३] उक्त विद्वानों ने ऐहिक शृंगार-भावना को मुख्य लक्ष्य बनाकर रीति-काव्य पर प्राकृत अपभ्रंश के प्रभाव के विषय में विचार व्यक्त नहीं किये। इस दिशा में

१—'रीतिकाव्य की प्रेरणा हिन्दी को अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य से नहीं मिली। उसमें इसकी कोई परम्परा नहीं। दो-एक ग्रंथ छंद, व्याकरण आदि पर अवश्य हैं जिनमें गौण रूप से किसी ग्रंथ के बीच में नायिका-भेद, शृंगार आदि का विवेचन है। परन्तु जिस प्रकार भक्ति और वीरगाथा वर्णन की धाराएँ पहले से आयी हैं वैसी धारा अपभ्रंश से रीतिकाव्य की नहीं आयी। उसकी प्रेरणा देने वाला संस्कृत साहित्य ही है।

—आलोचना, इतिहास-विशेषांक, पृ० ६४

२—हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० ४९

३—प्राकृत और अपभ्रंश का जो साहित्य आज प्राप्य है, उससे स्पष्ट पता लगता है कि उसमें भी यही पिछली परिपाटी चली जो आलोचना की अपेक्षा काव्य को अधिक महत्त्व देती थी। हिन्दी का रीति काव्य इसी का सीधा विकास है।

—रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १४५

सर्वप्रथम पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मौलिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने भारतीय आर्य भाषाओं में उपलब्ध ऐहिकतामूलक शृंगारिक काव्य को पश्चिमी आर्यों की प्रवृत्ति से प्रभावित माना और हिन्दी रीति-काव्य के ऐहिकतापरक शृंगारिक मुक्तकों की परम्परा का मूल ईसवी सन् के आसपास रचे गये प्राकृत भाषा के साहित्य में निहित बताया।[1] प्राकृत की 'ऐहिकतामूलक सरस मुक्तक कविता' का सबसे प्राचीन संग्रह 'हाल' की 'सत्तसई' (गाथा सप्तशती) है। जैसा द्विवेदी जी ने स्वयं स्पष्टीकरण कर दिया है, हाल की सतसई को 'लोकसाहित्य' मानना भ्रामक है। आभिजात्य संस्कारों से आविष्ट वह संस्कृत की-सी भावगत और भाषागत सतर्कता से मुक्त हैं। लोक साहित्य से उसमें संग्रहीत पद्यों के कवि अनुप्रेरित रहे हों इसकी संभावना अवश्य है। यह लोक साहित्य आभीर जाति का रहा होगा ऐसा अनुमान किया गया है। संस्कृत में भी ऐहिकता की प्रवृत्ति से युक्त रचनाओं का मूल कारण 'आभीरों का संसर्ग' से उत्पन्न घोषित करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि 'पहले प्राकृत में फिर अपभ्रंश में ऐहिकतापरक फुटकल पद्यों का प्रचार हुआ। हिन्दी में यह धारा जिस रूप में प्रकट हुई वह मूल अपभ्रंश-धारा से बहुत कुछ भिन्न हो गयी थी।[2]

पंडितजी के विचारों से यह ध्वनि निकलती है कि ऐहिकतामूलक काव्य और फुटकल पद्यों का प्रचार एक साथ हुआ। वस्तुतः यह ठीक नहीं है। सही स्थिति ऐसी प्रतीत होती है जैसे मुक्तक पद्यों और ऐहिक शृंगारिक रचनाओं दोनों की अपनी-अपनी स्वतन्त्रता परम्पराएँ थीं जो बाद में संयुक्त हो गयीं। पतंजलि के महाभाष्य में कुक्कुट के शब्द से शंकित रतिप्रीता स्त्री के मनोभाव को व्यक्त करनेवाला एक श्लोक उद्धृत मिलता है। इससे भी पूर्व ऐतरेय ब्राह्मण और शाखायन श्रौतसूत्र में जहाँ हरिश्चन्द्र और रोहिताश्व की कथा है वहाँ कई नीतिपरक श्लोक दिये हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी ऐसे ही कुछ स्फुट पद्य मिलते हैं। मुक्तकों की स्वतन्त्र धारा का आभास इन प्रमाणों से हो जाता है। कालान्तर

१—सन् ईसवी के बाद एक तीसरी वस्तु का अचानक आविर्भाव होता है। यह अध्यात्मवादी या मोक्षकामी रचनाएँ भी नहीं हैं और कर्मकाण्डवादी या स्वर्ग-कामी भी नहीं है। इनमें ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है।... आरम्भ में ऐसी रचनाएँ प्राकृत भाषा में लिखी गयीं फिर संस्कृत में भी लिखी जाने लगीं।

—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ०

२—हिन्दी साहित्य की भूमिका पृष्ट....

में सप्तशतियों, शतकों, अष्टकों, और स्तोत्रों एवं स्फुट सूक्तियों के रूप में मुक्तक काव्य की अपनी परम्परा चलती रही। प्राकृत अपभ्रंश के काव्य में यह अधिकतर ऐहिक शृंगारिक भावना से संयुक्त होकर विकसित हुई जिसका प्रमाण 'गाहा-सत्तसई' और 'वज्जालग्ग' नामक प्राकृत काव्य-ग्रंथों तथा प्राकृत-अपभ्रंश के अनेक उदाहृत पद्यों में मिलता है।[1] डॉ० रामसिंह तोमर ने अपने शोध-प्रबंध 'प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' में इस विषय पर विशेष विचार किया है। उनके अनुसार 'यह मुक्तक छंद संख्या में अधिक नहीं है पर शृंगार, प्रेम, वैराग्य, नीति, सूक्ति आदि की विविधता एवं आलंकारिक छटा से आपूर्ण है। मुक्तकों की यही धारा रीति-काल तक आई और आध्यात्मिक स्वर मंद हो जाने पर शृंगारपूर्ण रह गयी।' वस्तुस्थिति का यह अधिक स्पष्ट एवं विवेकपूर्ण विश्लेषण है।

दूसरी ओर ऐहिकतापरक शृंगारिक साहित्य भी मुक्तकों तक ही सीमित नहीं है। कथा-ग्रंथों, गीतिकाव्यों, आख्यानों तथा अन्य अनेक काव्य-रूपों तक उसकी व्याप्ति मिलती है। अवश्य ही यह प्रभाव किसी-न-किसी लौकिक-स्रोत से आया और साहित्य और कला के विविध रूपों में घुलमिल गया।

हिन्दी रीति-काव्य की ऐहिक शृंगार-भावना के आदि स्रोत के रूप में जिस 'गाहासत्तसई' की चर्चा ऊपर की गयी है वह किसी एक कवि की कृति न होकर अनेक कवियों की रची गाथाओं का संकलन है। उसका संग्रह-सम्पादन 'हाल'

१—'आनन्दवर्धन' (९०० ई०) के ध्वन्यालोक में उद्धृत ४५ प्राकृत-छंद, भोज (११वीं शती ई०) के सरस्वती 'कण्ठाभरण' के ३५० छंद तथा हेमचंद्र (११४५-१२२९ ई०) के 'काव्यानुशासन' एवं उसकी वृत्ति के ८० छंद प्रधान हैं। इसी प्रकार 'दशरूपक', 'काव्यालंकार', 'साहित्यदर्पण' तथा 'रसगंगाधर' आदि में भी बहुत-से प्राकृत के छंद मिलते हैं। ....
कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक के अपभ्रंश पद्य, जिनमें प्रकृति-वर्णन आदि बड़े सुन्दर और सजीव हैं। चंड के 'प्राकृत लक्षण' के दो दोहे, आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में प्राप्त एक दोहा, भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के १८ अपभ्रंश पद्य। हेमचंद्र के अपभ्रंश व्याकरण में उद्धृत नीति, शृंगार, प्रेम तथा नायक-नायिकाओं के रूप वर्णन आदि अनेक विषयों के छंद, 'प्राकृतपैंगल' के कुछ पद्य तथा 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' में प्राप्त छंद देखे जा सकते हैं।

—आलोचना, अंक ८, पृ० ५९, ६१

नामक सातवाहन राजा के हाथों हुआ। कहते हैं कि उसके सात सौ पद्य एक करोड़ पद्यों से चुने गये थे। निश्चय ही इतना चयनक्षेत्र 'बिहारीसतसई' के कवि को नहीं मिला होगा क्योंकि वह एक व्यक्ति की रचना है। गाहासत्तसई में कुल ११२ कवियों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। संग्रहकर्ता की रची गाथाएँ केवल एक तिहाई के लगभग हैं और उनकी रचना सिंहल कुमारी 'लीलावती' के विरह में हुई थी ऐसा माना जाता है। इस सत्तसई की मुक्तक गाथाएँ 'ध्वन्यालोक' 'काव्यप्रकाश' आदि संस्कृत के अनेक काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में उद्धृत की जाती रहीं साथ ही रुद्रट, वाग्भट, विश्वनाथ, गोवर्धनाचार्य, वाणभट्ट और राजशेखर आदि बहुसंख्यक काव्याचार्यों द्वारा प्रशंसित भी होती रहीं। गोवर्धनाचार्य की उक्ति 'वाणी प्राकृत समुचित रसा बलेनैव संस्कृतं नीता' से संभवतः हाल की सत्तसई की ओर ही इंगित किया गया है। 'हाल' का 'कविवत्सल' उपनाम सर्वथा सार्थक प्रतीत होता है। नीचे इस ग्रंथ से तीन गाथाएँ साथ उद्धृत की जा रही हैं, जिनमें पहली कृष्ण-गोपियों के मुक्त रूपाकर्षण को व्यक्त करती है, दूसरी शुक्लाभिसारिका का रमणीय चित्र प्रस्तुत करती है और तीसरी अपने उक्ति-चमत्कार में अप्रतिम है। तीनों रीति-कालीन काव्य की प्रकृति से गहरा सामंजस्य रखती हैं।

१. णच्चण सलाहण णिहेण पास परिसंठिया णिउण गोवी।
सरिस गोविआणं चुम्बइ कबोलपडिमागअं कह्णम् ॥ २,१४॥

अर्थ—नाच की सराहना करने के बहाने पास ठहरी हुई कोई चतुर गोपी, गोपिकाओं के एक जैसे कपोलों में प्रतिबिम्बित कृष्ण को चूमने लगी।

२. गम्मिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुरअ वड्ढअ मिअंको।
दुद्धे दुद्ध मिअ चंदिआइ को पेच्छइं मुहं दे ॥ ७, ७॥

अर्थ—हे सुन्दरि! तुम उसके पास जा रही हो पर जल्दी मत करो, अभी चांद बढ़ रहा है। जैसे दूध में दूध नहीं दिखाई देता वैसे चाँदनी में तेरा मुखड़ा कौन देख पायेगा।

३. धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रंजिअं हिअअम्।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ॥७, ६५॥

अर्थ—हे सुन्दर! तुम गोरे हो तो भी तुमने मेरा हृदय अनुराग से रँग दिया है किन्तु मेरा हृदय अनुराग से भरा होने पर भी उसमें निवास करने वाले तुम उससे रँगे नहीं जा सके।

इन पद्यों में बाह्य अलंकरण कवि का लक्ष्य नहीं है केवल आन्तरिक भाव

सौन्दर्य और उक्ति की भंगिमा ही अभिप्रेत है। रीतिकालीन मुक्तकों में दोनों ही तत्व प्रधान हो गये। यह प्रवृत्ति प्राकृत मुक्तकों में ही आ गयी थी।

'वज्जालग्ग' में, जो 'गाहासत्तसई' की तरह ही विविध कवियों की ७९४ गाथाओं का जयवल्लभसूरि (श्वेताम्बरमुनि) द्वारा किया हुआ एक संग्रह है, इसके लक्षण मिलने लगते हैं। निम्न गाथा प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—

कह सा न संभलिज्जइ जा सा नीसास सोसिय सरीरा।
आसासिज्जइ सा सा जाव न सा सा समप्पन्ति ॥४०२॥

अर्थ—उसका स्मरण कैसे न आये जिसका शरीर निश्वासों के ताप से सूख गया है। जब तक उसके श्वास समाप्त नहीं हो जाते तब तक उसे आश्वासन तो देना ही चाहिए।

यहाँ मूल भाव-वस्तु को यमक और अनुप्रास की टेक के सहारे व्यक्त किया गया है। इसी ग्रंथ में कविता का आदर्श बताने वाली एक अन्य गाथा में इसकी स्पष्ट स्वीकृति मिलती है।

सद्दपलोट्टं दोसेहि वज्जिअं सुललियं फुडं महुरम्।
पुणेहि कहवि पावइ छंदे कव्वं कलत्तं च ॥२४॥

अर्थ—शब्द-सम्पन्न, दोष-वर्जित, सुललित, स्फुट एवं मधुर छंदमय कविता तथा स्त्री किसी बड़े पुण्य से प्राप्त होती है।

बाद में अन्तर्बाह्य दोनों को अलंकृत करने की प्रवृत्ति मुक्तक-कारों में बहुत अधिक बढ़ गयी। संस्कृत के श्रृंगारिक मुक्तक प्रायः इसी प्रवृत्ति को व्यक्त करते हैं। गोवर्धनाचार्य और उनके अनुकरणकर्ता विश्वेश्वर दोनों की 'आर्यासप्तशती', नामक रचनाओं, जयदेव के 'गीतगोविन्द', लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत' भर्तृहरि कृत 'श्रृंगारशतक' तथा अमरु कृत 'अमरुशतक' के मुक्तकों की पंक्ति-पंक्ति दोहरी तेहरी चौहरी शब्द-संगति वाले अनुप्रासों से बिहारी की नायिका की तरह अलंकृत मिलती है। शब्दालंकृति की यह वाग्वैचित्र्यपूर्ण शैली श्रृंगारेतर मुक्तकों, सुभाषितों तथा स्तोत्रों तक व्याप्त हो गयी और १८वीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर विकसित होती चली आयी। कामराज दीक्षित की 'श्रृंगार-कालिका-त्रिशती' और विश्वेश्वर का 'रोमावली शतक' इसके प्रमाण हैं। पंडितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' और 'गंगालहरी' के भावमय पद्य शब्द-कौशल और अनुप्रास-चमत्कार से पूरी तरह परिव्याप्त हैं। हिन्दी रीति-कवियों ने इस

शैली को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया और अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा से यथाशक्ति सम्वर्धित भी किया।

अपने ढंग से अपभ्रंश में भी अलंकृत शैली का समावेश हुआ। कुछ ऐसे अपभ्रंश छंदों का परिचय हेमचन्द्र के 'छंदोनुशासन' ग्रंथ से प्राप्त होता है जिनमें आन्तर-प्रास अनिवार्य रूप से प्रयुक्त होता था। यह छंद प्रगीत मुक्तकों तथा 'फागु' नामक अन्य गेय रचनाओं में व्यवहृत हुए हैं। अपभ्रंश की इन रचनाओं की प्रकृति भी वैसी ही ऐहिक शृंगारिक है जैसी पूर्वोल्लिखित प्राकृत काव्य की।

राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा' में ८वीं से १३वीं शती तक के अपभ्रंश कवियों की रचनाओं का समावेश किया है। १४वीं-१५वीं शती की प्रामाणिक अपभ्रंश रचनाएँ हिन्दी-क्षेत्र से अभी उपलब्ध नहीं हुई हैं जिनसे ब्रजभाषा-रीति-काव्य के अलंकृत शृंगारिक मुक्तकों को सीधे सम्बद्ध कर दिया जा सके और व्यवधान पूरा हो जाय। गुजराती में अवश्य इन शताब्दियों की ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जो प्रकृति से हिन्दी रीतिकाव्य के समीप दिखायी देती हैं। गुजराती काव्य की परम्परा में वे नहीं खप पाती हैं यह कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के निम्न कथन से स्पष्ट है।

'गुजराती भाषा माँ शब्दालंकार वाला काव्यो अतीव विरल होवा थी तेमज आ काव्य रस भर्युं होवा थी वाचनार ने असाधारण लागे छे।'[1]

मुंशी जी ने अपनी यह धारणा 'वसंतविलास' नामक काव्य के सम्बन्ध में व्यक्त की है जो १५वीं शती की गुजराती अपभ्रंश रचना है। इसी शती का एक अन्य कृष्ण विषयक काव्य 'फागु' मिलता है। दोनों रचनाएँ ऐहिकतापरक शृंगारिक अलंकृत शैली की हैं और सरस्वती वंदना से प्रारंभ होती हैं। पहली का विषय वसंत है और उद्देश्य केवल उद्दीपन विभाग का वर्णन तथा विलासपूर्ण चेष्टाओं का प्रदर्शन है। परन्तु दूसरी में इन्हीं सब गुणों से युक्त द्वारकावासी कृष्ण की रास-क्रीड़ा वर्णित है। कवि ने द्वारका में ही रास की विचित्र कल्पना कर ली है। वसंत-विलास के कवि का दृष्टिकोण आमुष्मिकता की चिंता से सर्वथा मुक्त है जबकि 'फागु' का कवि फलश्रुति में कृष्ण के प्रति भक्तिमूलक आदरभाव

१—फार्बस गुजराती सभा—त्रैमासिक, पृ० ४२९
पुस्तक १ लुं, ई० १९३७ जनवरी-मार्च, अंक चार
अर्थ—गुजराती भाषा में शब्दालंकार वाले काव्य अतीव विरल होने के कारण उनमें यह रसपूर्ण काव्य पाठक को असाधारण लगता है।

भी प्रदर्शित करता है। नीचे दोनों से क्रमशः एक-एक पद्य उद्धृत किया जाता है—

नमण न करहि पयोधर, योध रे सुरति-संग्रामि ।
कुंचकु तिजहिं सनाहु रे, नाहु महाभट पामि ।।२५।।
थण भरि नमती तरूणी करूणी वरूणी चरण संचारिरे ।
चालइ चमकत झमकत नेउर केउर कटक विशाल रे ।।

१५वीं शती की ही 'मयणछंद' नामक एक अन्य रचना का विषय भी राधा-कृष्ण का मान विरह मिलन रमण आदि हैं। छप्पय छंद में रचयिता मयण वंभ या मदन ब्राह्मण ने श्यामा-श्याम का ऐहिक शृंगार आवेगपूर्ण शब्दावली में वर्णित किया है। निम्नलिखित पंक्तियों की चेतना बहुत कुछ वही है जो हिन्दी रीतिकाव्य में व्यक्त हुई है।

वाजंति हीर रह-रह भमइ सुभट सुरत अति उद्धसिउ ।
संग्राम किद्ध कांमा वसिइ मयण वंभ तव मन हसिउ ।।२३।।

उपचार अवर सीतल जि के विसहीअर विरह कारणि कुणइ ।
सारंग स्वामि श्रीरंग विण तिम-तिम सा नहि नहि भणइ ।।

शौरसेनी अपभ्रंश में जब तक इस प्रकार की १४वीं १५वीं शती की प्राचीन प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं तब तक रीतिकाव्य को सीधे-सीधे अपभ्रंश से सम्बद्ध कर देना कठिन है परन्तु इतना निश्चित है कि किसी न किसी प्रकार ऐहिक विलास की मुक्त स्वीकृति से मुक्त शृंगार की भावना है इसी परम्परा की अनुवर्तिनी। काव्य-शास्त्र सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों में जो प्राकृत पद्य उद्धृत हैं उनसे रीतिकवियों का प्रत्यक्ष परिचय इसलिए सिद्ध है कि उनमें से अनेक का उपयोग रीतिकवियों द्वारा हुआ, यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है साथ ही प्राकृत से प्रभावित संस्कृत के शृंगारिक मुक्तकों द्वारा प्रच्छन्न रूप से भी यह प्रभाव रीतिकाव्य में आया, इसको स्वीकार करने में भी कोई कठिनाई नहीं दिखायी देती। रीतिकाव्य पर प्राकृत अपभ्रंश का ऐहिक काव्य परम्परा के प्रभाव से सर्वथा इनकार करना सचमुच साहस का कार्य कहा जायेगा।

नामकरण

'रीति' शब्द को लक्षण-लक्ष्य-काव्य के व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए शुक्ल जी ने अपने इतिहास में पहली बार उत्तर मध्यकाल (सं० १७००-१९००) को 'रीतिकाल' नाम दिया साथ ही रस के विचार से 'शृंगारकाल' शब्द का

औचित्य भी स्वीकार किया।[1] शुक्ल जी से पूर्व मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में इसे 'अलंकृत काल' कहा है। डॉ० रसाल के मत से यद्यपि रीतिकाल शब्द नामकरण के लिए उपयुक्त है तथापि 'इस काल को काव्यकला की संज्ञा देना अधिक समीचीन है क्योंकि साहित्यिक सौष्ठव के साथ काव्यकला को उत्कृष्ट रूप में विशद विकास इसी काल में प्राप्त हुआ'।[2] डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन' के पंचम प्रकरण में कदाचित् ऐसे ही विचार से 'रीतिकाल' के स्थान पर इस काल का सामान्य नाम 'कलाकाल' निर्धारित किया किन्तु जहाँ कवियों का विवरण दिया गया है वहाँ उन्हें 'रीतिकवि' ही कहा गया है। नामकरण के इन विभिन्न प्रयत्नों के बाद भी 'रीतिकाल' नाम ही सर्वाधिक प्रचलित हुआ, यह निर्विवाद है। इसका प्रमुख श्रेय शुक्ल जी को ही है, यों उनसे पूर्व मिश्रबंधुओं ने 'लक्षण ग्रंथ' के अर्थ में रीति-ग्रंथ का व्यवहार करके रीति शब्द को स्पष्टतः इस सीमा तक पहुँचा दिया था कि सहज ही उसके आधार पर काल-विशेष का नामकरण हो सकता था।[3] डॉ० नगेन्द्र ने इस तथ्य को लक्षित करते हुए शुक्ल जी द्वारा 'रीति' शब्द के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किये जाने की यथोचित सराहना की है।[4]

'रीतिकाल' नाम ही क्यों प्रचलित हुआ तथा यत्नपूर्वक दिये गये अन्य नाम क्यों पीछे छूट गये इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है। इस प्रसंग में डॉ० सत्येन्द्र का कथन कि 'यह काल रीतिकाल कहा जायगा, ऐसा ज्ञान इस युग के रचयिता कवियों को नहीं था।'[5] यथार्थ प्रतीत होता है यद्यपि यह सत्य है कि शास्त्रीयता से मुक्त काव्य-परिपाटी के अर्थ में 'रीति' शब्द इस काल के देव, दास इत्यादि अनेक कवियों द्वारा प्रयुक्त हुआ है। 'रीतिशब्दो मार्ग पर्यायः' के अनुसार 'रीति' का धात्वर्थ भी यही माना गया है। 'रीङ' धातु पंथ, प्रणाली आदि की

१—इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६८

२—भारत, १९५३, सितम्बर २२ तथा २६

३—केशवदास भाषा-कविता के अरुणोदय काल में हुए हैं अतः इन्होंने एक रीति-ग्रन्थ भी बनाया है। अब 'रीति-ग्रन्थ बनाने की भी परिपाटी-सी चल पड़ी है।
—हिन्दी नवरत्न, पृ० २९२

४—रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० १४४

५—पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ३९९

ही बोधक है और उसी से 'रीति' शब्द की सिद्धि होती है। रीतिकालीन कवियों को 'रीतिकाल' जैसी अभिधा का ज्ञान नहीं था, जहाँ यह सत्य है वहाँ यह भी सत्य है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में वामन के द्वारा जिस अर्थ में 'रीति' शब्द प्रयुक्त हुआ और वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि रीतियों की चर्चा की गयी उससे सर्वथा भिन्न अर्थ में रीति कवियों द्वारा इसका प्रयोग किया गया और वही काव्यरीति 'रीति-ग्रंथ' या 'रीति-काव्य' जैसे शब्दों के निर्माण में सहायक हुआ। 'रीतिकाल' इसी क्रम से बना हुआ शब्द है। उसका मूल स्रोत 'काव्य की रीति सिखै सुकवीनि सौं' जैसे प्रयोगों में निहित है। 'रीति' शब्द के इस प्रकार के प्रयोगों में कदाचित् प्राचीनतम प्रयोग तुलसीदास के 'पार्वती मंगल' में मिलता है (सं० १६४३) 'कवित रीति नहिं जानउँ कवि न कहावउँ।' ऐसे प्रयोग रीति-काल में कितने व्यापक थे इसका प्रमाण देने के लिए मैं किसी प्रख्यात कवि की पंक्ति उदाहरण स्वरूप न प्रस्तुत करके घनानन्द की प्रेयसी सुजान के नाम से प्रचलित छंद का एक चरण उद्धृत करूँगा।

चित्र हू आप लिखै समुझै कवितान की रीति मैं वार तें पारै।[1]

कवयित्री के रूप में सुजान की कोई ख्याति नहीं रही है अतएव उपर्युक्त प्रमाण से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत अर्थ में रीति शब्द का प्रयोग उसी युग में पर्याप्त व्यापकता प्राप्त कर चुका था। वास्तव में 'रीति-काव्य' का मौलिक आधार 'कवि-शिक्षा' है जिसका प्रचार मध्यदेश में रीतिकाल के प्रारंभ होने से शताब्दियों पूर्व हो चुका था। काव्यमीमांसा से इसका स्पष्ट आभास मिलता है। 'काव्य की रीति सिखै' तथा 'सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन' में दास और ठाकुर ने काव्य-रीति सीखने की जो बात कही है उसके पीछे कवि-शिक्षा की परम्परा ही ध्वनित होती है। लक्षण-उदाहरण से युक्त बहुसंख्यक रीतिग्रंथों के निर्माण में आचार्यत्व-प्रदर्शन मूल प्रेरक-भाव था या कविशिक्षा इस प्रश्न की ओर रीति-काव्य के विशेषज्ञों की दृष्टि कदाचित् ठीक से नहीं गयी है। वास्तव में दोनों ही भाव प्रेरक थे किन्तु कविशिक्षा का भाव आ जाने से आचार्यत्व-प्रदर्शन का भाव अंशत गौण होने लगा था। हिन्दी में संस्कृत की तरह मौलिक प्रतिभा सम्पन्न आचार्य क्यों नहीं उत्पन्न हुए उसका एक कारण संभवत: यह भी है। इसका स्पष्ट प्रमाण केशव की कविप्रिया में ही मिल जाता है।[2]

१—घनआनंद और आनन्दघन, वाङ्मुख, पृ० ८

२—समुझै बाला बालकहु वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥१॥

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीति शब्द का परम्परानुमोदित विशिष्ट अर्थ, जो रीतिकवियों को भी ज्ञात था और बाद में भी प्रचलित रहा, 'रीतिकाल' शब्द के निर्माण, औचित्य, प्रसार का प्रमुख कारण है। 'रीति' शब्द हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल की उस प्रेरक एवं व्यापक प्रवृत्ति को व्यक्त करता है जिसके भीतर कला-कौशल तथा शृंगारप्रियता आदि सबका किसी-न-किसी प्रकार अन्तर्भाव हो जाता है और अन्ततः उनकी तुलना में वही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है। कला-काल कहने से कवियों की 'रसिकता' की उपेक्षा होती है, शृंगार-काल कहने से वीररस और राजप्रशंसा की। 'रीतिकाल' कहने से प्रायः कोई भी महत्त्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है। 'यह युग रीतिपद्धति का ही युग था।' यह धारणा वास्तविक रूप से सही है।[1]

रीतिकाल के आदि प्रवर्तक केशव या चिन्तामणि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जहाँ रीतिकाल का मौलिक रूप से नामकरण, स्वरूप-निर्धारण आदि किया वहीं उन्होंने यह भी निर्धारित करने की चेष्टा की कि हिन्दी में रीति-ग्रंथों का वास्तविक आरंभकर्त्ता कौन कवि है। इस प्रसंग में उन्होंने केशव से चिंतामणि को अधिक महत्ता दे दी जो उचित नहीं है। उन्होंने केशव को रीतिकाल का प्रवर्तक मानने से इसलिए इन्कार किया कि 'केशव के उपरान्त तत्काल रीतिग्रंथों की परम्परा नहीं चली।[2] आगे इसी आधार पर चिंतामणि को उसका आरम्भकर्ता बताते हुए लिखा है कि—

हिन्दी रीतिग्रन्थों की अखंड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।[3]

शुक्ल जी के इस कथन में कवि-व्यक्तित्व की अपेक्षा उपलब्ध ग्रंथों के काल-क्रम की अखंडता को अधिक महत्ता दे दी गयी है तथा काव्य-प्रकृति को सर्वथा उपेक्षित कर दिया गया है। यही उनकी उक्त स्थापना का अनौचित्य है, जिसका प्रतिवाद कदाचित् शुक्ल जी के समय से ही आरम्भ हो गया था। अपने 'हिन्दी साहित्य' में श्री श्यामसुन्दरदास ने केशव के व्यक्तित्व की विशेषताओं का परिचय देते हुए अंत में उन्हें 'हिन्दी में रीति-ग्रंथों की परम्परा के आचार्य'

१—डा० भगीरथ मिश्र, 'रीतिकाव्य' शीर्षक लेख आलोचना, इतिहास विशेषांक, पृ० ६८

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २५९

३—वही।

की उपाधि दी है । इसी प्रकार डॉ० 'रसाल' ने रीतिकाल के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि 'यह' अवश्यमेव मान्य है कि इस काल के प्रवर्तक वस्तुत: केशव ही थे । रसालजी के निर्देशन में हिन्दी छंदों पर शोध कार्य करने वाले श्री जानकीनाथ सिंह 'मनोज' ने भी शुक्ल जी की चिंतामणि विषयक स्थापना को तर्कसंगत नहीं माना ।[१] इस प्रसंग में सबसे अधिक उल्लेखनीय एवं तीव्र प्रतिवाद डॉ० नगेन्द्र का है क्योंकि उन्होंने अत्यन्त निर्भीकता से वास्तविक स्थिति को 'केशवदास का आचार्यत्व' शीर्षक से 'अवन्तिका' के काव्यालोचनांक में प्रकाशित अपने लेख में कर दिया है—

'उनको हिन्दी काव्य-शास्त्र के प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है । हिन्दी के उस व्यापक काव्य-युग के प्रवर्तन का श्रेय न केशव के किसी पूर्ववर्ती रीति-कवि को दिया जा सकता है न परवर्ती को । कृपाराम का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है और व्यक्तित्व अत्यन्त साधारण । **चिन्तामणि को भी यह गौरव देना अन्याय है**, क्योंकि यह केवल एक संयोग था कि उनके उपरांत रीतिकाव्य की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो चली । हिन्दी के परवर्ती कवियों ने—देव, दास आदि सभी धुरंधर कवियों ने—केशव को ही आचार्य रूप में श्रद्धांजलि दी है । चिंतामणि का नाम तक भी किसी ने नहीं लिया ।' —पृ० १६३

चिंतामणि का नाम तो दास आदि ने लिया है पर तथ्य रूप में डॉ० नगेन्द्रजी ने जो कुछ प्रतिपादित किया है वह सही और तर्कपूर्ण है । वास्तव में व्यक्तित्व और प्रभाव की दृष्टि से चिंतामणि की केशव से कोई तुलना नहीं की जा सकती । क्रम की आकस्मिक स्थिति के कारण ही उन्हें इतना बड़ा श्रेय दे डालना सचमुच ही अनुचित है ।

हिन्दी काव्य-शास्त्र के एक अन्य मान्य विद्वान डॉ० भगीरथ मिश्र की धारणा का अध्ययन इस सम्बन्ध में काफी रोचक है क्योंकि शुक्ल जी और डॉ० नगेन्द्र के परस्पर विरोधी मतों के बीच उनको अपना मत स्थिर करने में पर्याप्त कठिनाई हुई ऐसा प्रतीत होता है । अपने काव्यशास्त्र के इतिहास में एक ओर तो वे केशव-

1—'The first writer on Hindi Prosody is Chintamani Tripathi. It is from this poet that unbroken chain of Riti-granthas runs for more than one century. He is, therefore, regarded as the pioneer of Ritikal period, although this view as is the opinion of some scholars does not seem so reasonable.'
The contribution of Hindi Poets to Prosody

—अप्रकाशित शोध-ग्रंथ, पृ० ३२

दास के विषय में लिखते हैं कि 'यथार्थतः सबसे पहले और महत्वपूर्ण आचार्य केशवदास ही हैं।...वे सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र पर लिखा।'[१] दूसरी ओर रीतिकाल का आरम्भ चिंतामणि से ही मानना उचित बताते हैं। अपने इस मत की पुष्टि वे इस प्रकार करते हैं—

'पद्धति और प्रणाली की दृष्टि से भी केशव की चलाई परम्परा आगे न बढ़ पायी, और चिंतामणि के बाद ही उन्हीं की पद्धति पर आगे के कवियों ने लिखा। अतः रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का ही नहीं वरन रीति परंपरा का प्रारंभ चिंतामणि से ही मानना अधिक उपयुक्त है।'[२]

कहना न होगा कि चिंतामणि की प्रशंसा एवं ऐतिहासिक मूल्यांकन में मिश्र जी शुक्ल जी से कहीं आगे निकल गये हैं। शुक्ल जी ने तो रीतिकाल का आरम्भ ही चिंतामणि से माना पर मिश्र जी रीति-परम्परा के आरम्भ का श्रेय भी उन्हीं को प्रदान करते हैं। क्यों न हो जब इसके लिए भी ढूँढने से तर्क मिल जायँ। चिंतामणि की इस अभूतपूर्व प्रशस्ति के दो कारण दिये गये हैं। प्रथम यह कि 'चिंतामणि की पद्धति का प्रभाव आगे के कवियों पर भी पड़ा।'[३] और द्वितीय यह कि 'लक्षणकारों में से चिंतामणि से बढ़कर सुगम स्पष्ट और स्मरणीय लक्षण देने वाला और दूसरा कोई आचार्य नहीं।'[४]

चिंतामणि की इस प्रशस्ति के साथ केशव की हीनता बतलाना भी आवश्यक था सो वह निम्नलिखित शब्दों में किया गया है—

'यथार्थ में केशव का उद्देश्य चमत्कारपूर्ण कविता करना और कवियों को शिक्षा देना था, गम्भीर शास्त्रीय रीति से काव्यांगों का विवचन कर कोई सिद्धान्त खड़ा करना नहीं। उसका कारण यह था कि केशव का उद्देश्य न तो काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों का गहराई के साथ विवेचन करना ही था और न रस को बहानेवाली कवित लिखना ही, वरन् संस्कृत के ज्ञानभंडार को सामने रखना ही उन्हें अभीष्ट था।'[५]

अपने इस मत पर बल देने के लिए लेखक ने डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का एक उद्धरण भी दे दिया है जिसका अभिप्राय है कि केशव का आचार्यत्व उनके परवर्ती किसी रीतिकवि ने नहीं माना, प्रत्युत इसके कुछ ने उनके शास्त्रीय

१—हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० ५२-५३

२—वही, पृ० ७३

३—वही, पृ० ६६

४—वही, पृ० ७५

५—वही, पृ० ५३

विवेचन में दोष तक निकाले हैं। डा० मिश्र की यह धारणा यहाँ तक काफी सुविचारित एवं सुस्थिर प्रतीत होती है परन्तु अन्यत्र इसके बाद लिखे अपने ही एक लेख में पुनः जब वह यह कहते दिखायी देते हैं कि 'इस (रीति)-परम्परा को डालने का श्रेय प्रमुखतया आचार्य केशवदास को है...अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रीतिकाव्य की परम्परा डालनेवाले सबसे पहले आचार्य केशवदास ही हैं'।[1] तो बरबस दोहराना पड़ता है कि उनकी धारणा का अध्ययन काफी रोचक है। इससे अधिक कुछ कहना उनकी अप्रतिष्ठा होगी जो यहाँ किसी प्रकार इष्ट नहीं है।

हिन्दी की रीतिकालीन कविता पर विशेष शोध कार्य करने वाले डॉ० राजेश्वर चतुर्वेदी की स्थिति भी केशव-चिंतामणि विवाद में मिश्र जी के समानान्तर ही है यद्यपि उतनी रोचक नहीं। उन्होंने भी लिखा कि 'इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया साथ-साथ यह भी कि रीतिकाल का आरंभ चिंतामणि से ही मानना चाहिए।[2]

चिंतामणि को जब इतने लोगों ने इतना महत्त्व दिया है तो उनके कृतित्व पर एक दृष्टि डाल लेना भी अनुचित न होगा। उनके उल्लेखनीय ग्रंथ हैं कविकुल कल्पतरु, श्रृंगारमंजरी, रसमंजरी, काव्यविवेक, काव्य प्रकाश एवं पिंगल इत्यादि। इनमें से केवल पहले दो ही प्राप्त हैं, शेष अप्राप्य बताये जाते हैं। इधर 'श्रृंगार मंजरी' के विषय में डॉ० सत्यदेव चौधरी ने कुछ ऐसा तथ्य प्रकाश में ला दिया है कि चिंतामणि की साहित्यिक महत्ता की नींव ही बहुत कुछ हिल जाती है।[3] डॉ० चौधरी के प्रमाणों से यह प्रमाणित होता है कि श्रृंगारमंजरी चिंतामणि की एक मौलिक रचना न होकर इसी नाम के संस्कृत एवं तेलगू लिपि में लिखित एक प्राचीन गद्यग्रंथ का अंशतः पद्यमय अनुवाद मात्र है। चिंतामणि का नाम भी श्रृंगारमंजरी के प्रारंभिक दो तीन पद्यों में ही आता है अन्यथा सारा ग्रंथ उनके कृतित्व के प्रमाण से शून्य है। चिंतामणि के इस ग्रंथ को सर्वप्रथम हिन्दी जगत् के सम्मुख लाने का जो श्रेय डॉ० भगीरथ मिश्र को प्राप्त हुआ उसे इतनी शीघ्रता से विलुप्त होते देख कर खेद होता है!

'श्रृंगारमंजरी' के अमौलिक ग्रंथ सिद्ध होने के बाद प्राप्त मौलिक सामग्री के नाम पर चिंतामणि की एक मात्र ग्रंथ 'कविकुलकल्पतरु' ही शेष रह जाता

१—आलोचना, इतिहास विशेषांक, पृ० ६४

२—रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन, पृ० १५९

३—हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १०, अंक १, पृ० ७
दृष्टव्य लेख—श्रृंगारमंजरी; मूल ग्रंथ और उसकी हिन्दी छाया

हैं जो मम्मट के काव्य प्रकाश, भानुदत्त की रसमंजरी, विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण और धनंजय के दशरूपक पर समाश्रित है। इसका मूल्यांकन चिन्तामणि के अनन्य प्रशंसक डॉ० मिश्र के शब्दों में ही देखने योग्य है। उनके अनुसार 'विचार की मौलिकता के कारण से इसका महत्त्व चाहे न हो, पर विषय के स्पष्ट विवेचन और पूर्णता का महत्त्व इसमें अवश्य है।'[1]

इस सबके बाद भी यदि कोई केशव के स्थान पर चिंतामणि को ही रीतिकाव्य एवं रीतिकाल का आदि प्रवर्तक कहने का हठ करे तो उसके हठ की नहीं साहस की सराहना करने की इच्छा होगी।

रीतिकाव्य की व्यापकता

१७वीं, १८वीं तथा १९वीं शती के पूर्वार्ध तक रीतिकाव्य की धारा न केवल अपनी प्रमुखता के कारण हिन्दी साहित्य के अध्येता का ध्यान आकृष्ट करती है वरन् उसकी व्यापकता भी उसे अपनी ओर उन्मुख करती है। किसी काव्य-धारा का महत्त्व दोनों ही बातों से लक्षित है। एक तो यह कि अन्य समसामयिक काव्यधाराओं की तुलना में, प्रमुखता की दृष्टि से, उस विशेष धारा की सापेक्षिक स्थिति क्या है दूसरे उस धारा का क्षेत्र विस्तार (पाट) कितना है। अतएव रीति-काव्य-धारा का वास्तविक महत्त्व निर्धारित करने के लिए उसके निम्नलिखित पक्षों पर दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१. भौगोलिक क्षेत्र-विस्तार

२. अन्य समसामयिक काव्यधाराओं से सम्पर्क एवं सापेक्षित स्थिति

१. भौगोलिक क्षेत्र-विस्तार—

एकआध अपवाद को छोड़ कर रीति-काव्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया और ब्रजभाषा का भक्तिकाल में ही देशव्यापी प्रसार हो चुका था। लोक और साधु समाज में उसे गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। राजदरबारों में भी भाषा-कवि ने पहले संस्कृत के राजकवि के समकक्ष स्थान पाया फिर धीरे-धीरे उसे पूर्णतया स्थानान्तरित कर दिया। रीति-काव्य का प्रमुख निर्माता सभाकवि ही था अतएव मध्यदेश के वृहत्तर क्षेत्र में जहाँ-जहाँ छोटे-बड़े, मँझोले, जैसे भी राज्य थे वहीं-वहीं दरबारों की शोभा बन कर ब्रजभाषा के कवि स्थान पाने लगे। राजा की गुणग्राहकता तथा दानशीलता को प्रमाणित करने और राज्य को गौरव प्रदान करने के लिए दरबार में श्रेष्ठ एवं प्रख्यात कवि का होना आवश्यक माना

१ —हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० ७८

जाता था। इस प्रथा के परिणामस्वरूप अनेक रीति-कवि विविध राज्यों में आश्रय ग्रहण करके शास्त्रीय काव्य का निर्माण करने लगे।[1] ओड़छा दरबार में केशवदास, चर्खारी दरबार में प्रतापसाहि, जयपुर-आमेर दरबार में बिहारी, बूँदी दरबार में मतिराम, पन्ना दरबार में भूषण, नागपुर दरबार में चिंतामणि, पिहानी दरबार में देव, प्रतापगढ़ दरवार में भिखारीदास, काशी दरबार में रघुनाथ, किशनगढ़ दरबार में बेनी, तथा दिल्ली दरबार में गंग, नरहरि आदि के रहने का प्रमाण मिलता है। इस सूची के अनुसार राजस्थान और महाराष्ट्र तक तो क्षेत्र विस्तार सिद्ध ही हो जाता है पर यदि खोज की जाय तो इसकी सीमाएँ और दूर तक फैली दिखायी देंगी। केवलराम नामक कवि ने काठियावाड़ में स्थित जूनागढ़ के नवाबों के आश्रय में रह कर सं० १७२६ में 'बाबीविलास' की रचना की। सं० १७८२ के लगभग कवि टीकाराम त्रिपाठी ने बड़ौदा में रह कर बड़ौदा-नरेश फतेहसिंह का सुयश वर्णित किया और 'रसरंग' नामक काव्य की रचना की। नानाफड़नवीस की प्रशंसा में लिखे गये अनंतफंदी के कुछ स्फुट छंद मिले हैं जिससे रीति-काव्य का प्रभाव दक्षिण में पूना तक फैला हुआ सिद्ध होता है। पूर्व में दरभंगा नरेश नरेन्द्रसिंह के दरबार में लाल झा मैथिल के द्वारा राजप्रशंसा का काव्य लिखा गया। यह सारी सूचना प्रमाण कोटि में तभी आ सकेंगी जब इनसे सम्बद्ध सामग्री भली प्रकार उपलब्ध हो और उसकी परीक्षा करके उसके ऐतिहासिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्व की स्थापना कर दी जाय पर इन स्फुट सूचनाओं से इतना तो व्यक्त होता ही है कि मध्यदेश के बाहर भी अनेक राज दरबारों में ब्रजभाषा

---

१ इस सम्बन्ध में बैसवाड़े के वृद्ध कवि ब्रजनंदन की निम्नलिखित विनोदपूर्ण उक्ति दर्शनीय है क्योंकि इसमें मध्यप्रदेश के उन राज्यों को स्मरण किया गया है जहाँ ब्रजभाषा के कवि आश्रय पाते रहे हैं --

पुहुमि बुँदेली त्यों चंदेली औ बघेली कछु
गौतमी बिसेनी, भाड़ा छत्तिसी पँवारे की।
सोमवंसिनी औ बहरेली बछ गोतिनी हू
कनपुरियानी लै बँघेली जनवारे की।
रघुवंसिनी औ कलहंसिनी, अमेठिनिहू
जाँगड़ी महेवा नयपाली रैकवारे की।
तिनके बसैया कवि सारे ब्रजनंदन के
वै जो अहैं सारी ससुरारी बैसवारे की।

का कवि सम्मान पाता रहा है। इधर पंजाब के सिख गुरुओं के दरबार में आश्रय प्राप्त रीतिकवियों के विषय में भी कुछ शोध हुई है जिससे रीतिकाव्य के क्षेत्र विस्तार का एक और प्रमाण मिला है।[1] गुरु अर्जुनदेव और गुरु गोविन्द सिंह के दरबारों में रहने वाले कवियों की जो विस्तृत सूची प्राप्त होती है वह कहाँ तक सही है यह विचारणीय है क्योंकि 'आलम', 'सेनापति' जैसे नाम भी उसमें हैं जिनके विषय में यह कहना कठिन है कि यह ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि ही थे या उसी नाम के अन्य साधारण कवि। दूसरी संभावना ही यथार्थ प्रतीत होती है क्योंकि आलम और सेनापति की प्रसिद्धि में उनके पंजाब में आश्रय ग्रहण का उल्लेख उनके ख्यात जीवनवृत्त में कदाचित् नहीं मिलता है। इसी प्रकार 'कल्ल', 'बल्ल', 'टल्ल' और 'जल्हन' जैसे अपभ्रंश परम्परा के नाम भी ब्रजभाषा कवियों के रूप में अपरिचित ही हैं यों पंजाबी भाषा में द्वित्वमूलक वर्णों का स्वाभाविक बाहुल्य रहता है जैसे 'गल्ल' में अतएव ऐसे नाम होना असंभव नहीं है।[2] बात नामों की सूची तक ही सीमित नहीं है। कुछ कवियों की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं अतएव यह मानने में कोई कठिनाई नहीं दिखायी कि पंजाब के राज-दरबारों में भी रीतिकवि समादृत था और रीतिकाव्य का क्षेत्र वहाँ तक भी विस्तृत था। दिवंगत रणजीतसिंह की प्रशंसा में जयसिंह कवि की यह उक्ति इस वास्तविकता पर प्रकाश डालती है—

> कहै 'जयसिंह' सुरी सम्पदा बिलानी बीर
> आसुरी ने आन दीन दुंदुभी घराने हैं।
> हाय! मरदाने जग जाने रनजीत सिंह
> तेरे बिन काने जग बीच तीन काने हैं।

१—दृष्टव्य श्री चन्द्रकान्त बाली शास्त्री का ब्रजभारती, वर्ष १४, अंक १, में प्रकाशित 'पंजाब की ब्रजभारती' शीर्षक लेख—

२—(i) 'गुरु अर्जुनदेव के दरबार में कुछ भाट कवि ब्रजभाषा की कविता किया करते थे, जिनके नाम ये हैं—कल्ल, जल्हन, नल, कलसहर, मथुरा, जालप, बल्ल, हरिवंश, टल्ल, सल्य, जल्य, भल्ल, दास, कीरत, गयंद, सेवक और भिक्खा। इन सबकी रचना संख्या एक सौ तेईस है। —वही, पृ० ४२-४३

(ii) 'दशम गुरु स्वयं ब्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि थे। आपके दरबार में ब्रजभाषा के बावन कवि विद्यमान थे। उनमें भट्ट अणीराय, अमृत राय, आलम, सुदामा, सेनापति, राम, श्याम, हंसराम, टहकन, कुमरेश और चंदन कवि मुख्य थे।—वही, पृ० ४३

रणजीत सिंह के दरबार में जयसिंह के अतिरिक्त हाशम, बुधसिंह, गणेश, शिवदयाल के साथ 'ग्वाल' कवि का नाम भी आश्रित कवियों में मिलता है। इसी प्रकार पटियाला राज्य के महाराज कर्मसिंह, नारेन्द्रसिंह और महेन्द्रसिंह के दरबारों में अनेक कवियों के होने का उल्लेख मिलता है जिनमें चंद्रशेखर बाजपेयी विशेष हैं।[1] कवि हृदयराम भल्ला पंजाब के प्रथम आचार्य कवि बताये जाते हैं जिनकी 'रसतरंगिणी' नामक रचना अब उपलब्ध कही जाती है। कपूरथला-नरेश काव्य-मर्मज्ञ निहालसिंह के दरबारी कवि हरनाम ने काव्यशास्त्र के साहित्यबोध, रसमंजरी, रसतरंगिणी इत्यादि कई ग्रंथ रचे। अमृतसर निवासी टहलसिंह का 'अलंकारसुधासागर' लोकप्रिय रचना बतायी जाती है क्योंकि इस शिवराज भूषण की तरह गुरुगोविन्दसिंह का चरित अलंकार निरूपण के माध्यम से वर्णित है यद्यपि लक्षण स्वर्निमित नहीं हैं। एक दो नहीं कुल मिलाकर चालीस के लगभग रीतिग्रंथों के पंजाब में निर्मित होने की बात कही जाती है।[2]

२. अन्य समसामयिक काव्यधाराओं से सम्पर्क तथा सापेक्षिक स्थिति —

यद्यपि रीतिकाव्यधारा की प्रमुखता दो-ढाई शताब्दी तक भक्तिकाल और आधुनिक काल के मध्य में ही दिखायी देती है तथापि उसका उद्भव भक्तिकाल में ही हो चुका था और भक्तिकाव्य के साथ-साथ गौण रूप से रीतिकाव्य की भी रचना हो रही थी। भक्तिकाल में भी भक्तिकाव्य के बाद प्रमुखता की दृष्टि से रीतिकाव्य का ही स्थान आता है। अकबरी दरबार के हिन्दी कवियों के अध्ययन से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। तुलसीदास की कवितावली और 'बरवा' पर इन कवियों की शैली का प्रभाव मानना ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से अनुचित नहीं है। रहीम के 'बरवैनायिकाभेद' की अनुगूँज तुलसी के अनेक बरवै छंदों में सुनाई पड़ती है इसी तरह कवितावली की कवित्त सवैया शैली गंग, नरहरि तथा ब्रह्म (बीरबल) आदि कवियों की शैली के समानान्तर है जो रीतिकाव्यधारा के ही प्रारम्भिक कवि हैं। केशव ने भक्तिकाल में इस छंद-शैली को अपना कर अपनी 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' का निर्माण किया। नंददास ने इस छंद-शैली को तो नहीं अपनाया पर 'रसमंजरी' नाम से नायिकाभेद का निरूपण अवश्य किया है जो रीतिकाव्य का प्रमुख विषय है। नरोत्तम कवि का सुदामाचरित मुक्तक से प्रबंधात्मकता और रीतिकाव्य की काव्यशैली से कृष्णभक्ति के समन्वय का अन्यतम उदाहरण है।

१—वही, पृ० ४४

२—वही, पृ० ४६

भक्तिकाल के अन्तर्गत आने वाले रीतिकवियों तथा उनकी रचनाओं की संवत् क्रम से कई सूचियाँ डॉ० सत्येन्द्र आदि कई विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं। कृपाराम की 'हिततरंगिनी' (सं० १५९५) की प्राचीनता पर पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के द्वारा प्रश्न चिह्न लगा दिया गया तो भी ऐसे अन्य अनेक रीतिकवि मिलते हैं जिनका काव्यकाल भक्तिकाल के समानान्तर पड़ता है। पोहकर का रसरत्नाकर (सं० १६१३), मोहनलाल का श्रृंगारसागर (सं० १६१६), कविन्द्र की कल्पलता वृत्ति (सं १६२२), करनेसका कर्णाभरण (सं० १६३७), बलभद्र-मिश्र का नखशिख (सं० १६४०), गोपाल का रसविलास (सं० १६४४) निधान का जसवंतविलास (सं० १६४६) तथा मुबारक का अलकशतक, तिलकशतक (सं० १६९० के लगभग) इत्यादि और भी कुछ कवियों की कृतियों का उल्लेख किया जाता है जो भक्तिकाल की सीमा में ही निर्मित हुईं। भक्तिभाव और राधाकृष्ण के प्रेम की अलौकिक भूमिका का प्रभाव इन रचनाओं पर किसी न किसी अंश में पड़ना स्वाभाविक था, साथ ही नख-शिख वर्णन नायिकाभेद, अलंकार-बहुलता, उक्ति-वैचित्र्य आदि के क्षेत्र में इस मुक्तक काव्यधारा ने भक्तिकाव्य को भी प्रभावित किया इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। बाद में दोनों धाराओं की निकटता और बढ़ गयी। सगुण भक्ति ही नहीं निर्गुण भक्ति भी रीतिकाव्य के शैली पक्ष से प्रभावित हुई। सुन्दरदास कवि की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। कवित्त-सवैया की उक्तिप्रधान मुक्तक शैली में ही उन्होंने निर्गुणपंथ की विचारधारा और भक्तिभावना को व्यक्त किया। कविता का लक्षण देते हुए सुन्दरदास लिखते हैं [1]—

नखशिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीकौ लग्गै।
अंगहीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै।

कविता के परिष्कार की रीतिकवि जैसी यह चिंता भी निर्गुण कवि की अपनी विशेषता नहीं कही जा सकती। यह संस्कार रीतिकाव्य के ही प्रभाव से सुन्दर-दास में आया। रीतिकाव्य के प्रभाव का और भी ज्वलन्त उदाहरण यह है कि उन्होंने छत्रबंध, जीन पोशबंध, चोपड़बध आदि के रूप में चित्रकाव्य का भी निर्माण किया है जो रीतिग्रंथों में ही पाया जाता है।[2] अन्तर्लापिका-वहिर्लापिका, प्रति-लोम-अनुलोम आदि की ओर भी उन्होंने अपनी प्रवृत्ति प्रदर्शित की।[3] इस

१—सुन्दर ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ९७१

२—वही, पृ० ९६३-९७२ तक

३—वही, पृ० ९९२-९४-९७

रीतिमत्ता के साथ-साथ सुन्दरदास ने शृंगारिक होने के कारण केशवदास की रसिकप्रिया की जी भर कर निंदा भी की है जो उनके निर्गुणमतानुयायी होने का सहज परिणाम है—

(i) रसिकप्रिया रसमंजरी और सिंगारहि जानि ।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आनि ।
विषै बनाई आनि लगत विषयिन कौं प्यारी ।
जागै मदन प्रचण्ड सराहैं नखशिख नारी ।
ज्यों रोगी मिष्टान्न खाइ रोगहिं विस्तारै ।
सुंदर यह गति होइ जु तौ रसिकप्रिया धारै ।

(ii) रसिकप्रिया कै सुनत ही उपजै बहुत विकार ।
जो या माहीं चित्त दै वहै होत नर ख्वार ॥

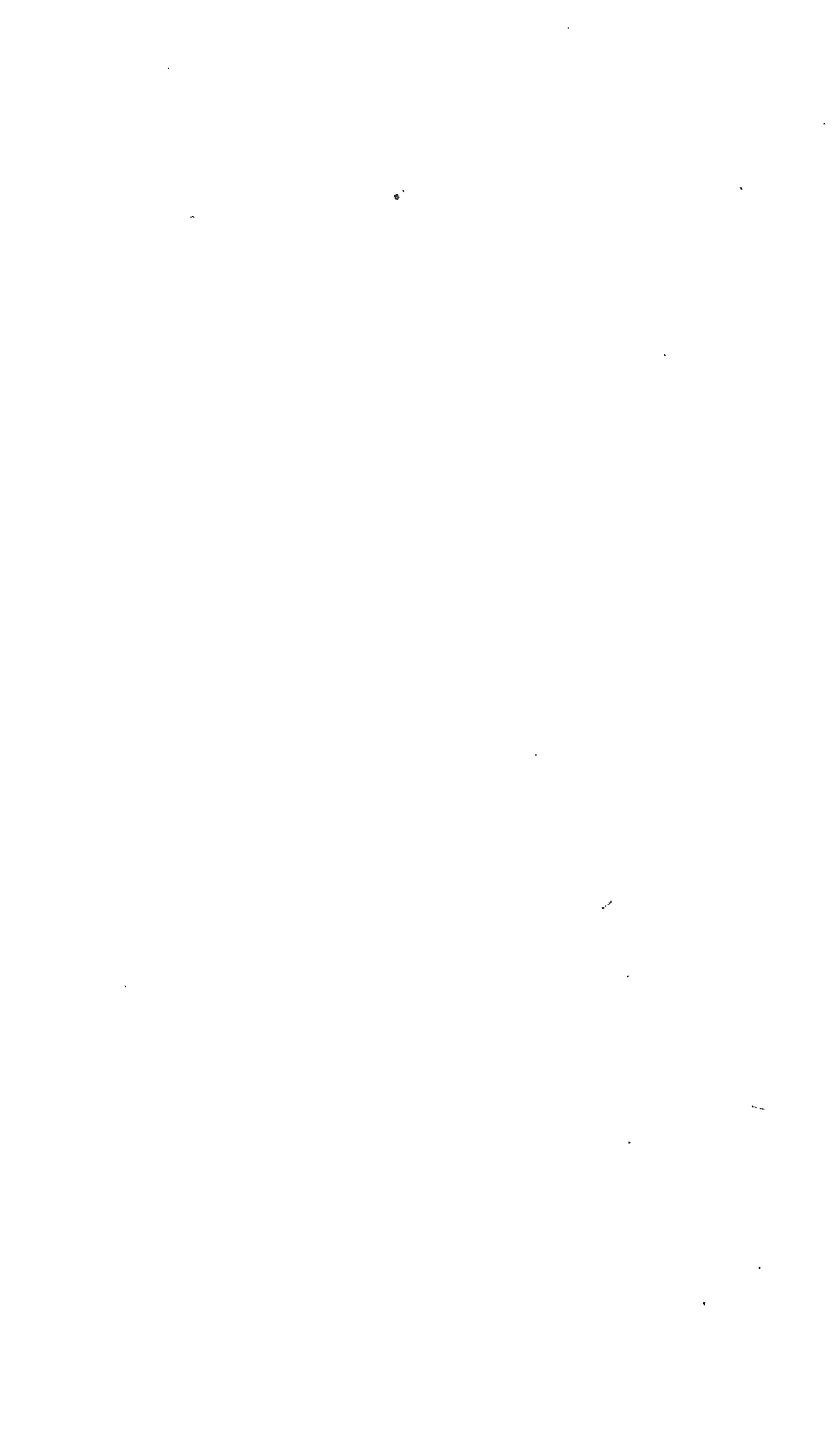
निर्गुण-सगुण भक्तिधारा के अतिरिक्त वीरकाव्यों की भी एक धारा रीतिकाव्य के साथ साथ बह रही थीं। भूषण में आकर दोनों धाराएँ एक में संग्रथित हो गयीं। भूषण से पूर्व केशवदास भी 'वीरसिंहदेवचरित' तथा 'रतनवावनी' जैसे वीररस प्रधान ग्रंथों की रचना कर चुके थे पर कवि-प्रकृति प्रधानतः शृंगारिक होने के कारण उनमें भूषण जैसी स्वाभाविक ओजस्विता नहीं आ सकी। कुछ-कुछ ऐसी ही बात मतिराम के 'ललितललाम' के विषय में भी कही जा सकती है। भूषण के बाद के रीतिकवियों में पद्माकर की 'हिम्मतवहादुरविरुदावली' में ही वीरकाव्य-परम्परा की यथोचित रक्षा हुई है। वीरकाव्य की अपनी परम्परा में रीतिकाव्य के समानान्तर राजविलास (१६७७) के रचयिता मान, जंगनामा (सं० १७१३) के निर्माता श्रीधर, छत्रप्रकाश (सं० १७३०) के कवि गोरेलाल, सुजानचरित (सं० १७५३ के लगभग) के प्रणेता सूदन और हम्मीररासो (सं० १८२८) के स्रष्टा जोधराज मुख्य रूप से आते हैं। इनके काव्य को देखने से स्पष्टतया प्रतिभासित होता है कि शैली और शिल्प के क्षेत्र में रीतिकाव्य से इन्होंने पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। अतिशयोक्तिमूलक राजप्रशंसा दोनों में समान रूप से उपलब्ध होती है। रसनिर्वाह का आग्रह भी प्रायः एक जैसा है। यह अवश्य है कि वीरकाव्य ने प्रबंधविधान भी मिलता जब कि रीतिकाव्य मुक्तक काव्य ही है।

रीतिकाव्य की मुक्तक प्रकृति नीतिकाव्य के अत्यन्त निकट पड़ती है। भर्तृहरि की शतकत्रयी देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तक काव्य में वैराग्य, नीति

१—वही, पृ० ४३९-४०

और शृंगार की त्रिवेणी अस्तित्व में आ चुकी थी। विहारीसतसई का विश्लेषण करके यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि यह त्रिवेणी उसमें भी अन्तर्निहित है। विशुद्ध वैराग्य की धारा भक्ति के साथ संयुक्त होकर कृष्णप्रेम के रूप में अभिव्यक्त हुई है तथा शृंगारिक दोहों के साथ कहीं कहीं नीतिपरक कथन भी उपलब्ध होते हैं। अन्यान्य रीतिकवियों ने भी ऐसी अनेक सूक्तियों का निर्माण किया जिनकी विषयवस्तु रीतिकाव्य की न होकर नीतिकाव्य की प्रतीत होती है! दूसरी ओर नीतिकवि ने उक्ति-वैचित्र्य अलंकरण आदि तत्वों को रीतिकाव्य से अपना कर अपने नीरस वस्तु को आकर्षण बनाने का यत्न किया। रहीम के नीतिपरक दोहों में यह बात विशेष रूप से लक्षित की जा सकती है। सतसई की परम्परा भी नीतिकाव्य में प्रविष्ट हो गयी थी जैसे वृन्द की सतसई में। इस प्रकार रीतिकाव्य धारा का सम्मिलन उसके समानान्तर प्रवाहित नीतिकाव्य धारा से भी हुआ। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि उन मुख्य-मुख्य सभी काव्यधाराओं से जो रीतिकाल में साहित्य-क्षेत्र का अभिसिंचन कर रहीं थी रीतिकाव्य का न्यूनाधिक आदान-प्रदान सम्बन्ध स्थापित हुआ। रीतिकाव्य ने उनसे प्रभाव ग्रहण करने के साथ साथ उन्हें थोड़ी बहुत मात्रा में प्रभावित भी किया। इससे रीतिकाव्य धारा की अपनी शक्ति और सामर्थ्य का प्रमाण मिलता है जो उत्तरमध्यकाल में उसकी प्रमुखता स्थापित करने का कारण बनीं।

रीति-कवि
के
व्यक्तित्व
की
रूपरेखा



रीतिकवि के व्यक्तित्व की रूपरेखा

रीतिकवि का व्यक्तित्व

रीतिकवि एक जाति (टाइप) का द्योतक शब्द प्रतीत होता है और 'व्यक्तित्व' व्यक्तिगत विशेषताओं की समष्टि का बोधक है। व्यक्ति के रूप में, आधुनिक अर्थ में, रीतिकाल के कवि की विशेषताएँ उतनी स्पष्ट और विकसित नहीं हुईं जितनी 'टाइप' के रूप में। अतः रीतिकवि के व्यक्तित्व से तात्पर्य मुख्यतया उस सामान्य व्यक्तित्व से है जो रीतिकाल के प्रायः सभी प्रतिनिधि कवियों में उपलब्ध होता है। ऐतिहासिक विकासक्रम में उसका निर्माण किसी एक तत्व से न होकर अनेक तत्वों के योग से हुआ। सभी तत्व हर कवि में हों या सब में समान रूप से मिलें यह आवश्यक नहीं है परन्तु विश्लेषण करने से कुछ विशिष्ट तत्व उभर कर सामने आते अवश्य हैं। मेरी दृष्टि में सामान्यरूप से रीतिकवि का व्यक्तित्व चारण, सभाकवि, राजगुरु आचार्य, और भक्त का न्यूनाधिक समन्वय है। रीतिकवि चारण की तरह राजप्रशंसा और वंश-स्तुति करता दिखायी देता है साथ ही सभाकवि की तरह वह सभा का एक रत्न भी गिना जाता है जैसे गंग और नरहरि वंदीजन। वह राजगुरु, कवि शिक्षक और आचार्य भी है जैसे केशवदास। विहारी केशव की तरह आचार्य नहीं हैं पर शेष दो तत्व उनमें भी मिलते हैं। भूषण में सभाकवि, आचार्य और चारण का समन्वय लक्षित होता है, भक्त और राजगुरु वह नहीं थे। रहीम स्वयं राजातुल्य थे अतः चारणीय राजप्रशंसा से उनकी कविता मुक्त है। देव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर और दास आदि कवियों में 'भक्त' का भी समावेश है। सभाकवि और भक्त का एकीकरण सेनापति में विशेष रूप से हुआ है। प्राचीन समय में उनकी स्वतन्त्र सामाजिक स्थिति थी जिन्हें यहाँ रीतिकवि के व्यक्तित्व में समन्वित 'तत्व' कहा गया है। 'तत्व' इसलिए कहना उचित है कि रीतिकवि में उनके वे संस्कार समाहित हुए जो कवि के व्यक्तित्व से कभी पृथक् भी थे। इन विविध प्रकार के संस्कारों को रीतिकवि ने ग्रहण अवश्य किया पर इतना समन्वय उनका नहीं हो सका कि उन्हें पृथक् पृथक् देखा न जा सके। यदि कुछ का भी पूरा समन्वय, गंभीर धरातल पर

हो सका होता तो रीतिकवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उतना उपेक्षा-भाव न दिखायी देता जितना प्रायः व्यक्त किया जाता है। सबसे अधिक निकटता कवि और आचार्य के संस्कारों में मिलती है जिसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संकेत अन्यत्र किया जा चुका है। पृष्ठभूमि को देखते हुए डॉ० भगीरथ मिश्र की यह धारणा युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती कि रीतिकवियों ने राज प्रशंसा करने से बचने के लिए आचार्यत्व स्वीकार किया और काव्यशास्त्र के ग्रन्थ रचने लगे।[१] राजप्रशंसा से स्वतन्त्रता पाने की भावना होती तो भूषण अलंकारग्रन्थ लिख कर भी प्रत्येक उदाहरण में क्यों शिवाजी का ही सुयश वर्णन करते। 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' जैसी रचना पद्माकर क्यों करते। रीतिकवि ने आचार्यत्व का मार्ग अपने को शास्त्र-ज्ञान से गौरवान्वित करने के लिए अपनाया। स्वतन्त्र होने की भावना उसमें नहीं थी। जिन केशवदास द्वारा इस स्वतन्त्रता की परम्परा का श्रीगणेश बताया जाता है स्वयं उन्होंने 'जहाँगीरजसचंद्रिका', 'वीरसिंहदेवचरित' और 'रतनबावनी' जैसे राजप्रशंसापरक अनेक ग्रंथ रचे हैं। रीतिकवि के व्यक्तित्व का संगठन किन किन संस्कारों कैसे हुआ इसका सूक्ष्म विश्लेषण एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है पर इतना निश्चित है कि चारण कवि की तुलना में रीतिकवि ने अपनी सामान्य स्थिति आचार्यत्व आदि के संयोग से कुछ श्रेष्ठतर बना ली थी।

डॉ० नगेन्द्र ने रीतिकवि की स्थिति उत्पादक-वर्ग और भोक्ता-वर्ग के बीच स्थित कलाकार वर्ग में बतायी है।[२] यह समाज-शास्त्रीय दृष्टि है। इस दृष्टि से रीतिकवि जन्मतः निम्नवर्ग से सम्बन्धित रहा पर अपने काव्य में उसने 'उच्च-वर्ग के संस्कारों और उसी की आशा-आकांक्षाओं' को प्रतिविम्बित एवं चित्रित किया। मध्यवर्ग विकसित हुआ नहीं था अतएव रीतिकवि एक प्रकार से द्विमुख और कभी-कभी विभाजित व्यक्तित्व रखता हुआ दिखायी देता है। दोनों ओर के सम्बन्ध से उत्पन्न खिचाव (tension) उसमें नहीं मिलता क्योंकि एक पक्ष से उसने खुला समझौता कर लिया था। राजाओं से निराश होकर रीतिकवि अपनी, अपने परिवार या अपने वर्ग की भावनाओं को कविता में चित्रित करने की ओर प्रेरित नहीं होता था, उसका झुकाव भक्ति की ओर हो जाता था जो ऐतिहासिक संदर्भ में प्रायः स्वाभाविक ही था। यद्यपि यह सत्य है कि उसकी कविता की श्रेष्ठता ही उसके उत्थान का मूल कारण होती थी परन्तु फिर भी राजकृपा उसे भाग्य से ही उपलब्ध होती थी। वास्तविकता चाहे जो हो पर रीति-

१—हिन्दी रीतिसाहित्य, पृ० ४-५

२—रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १०

कवि की दृष्टि में काव्यगुण से अधिक भाग्य की महत्ता थी क्योंकि जितनी अहैतुकी राजकृपा होती थी उतनी अहैतुकी उसकी निवृत्ति भी। राजा की गुणग्राहकता उसके प्रसन्न और रुष्ट होने की मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप घटती-बढ़ती भी रहती थी अतएव कवि के लिए केवल श्रेष्ठकवि होना पर्याप्त न था, आश्रयदाता को प्रसन्न रखना भी उनका कर्तव्य हो जाता था। एक गुणी किन्तु आश्रयहीन भाग्यवादी कवि की व्यथा दर्शनीय है—

जानत हौं ज्योतिष पुराण और वैद्यक को,
जोरि जोरि आखर कवित्तन को उच्चरौं।
बैठि जानौं सभा माँझ राजा को रिझाय जानौं
अस्त्र बाँधि खेत माँझ सत्रुन सों हौं लरौं॥
राग धरि गाऊँ और कुदाऊँ घोड़े वाग धरि,
कूप ताल बावरीन नारन मैं हौं तरौं।
दीनबन्धु दीनानाथ ये ते गुन लिये फिरौं,
करम न यारी देत ताको मैं कहा करौं।

उपर्युक्त छंद से इसका भी अनुमान किया जा सकता है कि एक कवि को सामंती वातावरण में प्रवेश पाने के लिए कविता के अतिरिक्त और क्या क्या पापड़ नहीं बेलने पड़ते थे। सहसा राजकृपा से आशातीत द्रव्य पा जाने की आशा रखते हुए भी एक असंतोष उसमें व्याप्त रहता था जिसका निवारण कदाचित् शृंगारिकता के अतिरेक से होता था जो रीतिकालीन कवि की प्रकृति का एक प्रमुख अंग है। रीतिकाव्य में शृंगारिकता यद्यपि परम्परागत रूप में दूसरे कारणों से आयी है पर उसके आधिक्य के कारणों में एक यह भी प्रतीत होता है।

कवियों का स्वाभिमान जितना कुछ भी था अपनी कविता तथा आश्रयदाता की श्रेष्ठता को लेकर ही विशेषरूप से व्यक्त होता था। गर्वोक्तियाँ करना और अतिशयोक्तियों से उसका निर्वाह करना बहुत से रीतिकवियों का स्वाभाविक धर्म बन गया था। भक्तिकालीन विनय और दैन्य की वाणी उन्होंने प्रायः नहीं अपनायी। राजा के आगे स्वार्थवश विनयी हो जाना और विनय को आध्यात्मिकतया स्वभाव का अंश बना लेना दो भिन्न बातें हैं। भक्तों ने कवि होने के जिस अहंकार को ईश्वरार्पित कर दिया वह रीतिकवि में अक्षुण्ण और मुखर दिखायी देता है क्योंकि उसकी दृष्टि इहलौकिक ही अधिक है। इहलौकिकता के अनुरूप रीतिकवि में यश-अर्थ की कामना प्रधान थी यह दास के इस कवि वर्गीकरण से भी स्पष्ट है—

एक लहैं तप पुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु सम्पति केशव भूषन ज्यों वरबीर बड़ाई।
एकन को यश ही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाईं।
दास कवित्तन की चरचा बुद्धिवंतन को सुखदै सब ठाईं।[1]

कविता के प्रति रीतिकवि की दृष्टि अधिकतर निर्वैयक्तिक रही। अपवाद रूप में ही उसने अपने मन की बात व्यक्त की अन्यथा भावनाओं का निरूपण नायक-नायिका को आलम्बन मान कर ही किया जाता रहा। घनानन्द बोधा जैसे प्रेमी कवियों में निर्वैयक्तिकता नहीं मिलती पर उनके द्वारा रीतिकाल का वास्तविक प्रतिनिधित्व पूरी तरह नहीं होता।

रीतिकवि के जीवन में चिंतन और अनुभूति की अपेक्षा कला की प्रधानता रही। जीवन-यापन की विधि और कविता दोनों में ही। कला भी ऐसी परम्परावद्ध कि कल्पना के मुक्त विकास के लिए उसमें स्थान नहीं था। फलतः रीतिकवि अधिकतर एक सीमित क्षेत्र में ही अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अभ्यासी हो गया। किन्हीं नये व्यापक क्षेत्रों के द्वार खोलने या स्वप्नदर्शी होने की सम्भाव्यता (Potenciality) उसमें नहीं थी। यह अवश्य है कि अपने सीमित दायरे के भीतर उसने जितनी उद्भावनाएँ की हैं उतनी उसकी कलाकुशलता, सौन्दर्यप्रियता और सहृदयता को एक स्तर तक प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। प्राचीन कवियों की उक्तियों के समकक्ष स्पर्धाभाव से श्रेष्ठतर चमत्कारपूर्ण उक्तियों की रचना, उनमें स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार से पद लालित्य लाने की सचेष्टता, श्रोता को भाव के साथ-साथ कौशल और बहुज्ञता से प्रभावित करना, सभा के बीच तत्काल प्रभाव उत्पन्न करने के निमित्त मँजाव और कसाव लाना तथा उसी के अनुरूप शैली और वस्तु का ग्रहण, इन्हीं सब की चिंता रीतिकवि को घेरे रहती थी। और किसी वस्तु के प्रति उसने अपना उत्तरदायित्व भले ही न निभाया हो पर इस प्रकार के कवि-कर्म के प्रति वह पूरी तरह उत्तरदायी प्रतीत होता है। सेनापति जैसे कवि, जिन्होंने एक तो कोई रीतिग्रंथ नहीं लिखा दूसरे रामभक्ति और प्रकृति-प्रेम की ओर असाधारण प्रवृत्ति दिखायी, वे भी कवि-कर्म के विषय में नितांत सजग तथा गर्व की सीमा तक आत्मविश्वासी दिखायी देते हैं—

मूढ़न कौं अगम सुगम एक ताकौं, जाकी
तीछन अमल विधि बुद्धि है अथाह की।

१—काव्यनिर्णय, प्रथमोल्लास, छंदसंख्या १०

कोई हैं अभंग कोई पद हैं सभंग, सोधि
देखे सब अंग, सम सुधा के प्रवाह की।
ज्ञान के निधान, छंद-कोष सावधान, जाकी
रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
सेवक सियापति कौं, सेनापति कवि सोई,
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की।[1]

ऐसा गर्वमिश्रित-आत्मविश्वास शास्त्रीय कवि (classical Poet) ही प्रदर्शित कर सकता है। रीतिकालीन कविता है भी चूड़ान्त शास्त्रीय अतः उसके प्रायः प्रत्येक कवि में कहीं न कहीं अपनी कला के विश्वासी-प्रदर्शन का कुछ ऐसा ही भाव निहित मिलता है।

रीतिकवियों की जीवन-दृष्टि

रीतिकवियों के पास कोई गहरी जीवन-दृष्टि थी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। जीवन-दृष्टि सुदीर्घ अनुभव, गहरे आत्ममंथन और प्रौढ़ तत्व-चिंतन का परिणाम होती है जब कि किसी भी रीतिकवि में यह बातें समष्टि रूप में लक्षित नहीं होतीं। उनके भीतर उस प्रखर व्यक्तित्व का प्रायः अभाव दिखायी देता है जो उचित-अनुचित का विवेक रख कर उचित का दृढ़ समर्थन और अनुचित का सक्रिय विरोध करने को तत्पर हो जाता है। किसी गहन नैतिक या सामाजिक संघर्ष के बीच भी उन्हें तपना नहीं पड़ा। उनमें थी सौन्दर्यप्रियता, रसिकता, कला-कुशलता, काव्य-शास्त्रीयता तथा राजाश्रय एवं राजसम्मान प्राप्ति की कामना। इन सब का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि उनका व्यक्तित्व एक विशेष ढंग पर निर्मित होता गया जिसकी कुछ निश्चित सीमाएँ बन गयीं। दरबारी वातावरण से हट कर लोक सामान्य जीवन को उन्मुक्त भाव से स्पर्श करने का भी अवसर उन्हें प्रायः नहीं मिला; उसकी गहराई में पैठ कर कुछ उपलब्ध करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। कविता के क्षेत्र में शास्त्र के अनुसरण का पंथ अपना कर उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति तथा काव्य-चेतना को इस सीमा तक आबद्ध कर लिया कि अंत तक अपने रचे घेरे को तोड़ नहीं सके। उनकी अधिकांश शक्ति एक पूर्वनिर्धारित परिधि के चारों ओर घूमने में व्यय हुई। रीतिकाव्य के समानान्तर प्रवाहित नीतिकाव्य की धारा से ही अधिकतर उनको नैतिक दृष्टि मिली पर स्वतन्त्र नैतिक चेतना उनमें विकसित नहीं हो सकी। भूषण जैसे किसी कवि

१—कवित्त रत्नाकर, पहली तरंग, छंद-संख्या ६

में यदि नैतिकता की कुछ स्वतन्त्र चेतना आयी भी तो काव्यशास्त्र की परम्परा से बँध कर वह भी अन्तर्विरोध का शिकार हुआ। एक ओर वाणी की पवित्रता का नाम लेकर राजप्रशंसा की भर्त्सना करना और दूसरी ओर स्वयं अलंकार ग्रंथ लिख कर शिवाजी को भेंट करना कुछ ऐसी ही बात है जो इन पंक्तियों से प्रकट है—

भूषन यों कलि के कविराजन,
राजन के गुन गाइ नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर,
न्हाई पवित्र भई पुनि बानी।[1]

वाणी की पवित्रता के विचार से तुलसीदास जी ने भी लिखा था—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लगति पछिताना॥
राम चरित सर बिनु अन्हवाये।
सो स्रम जाहि न कोटि उपाये॥

मानसकार ने अपनी एकनिष्ठता को निबाह दिया पर शिवराजभूषण के रचयिता ने एक के बाद एक न जाने कितने आश्रयदाता बदले। शिवाजी की भी जो प्रशंसा उन्होंने की है वह तत्कालीन अन्य रीतिकवियों से चाटुकारिता-प्रदर्शन में बहुत अधिक भिन्न नहीं है। उन्होंने अपनी समसामयिक राजनैतिक परिस्थिति के प्रति सजगता व्यक्त की, आश्रयदाता के चुनाव में यथाशक्ति नैतिकता की दृष्टि अपनायी यही उनकी विशेषता कही जा सकती है। रीतिकाल की सामान्य शृंगारिक प्रवृत्ति को देखते हुए यह विशेषता भी अपवाद ही दिखायी देती है।

रीतिकविता का दृष्टिकोण एक प्रकार से वही था जो सं० १७९१ में रचित 'कोकमंजरी' के निर्माता आनन्द कवि के इस पद्य से व्यक्त होता है—

मनुज रूप ह्वै अवतर्यो तीन वस्तु को जोग।
द्रव्य उपार्जन हरि भजन अरु कामिनि संग भोग॥

रीतिकवि की दृष्टि में किन वस्तुओं का विशेष महत्त्व था इसका परिचय बिहारी के निम्नलिखित दोहे से मिलता है:—

१—शिवराज-भूषण, छंद-संख्या २९१

तन्त्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग॥

राग-रंग, संगीत और काव्य-कला में पूर्णरूप से तल्लीन रहना ही जीवन की चरम सार्थकता मानी जाती थी। इसे एक प्रकार से कलावादी दृष्टिकोण भी कह सकते हैं। पर इसकी जड़ 'वाद' की पहुँच से कुछ गहरी प्रतीत होती है। वाद प्रायः बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। उसकी सीमा में रीतिकवियों का आचार्य-पक्ष आता है पर वास्तव में हिन्दीसाहित्य में रीतिकवि अपने काव्य-पक्ष के कारण ही अधिक मान्य हैं। अतएव उनके काव्य को अनुप्रेरित करने तथा शक्ति प्रदान करने वाले तत्त्व को पहचाने बिना उनकी जीवन-दृष्टि को निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता।

रीतिकवियों ने सहज मानवीय इच्छा-आकांक्षाओं को हेय नहीं माना। भक्त कवि के लिए कोई आध्यात्मिक अर्थ या संदर्भ प्रदान किये बिना उन्हें स्वाभाविक रूप में निस्संकोच ग्रहण कर पाना प्रायः असंभव था पर रीतिकवि का सौन्दर्य-बोध ऐसे किसी संदर्भ या अर्थ की अनिवार्य अपेक्षा नहीं रखता। अपने ढंग से यद्यपि उन्होंने भी मानवीय अनुभूतियों की सार्थकता खोजने की चेष्टा की है पर उनका वह प्रयास बहुत कुछ भक्तिकाल के विचारों से ही अनुप्रेरित लगता है। उनसे पूर्व उन्मुक्त शृंगारिक काव्य की जो एक स्वतन्त्रता परम्परा रही है जिसका जन्म कदाचित् कृषि-सभ्यता के स्वच्छंद ग्रामीण वातावरण में हुआ। प्रारंभ में उसमें नागर विधि-निषेध की छाया नहीं थी। रीतिकवि यद्यपि स्वयं नितान्त नागरिक वातावरण में पनपे परन्तु उन्मुक्त शृंगार का वह संस्कार अंशतः उनमें परम्परा से आ गया। राजसी आभूषणप्रियता और विलासिता के साथ-साथ उन्हें ग्रामीण अकृत्रिम सौन्दर्य भी आकृष्ट करता था। विहारी की सतसई में 'दोहरे तेहरे चौहरे भूषण जाने जात' के साथ साथ 'सुनकिरवा की आड़' का सौन्दर्य भी वर्णित है। इससे यही प्रतीत होता है कि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधात्मक ऐन्द्रिक पिपासा उनमें पूरी तरह व्याप्त थी जैसी प्रायः सभी प्राणियों में मिलती है। इस ऐन्द्रिक आकर्षण को अधिक से अफिक रुचिर, आकर्षक और वैचित्र्यमय बना कर उन्होंने अपने समय के अनुकूल एक विशिष्ट रूप दे दिया परन्तु मानवीय पिपासा का सहज सामान्य रूप भी एक निश्चित परिमाण में उनकी रचनाओं में लक्षित होता है। यह अवश्य है कि सभी कवि उसे अनुरंजक बनाने में समर्थ नहीं हुए परन्तु देव, मतिराम और घनानन्द जैसे कवियों में यह जीवन-पिपासा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। इस पिपासा का परितोष जिस रसानुभूति से होता

था उसे इन कवियों ने एक ओर मांसलता प्रदान की तो दूसरी ओर सुकुमारता और सूक्ष्मता से भी वेष्ठित किया। दोनों ही रूपों में वह उन्हें अधिक परितोषक लगी। बुद्धि से विधि-निषेध तथा सामान्य नैतिक मान्यताओं का विरोध रीतिकालीन कवियों ने एक प्रकार से नहीं ही किया है परन्तु अपनी कविता में उन्मुक्त रूपासक्ति और विलास के लिए पर्याप्त क्षेत्र निकाल लिया। देव कवि में विचार-सम्पन्न व्यवितत्व के कुछ दर्शन होते हैं और वहीं यह स्पष्ट हो जाता है कि कहीं न कहीं परम्परागत रूढ़ियों के विरोध की भावना भी रीतिकाव्य में अन्तर्धारा के रूप में छिपे-छिपे प्रवाहित हो रही है। 'वेदन मूँदु कियो जिन दूँदु कि सूदु अपावन पावन पाँडे', देव का यह कथन मानवीय दृष्टिकोण का पोषक है। प्रेम के सम्बन्ध में स्वच्छन्द रीतिमुक्त धारा के रीतिकालीन कवियों की ही नहीं रीतिवद्ध काव्य लिखनेवाले कवियों की भावनाएँ भी ऊँच-नीच और जाति-पाँति के संकीर्ण भेदों से ऊपर दिखायी देती है। 'बैठो गड़ि गहिरे सु पैठो प्रेम घर में' कहने के साथ देव का हर 'ठाकुर' से इसे सुन कर न ऐंठने का अनुरोध करना सत्य के विनयपूर्वक कथन के अतिरिक्त कवि की उदारता का भी परिचायक है। भक्त और सूफी कवियों के असंकीर्ण प्रेमभाव की पृष्ठभूमि में इस तरह की भावना का रीतिकवियों में पाया जाना स्वाभाविक है। बिहारी ने तो भक्तों की शैली में बाह्याडंबर का स्पष्ट विरोध किया है—

> **जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।**
> **मन काँचै नाचै वृथा साचैं राँचै राम॥**

भक्तकवियों और रीतिकवियों की सापेक्षिक स्थिति क्या थी, भावना के क्षेत्र में दोनों में कितना साम्य और कितना भेद था इसे भी समझ लेना आवश्यक है क्योंकि इस तुलनात्मक पद्धति से रीतिकवि का दृष्टिकोण और भी स्पष्ट हो जाता है।

भक्ति-भावना और रीतिकालीन कवि

ऐतिहासिक दृष्टि से रीतिकाल भक्तिकाल का उत्तराधिकारी है अतः अनेक रीतिकालीन कवियों के काव्य में भक्ति-भावना का समावेश एक स्वाभाविक स्थिति का द्योतक प्रतीत होता है। यह भावना किस स्तर की थी, रीतिकालीन ऐहिक शृंगार-भावना से इसका मेल किस प्रकार घटित हुआ, किन मनोवैज्ञानिक कारणों से इसकी स्वीकृति हुई, भक्तिकालीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रीति-कवियों का दृष्टिकोण किन अंशों में भिन्नता रखता है, भिन्नता ही रखता है अथवा परस्पर विरोधी भी है, इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो रीतिकाव्य के किसी भी विवे-

चक के आगे सहज ही आ खड़े होते हैं। कुछ विचारकों ने इनमें से अनेक प्रश्नों के उत्तर दिये भी हैं परन्तु समस्या फिर भी जटिल ही कही जायेगी।

डॉ० सत्येन्द्र ने रीतिकाल को भक्तिकाल की प्रतिक्रिया बताते हुए लिखा है—

> "भक्ति एक भावावेश की चरमावस्था है। वह हृदय के भावों की उत्ताल गति चाहती है। ऐसी भावाविष्ट दशा सदा नहीं बनी रह सकती न सदा रुचिकर ही हो सकती है। रीतिकाव्य ने उसी प्रेम तत्व को दिव्य धरातल से उतार कर शरीर-हाड़मांस से अनुरक्त कर दिया, यह एक प्रतिक्रिया थी। ईश्वर में से उन्होंने ईश्वरत्व निकाल कर अपने-जैसा नग्न मानव नायक अथवा नायिका का रूप दे दिया।"[1]

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने दोनों कालों की तुलना करते हुए नौ मुख्य विभेद भी प्रदर्शित किये हैं। मेरे विचार से रीतिकाल को सर्वांश में भक्तिकाल की प्रतिक्रिया कहना युक्ति-युक्त नहीं है। दोनों दो ऐसी भिन्न परम्पराओं के विकसित रूप हैं जिनकी जड़ें सहस्रों वर्ष पुरानी हैं। धार्मिक साहित्य के साथ धर्म-निरपेक्ष साहित्य का विकास भी अपना स्वतन्त्र इतिहास रखता है। जहाँ दोनों को पूर्वापर क्रम देकर हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान दिया जाता है वहाँ यह भी सत्य है भक्तिकाल में रीति की प्रवृत्ति और रीतिकाल में भक्ति की प्रवृत्ति दोनों ही न्यूनाधिक मात्रा में समानान्तर प्रवाहित होती रहीं। यदि भक्ति-आन्दोलन का केन्द्र ब्रज न बना होता तो भी राजदरबारों में रीतिकविता पल्लवित होती ही यह तथ्य भी स्पष्टता से लक्षित किया जा सकता है। ऐसी दशा में प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध दोनों के बीच सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रतिक्रिया की सत्ता क्रिया को अनिवार्य माने बिना असंभव है। वास्तव में रीतिकाव्य भक्ति की अतिशय पारलौकिता एवं आध्यात्मिकता तथा शृंगार की नितान्त ऐहिकता का एक विशिष्ट गठबंधन है। उसे समन्वय नहीं कहा जा सकता यद्यपि कुछ रीतिकालीन कवियों ने आध्यात्मिक और लौकिक प्रेम के बीच एक सूत्रता स्थापित करते हुए समन्वय कहेने का प्रयत्न अवश्य किया है। 'देव' ने वाणी का सार 'शृंगार' को और शृंगार का सार ही किशोर वयशाली प्रत्येक प्राकृत स्त्री-पुरुष युग्म को माना है। साथ ही इस शृंगार रस को राधाकृष्णाश्रित भी कहा है—

(i) बानी को सार बखान्यो सिंगार,
सिंगार को सार किसोर किसोरी।

१—पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ४००

(ii) सब सुखदायक नायिका नायक जुगल अनूप।
राधा हरि आधार जस रस सिंगार स्वरूप ॥[1]

वे सामान्य नायक-नायिका को ब्रह्म और माया का प्रतीक समझते थे—

माया देवी नायिका नायक पुरुष अनूप ।

इसी तरह मतिराम भी अपने रसराज में वर्णित नायक-नायिका भेद को 'राधारमण' की लीला समझते हैं—

बरनि नायका नायकनि रच्यो ग्रंथ मतिराम ।
लीला राधारमन की सुन्दर जस अभिराम ॥

यह उदाहरण तो रीतिबद्ध कवियों के हैं। रीतिमुक्त प्रेमी कवियों में अग्रणी घनानंद अपने और सुजान के प्रेम के राधाकृष्ण के असीम प्रेम-पारावार की किसी तरंग से छूटे हुए जल-कण का रूप मानते हैं जो लघु होकर भी लोक-लोक को आप्लावित कर देने की सामर्थ्य रखता है—

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै विचार
बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयौ है ।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरिराधा जिन्हैं देखे सरसायौ है ।
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यो कन,
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है ।
सोई घन आनँद सुजान लागि हेत होत,
ऐसें मथि मन पै सरूप ठहरायौ है ।[2]

रीतिकालीन कवियों का उक्त दृष्टिकोण पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है और वास्तविक रूप में देखा जाय तो यह भक्त-कवियों की दृष्टि का ही एक विशिष्ट परिविस्तार है। इसमें सूर की भावना 'राधिका सबै हरि सबै कोऊ' की अनुगूँज है। भक्त कवि से रीतिकवि में अन्तर यह हो गया कि भक्त कवि सब को राधाकृष्ण का रूप मानते हुए उपासना और गुणगान केवल उन्हीं का करता है जब कि रीतिकवि वैसा मानकर भी एकनिष्ठ नहीं रह पाता। वह आश्रयदाता राजा की प्रशंसा भी करता है और नायक-नायिकाभेद पर काव्य लिख कर राधाकृष्ण का गुणानुवाद

१—भवानीबिलास, छंद-संख्या ९

२—घनआनन्द और आनन्दघन, पृ० ३५, छंद-संख्या ११५

भी। भक्त-कवियों की तरह रीतिकवि संसार की यश-वैभव-विलास-मूलक आसक्ति से रहित एकनिष्ठ नहीं दिखायी देता इसीलिए जीवन के पूर्वांश में वह यदि राजाश्रय की खोज में व्यस्त रहता है तो उत्तरांश में प्रायः कृष्णाश्रित होने की कामना करने लगता है। कभी राजाश्रय हीन होकर, कभी अपमानित होकर और कभी क्षुब्ध होकर वह भक्ति का आश्रय ग्रहण करता है। भक्ति-भावना उसके लिए आत्म-संतोष-कारक ही बन पाती है आत्मप्रेरक नहीं। लक्ष्मी-विष्णु तुल्य राधाकृष्ण को शिरोधार्य मानकर भी वह भक्तों जैसे पवित्र भाव का निर्वाह नहीं कर पाता। केशवदास अपनी पातुरराय 'रायप्रवीन' की तुलना में हेय बताने के लिए देवता-पत्नियों को उपमान रूप में निस्संकोच ग्रहण करते जाते हैं। 'रमा कि रायप्रवीन' आदि। विहारी 'सूछम कटि परब्रह्म लौं' लिखते समय नायिका की कमर की तुलना 'परब्रह्म' से करने में कोई अनौचित्य नहीं देखते। भूषण उपमा अलंकार का उदाहरण देते हुए 'ब्रजराज' को औरंगजेब का उपमान बना देते हैं। आगे एक अन्य स्थल पर शिवा जी को भी 'उपेन्द्र अवतार' कहते हैं। पद्माकर अपने आश्रयदाता रघुनाथ राव के 'गज' दान से 'गजानन' की माता पार्वती तक को सभीत चित्रित करते हैं। देव सामान्या नायिका के प्रसंग में भी नायक का उल्लेख 'हरि' के रूप में ही करते हैं।

मोहिं तुम्हें हरि अंतर पारत, हार उतारि उतै धरि राखौ।

कोई भी भक्त-कवि कृष्ण को ऐसी स्थिति में चित्रित नहीं कर सकता कि उन पर वेश्यागामी होने का आरोप लगाया जा सके। रीति कवियों ने 'राधिका कन्हाई सुमिरन के बहाने' यह सब भी किया है। इससे स्पष्ट है कि राधाकृष्ण को प्रकृति-पुरुष का स्वरूप मानते हुए भी उन्होंने उन्हें अतिसाधारण लौकिक स्तर तक उतार दिया है। ऐसी दशा में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का निम्नलिखित अभिमत भी यथावत् स्वीकार नहीं किया जा सकता—

"यद्यपि राधा और कृष्ण का प्रेम मानवीय प्रेम के रूप में चित्रित है तथापि इन कवियों की भक्ति इन पदों में (?) सदा प्रच्छन्न भाव से वर्तमान रहती है। अत्यन्त शृंगारी रचनाओं के बंध राधाकृष्ण की लीला के प्रति श्रद्धा और भक्ति का ध्यान अवश्य रखते हैं।"[१]

इस प्रसंग में डॉ० राकेश का रीतिकालीन कवियों को भक्त सिद्ध करने का आग्रह विशेष रूप से रोचक है। वे एक ओर भक्त और रीति काल के पारमार्थिक एवं लौकिक नाम से किये जाने वाले दृष्टिभेद को स्वीकार नहीं करते दूसरी ओर

१—हिन्दी साहित्य, पृ० ३१०

कवि की भावना अपने में चाहे जो हो श्रोता उसे क्या समझता है इसे ही निर्णायक तत्व मानते हैं—

"यदि कहा जाय कि भक्तकवियों का दृष्टिकोण तो पारमार्थिक था और नायिकाभेद के कवियों का लौकिक, तो यह बात भी ज़रा कम समझ में आती है। पहली बात तो यह है कि नायिकाभेद के कवि भक्त नहीं थे यह कैसे जाना गया? निश्चय ही वे विरक्त संन्यासी न होते हुए भी भक्ति-भावना से शून्य नहीं थे। इसका प्रमाण हमें उनकी रचनाओं में भी मिल जाता है। दूसरी बात यह है कि जब एक रचना में राधा और कृष्ण का नाम आ ही गया तो उसके पीछे उसके लेखक की भावना कुछ भी हो, पाठक के ऊपर तो उसका प्रभाव पाठक की भावना के आधार पर ही पड़ेगा।"[1]

एक ही कवि की कविता को यदि दो या दस पाठक भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करते हों तो यह कहना कि सभी सही है कवि के व्यक्तित्व की सार्थकता का ही निषेध करना है। ऐसे स्थलों पर कवि के अभिप्राय को बौद्धिक स्तर पर उसकी रचना या रचनाओं की आन्तरिक संगति स्थापित करके पहचानने का यत्न किया जाता है। बिहारीसतसई का आरंभ राधा-कृष्ण की बंदना से होता है, कुछ अन्य दोहे भी भक्तिपरक हैं। इतने से ही बिहारी केवल भक्तकवि प्रतीत होते हैं पर जब वे ग्रंथ के अंत में यह बताते हैं कि उन्होंने 'जयसाहि' के 'हुकुम' से उसकी रचना की है तो समझदार पाठक आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि रीतिकवि की प्रेरणा मूलतः भक्तिकवि की प्रेरणा से भिन्न है। रीति-काव्य में निहित भक्ति-भावना भीतरी कम और बाह्य अधिक है। कहीं-कहीं तो वह भक्ति का गतानुगतिक निर्जीव एवं रूढ़ अनुसरण मात्र प्रतीत होती है। रीतिकवियों ने अपनी सामाजिक स्थिति के अनुकूल, सामंती लौकिक विलास और भक्ति के पारमार्थिक प्रेम को मिला कर एक नैतिक दृष्टि विकसित करने का यत्न अवश्य किया, जैसा ऊपर सोदाहरण निर्दिष्ट किया जा चुका है, किन्तु उनमें इतना आत्मबल और आत्मसंयम नहीं था कि उसकी प्रतिष्ठा में वे भक्त कवियों की तरह सफल हो सकते। राजाश्रय ने जहाँ उन्हें काव्य रचने की सुविधा और स्वतन्त्रता प्रदान की तथा धन-सम्मान भी दिया वहाँ उनकी उस नैतिक दृष्टि को कुंठित भी कर दिया जो अनुचित और अवांच्छित के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता प्रदान करती है। फलतः भक्ति-भावना को भी वे गंभीर, प्रगाढ़ और आन्तरिक रूप में अपनाने में समर्थ न हो सके।

१—पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ४११

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र ने रीतिकाव्य का विवेचन करते हुए इस बात का निर्देश किया है कि रीतिकालीन कवियों के लिए भक्ति-भावना एक 'कवच' मात्र थी जिसने उनकी घोर श्रृंगारिकता को सामाजिक निन्दा और आक्षेप से बचाया।[1] भक्ति-भावना रीतिकवियों के लिए कितनी दूर तक और किस प्रकार कवच सिद्ध हुई यह भी विचारणीय है।

जिन रीतिकवियों ने सामान्य स्त्री-पुरुष या नायक-नायिका को राधाकृष्ण के आध्यात्मिक स्वरूप का ही परिविस्तार माना उन्होंने ऐसा कपट भाव से न कह कर ईमानदारी के साथ विश्वासपूर्वक कहा है। जयदेव, विद्यापति और सूरदास ने राधाकृष्ण का नितान्त नग्न श्रृंगार वर्णन करके उसे अपने-अपने ढंग से आध्यात्मिक भूमिका प्रदान की। एक प्रकार का कवच तो यहीं से निर्मित हो गया। भक्त-कवियों को श्रृंगार इष्ट न था भक्ति ही इष्ट थी यह मान कर उनके संदर्भ में भक्ति-भावना को कवच नहीं कहा जाता है पर यदि श्रृंगार इष्ट नहीं था तो इतनी मात्रा में वह भक्ति साहित्य में चित्रित क्यों हुआ इस प्रश्न का उत्तर देना होगा। जयदेव जब यह लिखते हैं कि 'यदि हरिस्मरणं सरसं मनो यदि विलास कलासु कुतूहलम्' तो लगता है जैसे उन्हें दोनों ही अभीष्ट हैं। यद्यपि श्रृंगारिक काव्य की अपनी स्वतन्त्र परम्परा भी रही है परन्तु भक्ति की तरह श्रृंगारिकता का संस्कार भी रीतिकवियों ने बहुत कुछ भक्ति-काव्य की परम्परा से अर्जित किया। धीरे-धीरे उनकी श्रृंगारिकता कामशास्त्र और सामंती वातावरण के प्रभाव से विलासिता की ओर इतनी झुक गयी कि भक्ति-भावना उसमें आरोपित प्रतीत होने लगी। तत्कालीन समाज में श्रृंगारिकता के कारण रीति कवियों को लांच्छित होना पड़ा हो इसके उदाहरण तो नहीं मिलते पर नंददास को रासपंचाध्यायी लिखने के बाद लोकापवाद शांत करने के लिए सिद्धान्त पंचाध्यायी लिखनी पड़ी यह सुविज्ञात है। कवच का रूपक जितना सटीक यहाँ बैठता है उतना रीतिकवियों के संदर्भ में नहीं। रीतिकवियों ने नायिकाभेद लिखते समय श्रृंगार को अपराध माना ही नहीं अतएव अपनी ओर से भक्ति को कवच रूप में ग्रहण करने की उनको उतनी आवश्यकता नहीं हुई जितनी भक्तकवियों को अपने समय में हुई थी।

(i) १—यह भक्ति-भावना इन कवियों के लिए सामाजिक कवच का काम करती है साथ ही उनके मन को प्रबोध भी देती है।—हिन्दी साहित्य, पृ० ३१०

(ii) इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी।

—रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १८०

काव्यमीमांसा के प्रथम अधिकरण के छठे अध्याय में श्रृंगारिक कविता पर किये जाने वाले तीन आक्षेपों का जो उत्तर दिया गया है उससे लगता है श्रृंगार की सामाजिक प्रतिष्ठा का वास्तविक संघर्ष उस समय घटित हो चुका था। रीति-कवियों को उसके लिए विशेष कुछ नहीं करना पड़ा। सामाजिक कवच की अपेक्षा भक्ति-भावना को रीतिकवियों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है जैसा डॉ० नगेन्द्र ने माना भी है।[1] डॉ० बच्चन सिंह ने डॉ० नगेन्द्र की इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या का स्पष्टीकरण करते हुए रीतिकवि को मध्यवर्गीय धर्मभीरुता और सामंती विलासिता के बीच द्विधाग्रस्त बताया है। उनका कहना है कि इन्हीं दो पाटों के बीच रीतिकवि पिस रहा था और मध्य-वर्गीय संस्कारों के पाट से सामंती वातावरण का पाट अधिक भारी था।[2] सामंती पाट हो भले ही भारी पर था वह निचला पाट ही क्योंकि आर्थिक दृष्टि से कवि उसी पर टिके हुए थे। भक्त और रीतिकवियों की तुलना करते हुए जो परिणाम उक्त लेखक ने निकाला है वह अवश्य समुचित प्रतीत होता है—

> "इनके भक्तिपरक उद्‌गारों में भक्तकवियों की रचनाओं की ताज़गी और उल्लास के स्थान पर एक प्रकार की क्लान्ति और अवसाद दिखाई पड़ता है, भगवान के प्रति रागात्मक उन्मेष की जगह हततेज मन की दीनता और आत्म-भर्त्सना दृष्टिगोचर होती है।"[3]

निश्चय ही रीतिकालीन कवियों की भक्ति में भावावेग, शुद्धता, ओजस्विता और प्रखरता का अभाव है। भक्ति-भावना कबीर, सूर, तुलसी और मीरा के काव्य में चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। रीतिकाल उसके उतार का काल था किन्तु इससे भी बड़ा कारण यह था कि रीतिकवियों ने जगत के उत्थान-पतन एवं जरा-मृत्युमय स्वरूप को उस लीलाभाव से नहीं देखा जिससे देखकर भक्तकवि सहज आनन्द की अनुभूति से आत्मविभोर हो जाता था। भक्तकवियों जैसी आत्यन्तिक समर्पण-भावना भी उनमें नहीं थी। फिर भक्तकवियों ने जिन शास्त्रों एवं आचार्यों

१—'रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है हो भी नहीं सकता था क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक-रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्तिरस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक विरोध करते।'
—रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १८०

२—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, पृ० ४३५–६

३—वही, पृ० ४३७

का अनुसरण किया वह एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि-सम्पन्न थे जब कि रीतिकवियों का काव्य-शास्त्र उन्हें रस-लोलुप बनाने में ही अधिक सहायक हुआ। ब्रह्मानंद सहोदरत्व के रूप में रस की प्रतीति तो कदाचित् एक आदर्श शास्त्रीय मान्यता भर ही रह गयी थी जिसमें तत्कालीन कवि के आंतरिक जीवन को अनुप्रेरित एवं संगठित बनाये रखने की यथेष्ट सामर्थ्य नहीं थी। ऐसी स्थिति में भक्त और रीति-कवियों की भक्ति-भावना में जो पार्थक्य और स्तर-भेद दिखायी देता है उसे यथार्थ मानना ही उचित है। ऊपर से उसमें भले ही समानता दिखायी दे पर भीतर से गहरा अन्तर लक्षित होता है।

रीतिकवियों की आर्थिक स्थिति

रीतिकाव्य के आर्थिक-पक्ष पर यथोचित रूप से अभी विचार नहीं किया गया है। प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था का एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है जो उससे नियोजित व्यक्ति के मानस या मानसजात सृष्टि में सीधे-तिरछे ढंग से प्रतिबिम्बित हुआ करता है। साहित्य भी मानसी सृष्टि होने के कारण इसका अपवाद नहीं है। यह अवश्य है कि यह प्रभाव साहित्य में एक सीमित मात्रा में और पूरी तरह छन कर व्यक्त होता है। रीतिकाव्य एक परम्परानुसारी काव्य है अतएव तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था का सीधा प्रभाव उस पर सीमित मात्रा में ही पड़ा किन्तु जिस पर-म्परा का अनुसरण उसने किया वह स्वयं उसी प्रकार की सामंती अर्थ-व्यवस्था की उपज थी जैसी उस काल में प्रचलित थी। अतः कुल मिला कर दोनों के बीच निकट का सम्बन्ध यथेष्ट मात्रा में दिखायी देता है।

राज-तन्त्र में सारा वैभव, सारी शक्ति, राजा, राजवंश और उससे सम्बद्ध लोगों में ही केन्द्रित हो जाती है फलतः उच्चस्तर का सारा सांस्कृतिक विकास उन्हीं की कृपा, इच्छा और दानशीलता के आश्रित होने लगता है। कविता और कला भी उसी की मुखापेक्षी होकर विकसित हो पाती हैं। मध्यकाल में कविता युग की सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त कवि के अर्थोपार्जन का भी साधन बन गयी थी। अन्य प्रकार का श्रम या व्यवसाय करके जितना धन वर्षों में भी कमाना कठिन था उतना कविगण एक ही पद्य से राजा को प्रसन्न करके क्षण मात्र में पा लेते थे। काव्य-ग्रंथ अर्पित करके तो उन्हें छोटी मोटी जागीरें तक मिल जाती थीं।[1] राजाओं की ऐसी भावुक दानशीलता का नैतिक औचित्य जो भी

१—"अकबर के दरबार (आगरे में) और दरबारियों में साहित्य की अच्छी चर्चा तथा कवियों और काव्य की खासी चहल-पहल रही....सम्राट् और कुछ मुख्य सचिव सेना-नायक एवं राजकवि ब्रजभाषा के प्रेमी हो गये। इनकी देखादेखी

हो पर कवि को राजाश्रित बनाये रखने के लिए वह एक बहुत बड़ा प्रलोभन थी जिससे ऊपर संत-महात्मा ही उठ पाये। जिस कोटि के रीतिकवि थे उस कोटि के व्यक्ति के लिए ऐसे प्रलोभनों का तिरस्कार कर पाना दुष्कर था। राजाश्रय स्वीकार कर लेने पर बहुधा उनके आत्म-सम्मान को भी कुंठित होना पड़ता था पर आर्थिक दृष्टि से राजाश्रय के सिवा दूसरी कोई गति न होने के कारण अधिक से अधिक रीति कवि एक दरबार से रुष्ट होकर दूसरे दरबार में जा पहुँचता था। कविता से द्रव्य कमाने की बात इतनी सामान्य हो गयी थी कि देव जैसे अपेक्षाकृत सचेतन रीति कवि को भी 'आखर' खरीदने वाले की प्रशंसा करने में संकोच नहीं हुआ।

भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन,
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।

प्रत्येक मुक्तक एक रत्न या मुक्तामाल से तुलनीय माना जाता था और उसकी श्रेष्ठता, सौन्दर्य के साथ साथ उस मूल्य से भी आँकी जाती थी जो उसके बदले में प्राप्त हो पाता था। राजाओं का दान ही एक प्रकार से कविता का प्रमुख मूल्यांकन बन गया था। दान से सम्मानित कवियों की गौरव-गाथाएँ स्मरण रक्खी जाती थीं—

लाख दियो हरनाथ को राम, द्वै लाख दियो राजा मान अमाने।
छत्तिस लाख दियो कवि गंग को जी के उमंग ते त्यों खानखाने।
केसव को दियो ब्रह्म छ कोटि नगारौ सबै हरनाथ सुजाने।
साह अकब्बर त्यों नरनाहर, भूषन को सनमान सिवा ने।

इस छंद के अनुसार बांधवगढ़-नरेश राजा रामसिंह ने हरनाथ कवि को एक लाख तथा राजामान सिंह कछवाहे ने दो लाख मुद्राएँ दीं। खानखाना रहीम ने

औरों में भी ब्रजभाषा का आदर बढ़ा। छोटे-छोटे राजाओं और नवाबों के दरबारों में भी ब्रजभाषा और हिन्दी-काव्य की पहुँच हो गयी क्योंकि बड़े दरबारों की नकलें ही तो छोटी बैठकें हैं। भाषा कवियों के भाग्य खुल गये। वे राजसी ठाट-बाट से रहने लगे। इनका आदर देख और लोग भी हिन्दी कविता और ब्रजभाषा का अध्ययन ध्यान लगाकर करने लगे। क्योंकि मनोविनोद तो होता ही था, साथ ही आर्थिक लाभ की भी अशा थी।

—ले० डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० १३५

'चकित भँवर रहि गयो गवन नहिं करत कमल बन' से प्रारंभ होने वाले छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये दिये। अकबर ने नरहरि कवि को धन से सम्मानित किया, उनके कहने से गोवध बन्द करा दिया। भूषण को कई लाख रुपये 'इन्द्र जिमि जंभ पर' वाले एक ही छंद को कई बार पढ़ने पर मिले थे यह प्रसिद्ध ही है।

कवि को धन ही नहीं आदर भी अपेक्षित था किन्तु धीरे-धीरे ऐसी धारणा भी बँध गयी कि जो कविता मम्मट के 'अर्थकृते' को चरितार्थ न करे वह पानी में बहा देने योग्य है—

> **आदर न दैये तहाँ कबहूँ न जैये, जोऊ**
> **लाखन हू पैये पै न रहिये अयानी में।**
> **नर को बखान करै तोऊ न अरथ सरै,**
> **ऐसी कविताई को बहाय दीजै पानी में।[1]**

इसी क्षति की पूरक एक दूसरी विचार धारा भी रीतिकाल में प्रचलित थी जिसका आभास हफ़ीजुल्ला खाँ के हजारे में प्राप्त निम्नलिखित पंक्तियों से होता है—

> **कहा भयो जो पै काव्य भेद भाव द्वन्द्व बिना,**
> **हरि जस जामैं सोई कथनि सुहाई है।**
> **संत मन भाई सुखदाई है सुहाई जामैं**
> **कृष्णकेलि गाई सोई साँची कविताई है।[2]**

सच्ची कविता की ऐसी भक्तिकालीन धारणा का स्मरण रखते हुए भी रीति कवि स्वभाव, परम्परा और प्रवृत्तिवश राजप्रशंसात्मक काव्य रचने में संलग्न रहे इसका कारण उनकी राजसम्मान-कामना और अर्थोपार्जन की विवशता ही थी। कविता अन्य कला-कार्यों की तरह स्वयं एक अर्थकरी वृत्ति बन गयी थी। यदि कोई राजा कवियों से रुष्ट होकर अपने दरबार में उनका समादर करना बंद कर देता था तो कवि ही विनयपूर्ण आग्रह से उसे प्रसन्न करने का यत्न करता था जैसा मतिराम के इस छंद से व्यक्त होता है जो उन्होंने अपने एक आश्रयदाता कुमायूँ नरेश उद्योतचन्द्र के प्रति लिखा था—

> **करन के विक्रम के भोज के प्रबन्ध सुनो**
> **कैसी भाँति कबिन को आगे लीजियतु है।**

---

१ किसी अज्ञात कवि की रचना, भड़ौआ संग्रह, पृ० १०

२ हफ़ीज़ुल्ला खाँ का हज़ारा, पृ० ४२

कबि 'मतिराम' राजसभा के सिंगार हम
जाके बैन सुनत पियूष पीजियतु है।
एक के गुनाह नरनाह श्री उदोतचंद
कविन पै एतो कहा रोस कीजियतु है।
काहू मतवारो एक अंकुस न मान्यौ तौ
दुरद दरबारन ते दूरि कीजियतु है।[1]

तथाकथित 'निरंकुशाः कवयः' की स्थिति इस विनय में कितनी दयनीय दिखायी देती है। अपने 'नीतिशतक' में भर्तृहरि ने भी ऐसा ही रूपक रचकर राजा को सलाह दी थी पर उसका स्वर ओजस्वी और स्वाभिमानी स्वर था—

न भवति बिसतन्तुर्वारणंवारणानाम् ॥ १६ ॥

मतिराम ने यहाँ विक्रम, भोज आदि के द्वारा कवियों के समादर की प्राचीन प्रसिद्धियों का जो स्मरण किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उसी पुराने आदर्श से इन कवियों की नैतिक चेतना आकृष्ट और परिचालित होती थी। अपने जीवन में वे उसी को उपलब्ध करने की चेष्टा करते रहते थे।

'काव्यमीमांसा' में उज्जयिनी के राजाओं की गुणग्राहकता के अनेक रोचक उदाहरण मिलते हैं। कालिदास, भर्तृमेण्ठ, अमर, भारवि आदि अनेक कवियों की परीक्षा तथा प्रतिष्ठा वहीं हुई थी।[2] काश्मीर नरेश मातृगुप्ताचार्य ने, जो स्वयं कवि थे, भर्तृमेण्ठ के 'हयग्रीववध' काव्य को सुनकर उसके नीचे एक स्वर्ण-पात्र रखवा दिया था ताकि रस टपक न जाय। 'पवनदूत' के रचयिता धोयी कवि को गौड़ देश के राजा से स्वर्ण दण्ड चामर आदि सम्मानार्थ प्राप्त हुए थे।[3] 'चन्द्र-

---

१ अलंकारपंचाशिका से उद्धृत;
दृष्टव्य मतिराम ग्रंथावली, पृ० २३५

२ (i) महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्।
तत्र परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च।

(ii) इह कालिदास मेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्र चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥
—प्रथम अधिकरण, दशम अध्याय

३ दंति व्यूहं कनकलतिकां चामरं हैमदण्डम,
यो गौडेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती।

चूड़ चरित ' नामक रचना पर राजा चाणक्य चंद्र के द्वारा उमापतिधर कवि को लाखों का पुरस्कार प्राप्त हुआ ।[1] चंद वरदायी को पृथ्वीराज के द्वारा बीसों ग्राम और हाथी घोड़े प्राप्त हुए ।[2] कवि-समादर और काव्य-प्रतियोगिता के सम्बन्ध में प्रचलित कई प्रथाओं का उल्लेख भी राजशेखर ने किया है जैसे ब्रह्मरथयान, पट्टबन्ध आदि । ब्रह्मरथयान में विजयी पंडित या कवि का रथ राजा स्वयं खींचता था । इसी तरह राजा द्वारा श्रेष्ठ कवि के मस्तक सुवर्ण-पट्ट का बाँधा जाना ही पट्ट-बन्ध कहा जाता था । भूषण की पालकी में छत्रसाल का कंधा लगा देना प्राचीन ब्रह्मरथयान का स्मरण दिला देता है । कविता जब इतनी राज-प्रतिष्ठा और आर्थिक उपादेयता का साधन थी तो उसका चोरी हो जाना भी स्वाभाविक था । प्रत्येक मुक्तक में कवि का नाम रहे यह परम्परा संभवतः ऐसे ही किसी कारण से विकसित हुई होगी । कहते हैं, सवैया छंद में 'सेनापति' शब्द नहीं आ सकता था इसलिए सेनापति ने उसका प्रयोग ही नहीं किया । उनकी निम्नलिखित उक्ति को देखते हुए यह विचार असंभव प्रतीत नहीं होता—

सुनु महाजन चोरी होति चारि चरन की
ताते सेनापति कहै तजि करि व्याज कौं ।
लीजियौ बचाइ ज्यौं चुरावै नहि कोई, सौंपी
वित्त की सी थाती मैं कवित्तन की राज कौं ।[3]

राजागण शुद्ध गुणग्राहकता से प्रेरित होकर कवियों का इतना समादर किया करते थे या कि अपने ऊपर कविता लिखा कर, ग्रंथार्पण कराकर अपनी राजसी वृत्ति की परितृप्ति करने और आत्म प्रतिष्ठा बढ़ाने की भावना ही उनमें प्रधान

श्री धोयीकः सकल रसिक प्रीतिहेतोर्मनस्वी,
काव्यं सारस्वतमिव महामंत्रमेतज्जगाद ॥
——पवनदूत; श्लोक संख्या, १०१

१ निष्पन्नेसति चन्द्रचूडचरिते तत्तन्नृप प्रक्रिया
जातै सार्धमरातिराजकशिरो रत्नांजलीनां त्रयम्
तप्त स्वर्ण शतानि विंशतिशती रूप्यस्य लक्ष त्र्ययम्
ग्रामीणां शतमंतरंग कवये चाणक्यचन्द्रो ददौ ॥

२ बीस गाम कवि चन्द प्रति करी कुँवर वगसीस ।
एक बाजि साजनि सजहि दियो सुसम्भरि ईस ॥

३ कवित्तरत्नाकर, पहली तरंग, छंद संख्या १०

थी यह भी एक ऐसा प्रश्न जिससे कवियों का स्वाभिमान सीधे सम्बद्ध है। शायद ही कोई राजा ऐसा हुआ हो जिसने श्रेष्ठ कवि के काव्य गुणों की तो प्रशंसा की हो किन्तु अपने ऊपर प्रशंसात्मक अतिशयोक्तिपूर्ण कविता लिखने अथवा अपने प्रति ग्रंथार्पण करने से उसे रोका हो और उसे अपने आश्रित हो जाने के लिए न प्रेरित किया हो। काव्य साहित्य के राजाश्रित में होने का कोई अनौचित्य जब राजाओं के विचार में था ही नहीं तो ऐसे वातावरण में शुद्ध गुणग्राहकता का प्रश्न ही नहीं उठता। राजाश्रय और राजप्रशंसा दोनों ही शताब्दियों पहले से पूर्णतया अन्योन्याश्रित हो गये थे।[1] बिना राजप्रशंसा किये राजाश्रय मिलता ही क्यों होगा और बिना राजाश्रय पाने की अभिलाषा के अतिशयोक्तिपूर्ण राजप्रशंसा करना निरर्थक था अतएव कवि को अपने स्वाभिमान को धनोपार्जन के लिए कहीं न कहीं दबाना पड़ता था। विशेषकर तब जब कविता ही उसकी आजीविका का एकमात्र साधन थी। जिससे धन मिलता है, सम्मान मिलता है उसकी मनोवृत्ति का प्रभाव आश्रित व्यक्ति पर स्वभावतः पड़ता है। काव्यमीमांसा में कविचर्या और राजचर्या का जो विस्तृत वर्णन मिलता है वह कवि और उसके आश्रयदाता की पारस्परिक स्थिति को व्यक्त करता है। राजशेखर ने स्पष्ट लिख दिया है कि राजा ही पुरुष रूपी रत्नों का एक मात्र आकर है तथा राजोपजीवी व्यक्तियों को उसी का चरित अनुकरणीय मानना चाहिए।[2] रीतिकाल में राजागण प्रायः उसी स्थिति में थे जैसी तुलसी की धारणा 'राज समाज बड़ोई छानी है' से ज्ञात होता है। उनकी विलासप्रियता और शृंगारिकता का परिचय राजस्थानी शैली के अनेकानेक चित्रों से उपलब्ध होता है। कवि गण उनकी गुण-ग्राहकता से आकृष्ट होकर उन तक पहुँचते थे और उनका आर्थिक आश्रय प्राप्त करने के बाद विलास और शृंगार के वातावरण में प्रायः उन्हीं की तरह लीन होने लगते थे, यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इस वस्तु-स्थिति में नैतिक दृष्टि से साहित्य का जो भी पतन हुआ उसका

---

१ ख्याता नराधिपतयः कवि संश्रयेण
राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिम्।
राजा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी
राज्ञो न चास्ति कविता सदृशः सहायः॥
—काव्यमीमांसा, पृ० ६७

२ पुरुषरत्नानामेक एव राजोदन्वान्भाजनम्।
राजचरितं च राजोपजीविनोप्यनुकुर्युः॥
—काव्यमीमांसा, प्रथम अधिकरण, दशम अध्याय

दायित्व आश्रित और आश्रयदाता दोनों पर समान रूप से पड़ता है। एक पक्षीय आरोप का प्रश्न ही नहीं उठता पर रीतिकाव्य के एक विशेषज्ञ ने रीतिकालीन आश्रयदाताओं का पक्ष लेकर एक आवेशपूर्ण वक्तव्य दिया है—

'आश्रय-दाताओं की प्रसन्नता के हेतु उनकी वासना को उत्तेजित करने के लिए शृंगार रस की वासना-पूर्ण कविता लिखी गयी, यह कहने का अर्थ तो यह है कि शृंगार-रस केवल उन वैभव सम्पन्न राजा-महाराजाओं के ही आकर्षण की वस्तु थी; न तो उन कवियों की उस रस में कोई रुचि थी और न साधारण जनता की, पर ऐसा सोचना अत्यन्त भ्रम-मूलक है।............रीतिकालीन नरेशों के प्रति लगाये गये इन निराधार घृणित आक्षेप को त्याग कर हमें उनके काव्य-प्रेम एवं कवि-पोषण के लिए उनका आभार स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उनके सहयोग के अभाव में उस युग में कविता की धारा यदि सर्वथा लुप्त नहीं हो जाती तो मंद तो अवश्य ही पड़ जाती।'[१]

इसमें रीतिकालीन नरेशों को सर्वथा निर्दोष सावित करते हुए उनकी गुण-ग्राहकता को जो श्रेय दिया गया है वह अंशतः ही सत्य है। आगे चल कर आर्थिक अभाव के कारण आश्रित और आश्रयदाताओं का सम्बन्ध गुणी और गुणग्राहक के स्तर से उतर कर कितने नीचे जा पहुँचा इसकी ओर दृष्टिपात कर लेने से वास्तविकता पर काफ़ी प्रकाश पड़ेगा। आदर्श जिसकी माँग करता है यथार्थ कभी-कभी उसका उलटा नज्ज़ारा ही पेश करता है। साधारणतः राजाओं की गुण-ग्राहकता से कवियों को प्रसन्न ही होना चाहिए था पर आजीविका का प्रश्न उससे सम्बद्ध होने के कारण बिना आर्थिक लाभ के कोरी गुण-ग्राहकता संतोषप्रद सिद्ध नहीं होती थी। कवियों का यह असंतोष गहरे क्षोभ के रूप में उत्तर रीति-काल में विशेषतया लक्षित होता है क्योंकि उस समय तक राजा-सामंतों की स्थिति और भी गिर चुकी थी। ऐसे कुछ क्षुब्ध स्वर उद्धृत अंशों में दर्शनीय हैं—

(१) सूमन के रहैं वुइ बातन की तंगी एक
ईस्वर निमित्त औ कवीस्वर के दैवे को।

(२) काके ढिग जाई काहि कवित सुनाई भाई
अब कविताई भई फ़जीहतिताई है।

१— डॉ० राकेश के 'ब्रजभाषा का नायिकाभेद' शीर्षक लेख से उद्धृत; दृष्टव्य, पोद्दार अभिनन्दनग्रंथ, पृ० ४११

(३) सौक सेर मारिबे को सभा में सुनावें सदा,
स्यार हू न मारो कहुँ झारो की झरीन को ।
हाथ में न जाके जोर सेर के उठाइबे को,
जिह्वा ते उठायो करे पुंज सिखरीन को ।
'ग्वाल' कवि कहैं श्री युधिष्ठिर सो साँचो बैन,
देत सबही को दान पान औ घरीन को ।
बाजे बाजे भूप ऐसे बेसरम होत जात,
राखि लेत हाथी चारो डारत चिरीन को ।

(४) खात हैं हराम दाम, करत हराम काम,
धाम धाम तिनही के अपजस छावंगे ।
दोजख में जैहैं तब काटि काटि कीरा खैहैं,
खोपरीको गूदा काक टोंटिन उड़ावैंगे ।
कहैं 'करनेस घरघुस्सनि ते बाज, तजैं—
रोजा औ नमाज, अंत जम काढ़ि लावैंगे ।
कविन के मामले में करें जौन खामी
तौन नमकहरामी मरे कफन न पावंगे ।

ऐसे उग्र स्वरों के साथ जब निम्नलिखित प्रशंसात्मक उद्गार को मिला कर देखते हैं तब चित्र का दूसरा पहलू भी सामने आ जाता है ।

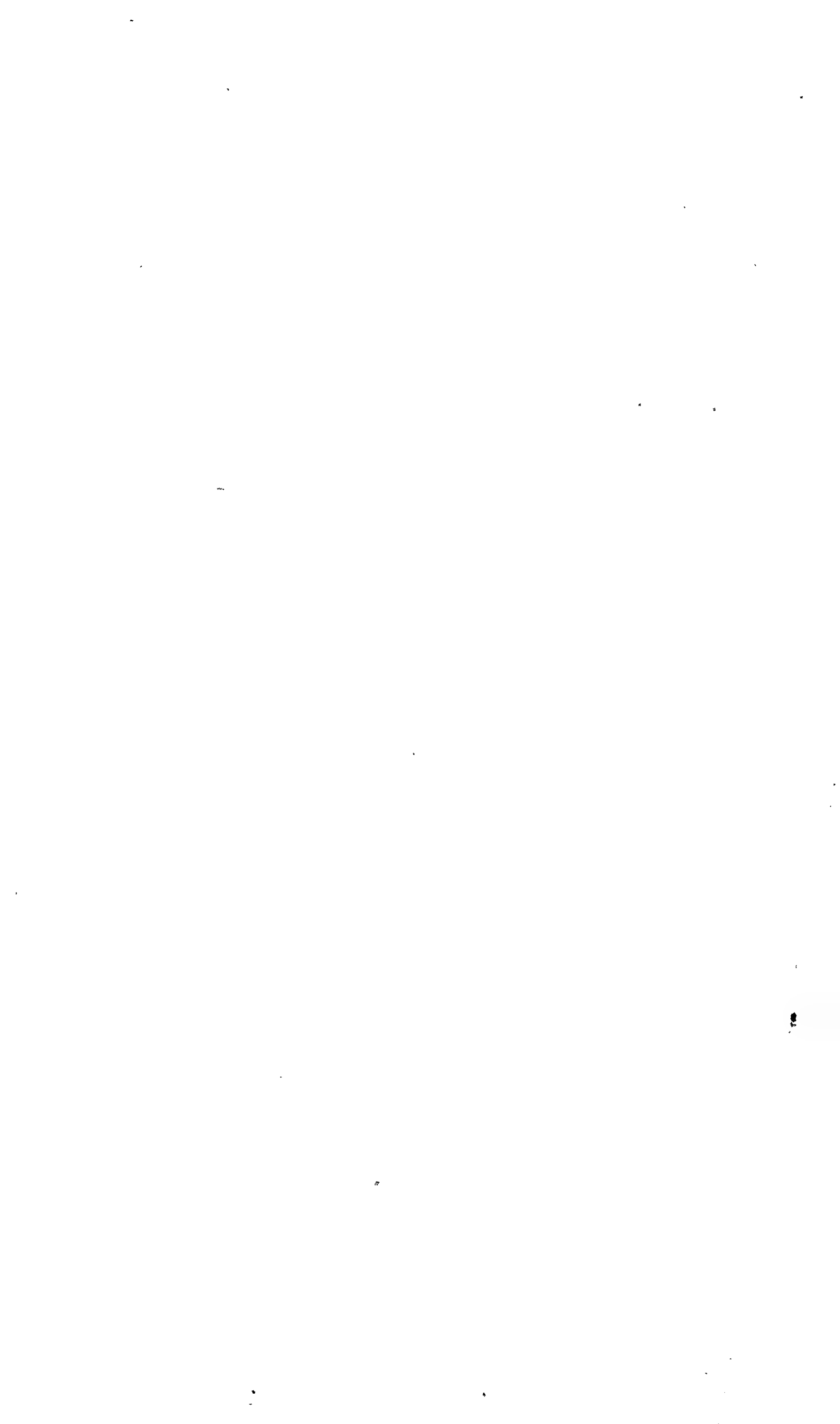
आजु महादीनन को सूखिगो दया को सिंधु,
आजु ही गरीबन को सब गाथ लूटिगो ।
आजु द्विजराजन को सकल अकाज भयो,
आज महाधीरन को धीरज हू छूटिगो ।
'मल्ल' कहैं आजु सब मंगन अनाथ भये,
आजु ही अनाथन को करम सो फूटिगो ।
भूप भगवंत सुरलोक को भूपाल भयो,
आज कवितान को कलपतरु टूटिगो ।

इन सब कवियों के साथ अक्षर जोड़ कर लाखों की सम्पत्ति ले लेने की गर्वोक्ति करने वाले[1] पद्माकर जैसे रीतिकवि भी मिलते हैं जो राजा से प्रसन्न होते हैं

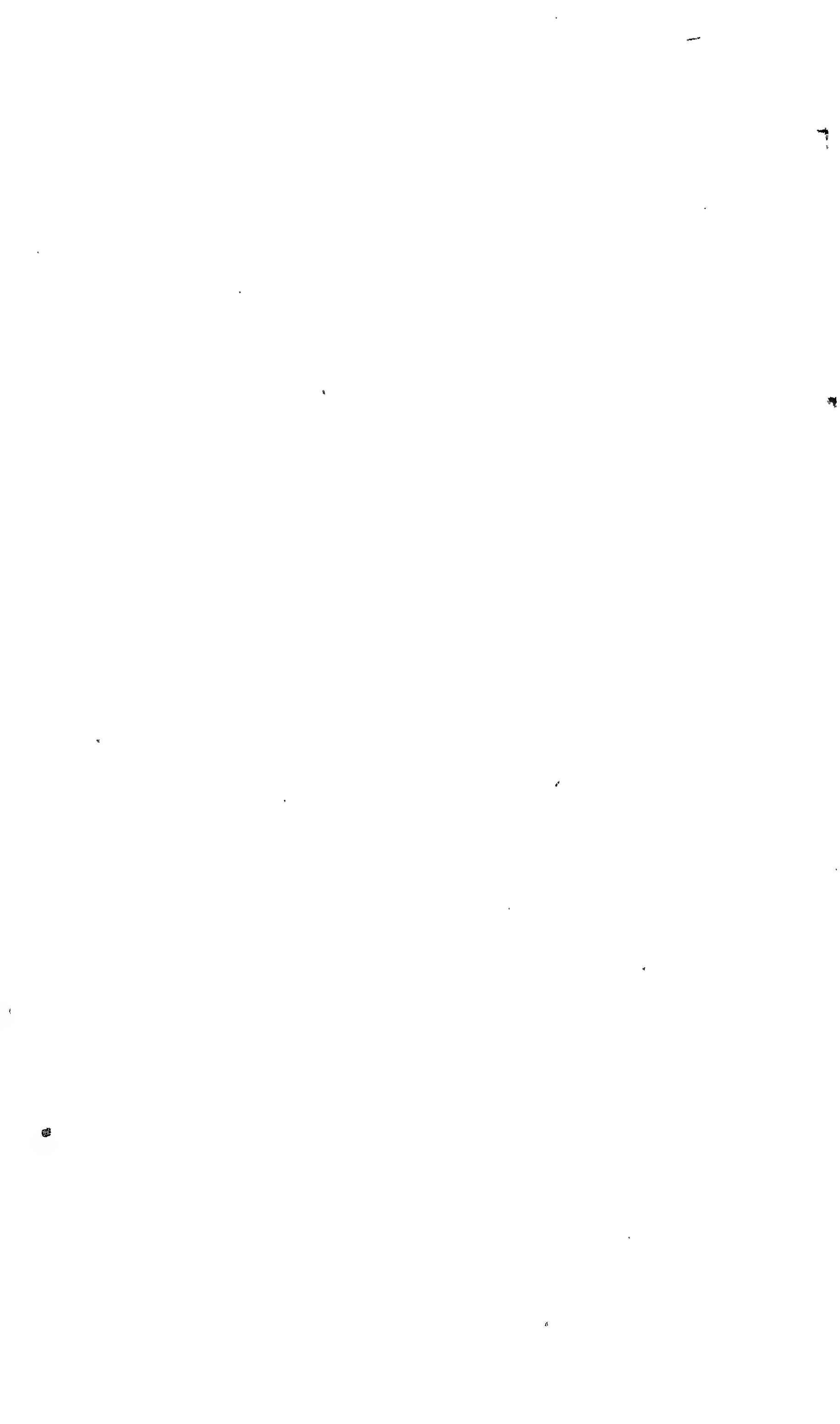
---

१ आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं ।
—जगद्विनोद

तो कहते हैं—'**मेरे जान तेरो वह विप्र मैं सुदामा हौं।**' किन्तु अप्रसन्न होने पर तेवर बदल कर कहने लगते हैं '**आप महाराज हैं तौ हौं हूँ कविराज हौं**' रीतिकाल में प्रायः कवि का आत्मसम्मान आश्रयदाता के दान के समानान्तर उठता गिरता रहा। आर्थिक दृष्टि से आश्रित होने की भावना ने उसकी जो मानसिक क्षति की उसकी पूर्ति कदाचित् उस सुख-सुविधा से नहीं हो सकी जो उसे प्रशंसात्मक कविता लिखने के उपलक्ष्य में समय समय पर प्राप्त होती रहती थी।



रीतिकाव्य का कला-पक्ष
एवं
सौन्दर्य-बोध



रीतिकवि की कलाप्रियता एवं सौन्दर्य-बोध

कला और सौन्दर्य के विषय में रीतिकालीन कवि की अपनी विशेष धारणा थी जो राजसी वातावरण से ही उद्भूत हुई थी और उसी के बीच उसको पर्याप्त मान्यता भी मिली थी। इस धारणा का बहुत कुछ परिचय कविता के विषय में रीतिकवियों की निम्नलिखित उक्तियों से मिलता है—

केशवदास— जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न विराजई, कविता वनिता मित्त॥
चरन धरत चिंता करत, नींद न भावत सोर।
सुबरन को सोधत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर॥[1]

ताते सुचि रुचि सोचि पचि, कीजै सरस कवित्त।
केसव स्याम सुजान को, सुनत होइ बस चित्त॥[2]

देव— जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहि छोभ को छाहीं।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर, मोल जवाहिर ता अति चाहीं।
बानी पुनीत ज्यों देवधुनी, रस आरद सारद के गुन गाहीं।
सील ससी सविता छविता कवि ताहि रचै कवि ताहि सराहीं।
काव्य सार शब्दार्थ को, रस तेहि काव्य सु सार।
सो रस बरनत भाव बस अलंकार अधिकार॥
कविता कामिनि सुखद पद, सुवरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अदभुत रूप लखाति॥[3]

दास— सक्ति कवित्त बनाइवे की जेहि जन्म नछत्र में दीन्हीं विधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों देखी सुनी बहुलोक की बातैं।
दास हैं जामें इकत्र ए तानि बनै कविता अति रोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर सूतकी चक्र निपातैं।

---

१ कविप्रिया, ५-१, ३-४

२ रसिकप्रिया, पृष्ठ १२, छंद-संख्या १४

३ शब्दरसायन

जानै पदारथ भूषनमूल रसांग परांगन्ह म मति छाकी।
स्यो धुनि अर्थन्हि वाक्यन्ह लै गुन सब्द अलंकृत सों रति पाकी।
चित्र कवित्त करै तुक जानै, न दोषन्ह पंथ कहूँ गति जाकी।
उत्तम ताको कवित्त बनै, करै कीरति भारती यों अति ताकी।[1]

ठाकुर--मोतिन की सी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै।
'ठाकुर' सो कवि भावत मोहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै।[2]

रीतिकवियों द्वारा सामान्यतया कविता एक सर्वांग सुन्दर सुशील लावण्यमयी, ऊपर से नीचे तक विविध आभूषणों से अलंकृत युवती के तुल्य मानी गयी है जिसकी कमनीयता और रमणीयता प्रत्येक 'रसिक' के हृदय को विद्ध करने की अचूक क्षमता रखती है। ऐसे सादृश्य की परम्परा अलंकारवादियों में विशेष रूप से मिलती है। भामह की उक्ति 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।' कदाचित् इसके मूल में रही है।[3] कविता-वनिता के सादृश्य को लेकर संस्कृत, तथा प्राकृत में और भी न जाने कितनी उक्तियाँ प्रचलित हैं।[4] उन सबका सम्मिलित प्रभाव रीतिकवियों के मन पर पड़ा। शृंगार रस की प्रधानता और विलासप्रियता के कारण उस युग की भावना से कविता विषयक ऐसी धारणा का गहरा मेल सिद्ध हुआ। यह स्थिति साहित्य और जीवन के प्रति भोगवादी दृष्टिकोण की परिचायक है। तत्कालीन वातावरण में इसे सर्वथा अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। फिर

---

१ काव्यनिर्णय, प्रथमोल्लास, छंद-संख्या १२, १८

२ ठाकुर शतक

३ काव्यालंकार, १/१३

४ (i) सा कविता सा वनिता यस्या श्रवणेन दर्शनेनापि।
कवि हृदयं विट हृदयं सरलं तरलं च सत्वरं भवति॥

—सुभाषित

(ii) सद्दपलोट्टं दोसेहि वज्जिअं,
सुललियं फुडं महुरम्।
पुणेहि कहवि पावइ,
छंदे कव्वं कलत्तं च ॥२४॥

—गाथासप्तशती

साहित्य में व्यक्त होकर रस की दृष्टि से सभी भावनाएँ अंततः 'भोग्य' या आस्वाद्य हो जाती हैं। किन्तु जीवन को व्यापक संदर्भ में देखने पर इसकी सीमाएँ स्पष्ट होने लगती हैं। यद्यपि 'शोकः श्लोकत्वमागतः' जैसी आदि कवि की वाणी का स्फुरण अथवा 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' जैसी प्रकट कल्याण कामना का स्पर्श इसमें नहीं मिलता तथापि जितनी दूर तक रीति-कविता की मध्ययुगीन धारणा को हेय बताया गया है उतनी दूर तक वह वैसी प्रतीत नहीं होती। देव, दास और ठाकुर की पूर्वोद्धृत उक्तियों में भी उदात्तता का सूत्र छिन्न नहीं हुआ है, क्षीण भले ही लगता हो। देव की परिभाषा तो कविता के साधु-पक्ष को इतनी दूर तक समेटती है कि रीतिकालीन कविता को सम्पूर्णतया उसके घेरे में लाना कठिन हो जाता है। रीति काव्य में अलंकरण पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है पर रसात्मकता का आधार भी इतनी दृढ़ता से पकड़ा गया कि रीति कवियों की रसानुभूति से स्पंदित उक्तियाँ, शब्द-वैभव से संयुक्त वर्णन-भंगिमाएँ और स्वतः जिये हुए जीवन की साक्षी देने वाली शृंगारिक ध्वनियाँ काव्य के मर्मज्ञ प्रेमियों के चित्त को सदा ही अपहृत करती रहेंगी। इस सम्बन्ध में ठाकुर की पंक्ति 'पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै।' सर्वथा सटीक है। उनके उद्धृत छंद की शेष पंक्तियों में भी वस्तु-पक्ष और कला-पक्ष का जो विधान दिया गया है वह मध्ययुग की काव्य-चेतना को पूरी तरह अभिव्यक्त करता है। ठाकुर का अनुकरण करके और भी कवियों ने ऐसा ही मत व्यक्त किया।[1]

इस धारणा के अनुरूप ब्रजभाषा में जिस प्रकार की कविता का निर्माण हुआ वह कहीं कहीं अपनी कलात्मकता और भाव-गरिमा में इतनी विशिष्ट सिद्ध हुई कि एक ओर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य में प्राप्त विपुल मुक्तक काव्य

---

१ उदाहरणार्थ 'गुलाल' कवि का निम्नलिखित छंद ठाकुर के छंद से तुलनीय है--

उकति अनूठी आवै ललित नवीन पद,
आखर जमावै आछे अमल सुढार में।
अरथ अनूप रूप रस दरसावै पर,
वाद ना बनावै विस्व विविध विचार में।
कहत 'गुलाल' छंद आभरण राखै और,
अति रस भाखै पति वनिता-विहार में।
पूछे कहि आवै औ कहे पै गहि आवै वेगि,
सो कवि कहावै छवि पावै दरबार में।

से होड़ करने लगी दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के परवर्ती काव्य पर भी पूरी तरह छा गयी। यदि ब्रजभाषा में लिखित उद्धवशतक को अलग से न भी गिना जाय तो भी 'प्रियप्रवास', 'साकेत' और 'आँसू' आदि ऐसे अनेक काव्य द्विवेदी-युग तथा छायावाद-युग में लिखे गये जिन पर रीति कविता का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। प्रकट रूप से छायावादी कवियों ने रीतिकाव्य की तीव्र भर्त्सना की किन्तु अप्रकट रूप से उसके उक्ति-वैचित्र्य एवं शब्द-कौशलमूलक कलाप्रिय श्रृंगारिक स्वभाव को अपने ढंग से वायवी कल्पना और रहस्य-भावना से मंडित करके ग्रहण कर लिया। भाव का कितना भी सूक्ष्म विस्तार उसमें हुआ हो पर शिल्प की दृष्टि से अन्ततः छायावादी कविता कला-प्रधान कविता ही है। शुक्ल जी ने यद्यपि छायावाद के साथ पूरा न्याय नहीं किया फिर भी उसकी इस प्रकृति को परखने में उन्होंने चूक नहीं की। रीतिकाव्य का कला-पक्ष इतना समृद्ध है कि उसकी उपेक्षा सामन्ती आदर्शों और आकांक्षाओं का तिरस्कार करके भी नहीं की जा सकती।

भाव-सौन्दर्य

कुछ नीरस कृत्रिम तथा अत्युक्तिपूर्ण अपवादों को छोड़कर रीति-काव्य में प्रायः सर्वत्र भावमयता एवं रसात्मकता का विशेष आग्रह रहा है। स्वाभाविक रूप से, जो उत्कृष्ट भाव उत्पन्न हुए उन्हें तो काव्य-बद्ध किया ही गया इसके अतिरिक्त कवियों ने मुक्त हृदय से परम्परागत क्रम में उपलब्ध भाव-समृद्धि को भी अपने काव्य में समाविष्ट किया। इन स्वाभाविक और परम्परागत दोनों भाव-भूमियों से पृथक् एक तीसरी भूमिका भी रीति कवियों के भाव-विस्तार की मिलती है जहाँ उनकी प्रतिभा कदाचित सब से अधिक क्रियाशील दिखायी देती है और यह भूमिका है सजग एवं सचेष्ट रीति से भावों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बारीकियों, विभेदों और भंगिमाओं का निरूपण। इस क्षेत्र में 'रीति-कवियों की मौलिकता की विशेष रूप से सराहना की जाती रही है। बिहारी और देव के काव्य का गौरव अधिकतर इसी आधार पर परीक्षित हुआ है और केशव के काव्य की भर्त्सना भी इसी कारण की गयी। इसमें संदेह नहीं कि सचेष्टता के बाद भी जो भावोत्कर्ष अनेक स्थलों पर रीतिकाव्य में उपलब्ध होता है वह अपनी स्वतन्त्र महत्ता रखता है। सचेष्टता भी सर्वत्र एक रूप में नहीं मिलती। कहीं कहीं तो वह काव्य की विशेष प्रकृति बन कर उसमें सहज भाव से समाविष्ट हो गयी है, यहाँ तक कि उसका पृथक्करण असाध्य लगता है। रीतिकाव्य में व्यक्त भाव कवि के अपने तो प्रायः होते नहीं थे, कवि की कल्पना एवं स्वानुभूति से समर्थित भले ही हों। अतएव उसे इसका अभ्यास हो गया था कि जहाँ कोई उत्कृष्ट भाव सूझा, उसने तत्काल नायक-नायिका

भेद अथवा अन्य सुविज्ञात क्षेत्र में कहीं नकहीं उसको अवश्य गूँथ दिया। किन्तु बँधे-बँधाये ढाँचे के भीतर भी भावों की जो विविधता और अनेकरूपता मिलती है वह कवि-प्रतिभा की श्रेष्ठता का यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती है। रीतिकवि सामान्यतया भाव को सावयविक (organic) तथा चित्रात्मक (graphic) रूप में प्रस्तुत करने का आदी रहा है। यह उसके काव्य की प्रभविष्णुता का एक मुख्य रहस्य है। जो कवि इससे वंचित रहे वे रीतिकाल में भी सफल नहीं हो सके। उदाहरणार्थ नीचे एक पद्य उद्धृत है जो किसी उँगलियों पर गिने जाने वाले कवि का न होकर ऐसे कवि का है जिसका नाम भी लोग नहीं जानते।

मानी न मानवती भयो भोर सु सोच ते सोइ गये मनभावन।
तेह ते सासु कही दुलही भई बार कुमार कौ जाहु जगावन।
मान को सोच जगैबे की लाज लगी पग नूपुर पाटी बजावन।
सो छवि हेरि हेराइ रहे हरि, कौन को रूसिवो काको मनावन।

एक अप्रसिद्ध कवि का यह छंद इसलिए उद्धृत किया गया कि इससे जो तथ्य प्राप्त होगा वह इसका भी द्योतक होगा कि रीति-काव्य की चेतना गंभीर होने के साथ साथ अपने प्रसार में कितनी व्यापक भी थी। मानिनी नायिका की विविध मनोदशाओं का वर्णन प्रायः नायिकाभेद पर ग्रंथ रचने वाले प्रत्येक कवि ने किया है यहाँ भी उसी प्रकार का एक गार्हस्थिक सूक्ष्म भाव-चित्र प्रस्तुत किया गया है। पहली दो पंक्तियों में भाव की स्थिति और पूर्व-पीठिका का निर्देश किया गया है, तीसरी पंक्ति में भाव की सूक्ष्म द्विधा तथा जगाने की अनुपम विधि द्वारा दोनों भावों की रक्षा का संकेत है। चौथी पंक्ति इस रागात्मक व्यंजना का चरम विकास प्रदर्शित करती है जब नायक की सजगता और मुग्धता प्रकट होकर मान की सारी स्थिति को आमूल रसार्द्र बना देती है। भाव का उत्तरोत्तर उत्कर्ष उसकी द्विधा-पूर्ण गति का सूक्ष्म आलेखन और मान की काई के नीचे दबे हुए निविड़ पारस्परिक अनुराग के गहन जल का आवेग तथा अन्त में 'कौन को रूसिवो काको मनावन' जैसी बोलती हुई उक्ति से लज्जा और मान की द्विधा का परिहार एक प्रकार की ऐसी सावयविक भाव-योजना को उदाहृत करता है जो रीति-काव्य का एक प्रमुख गुण है और मतिराम, देव, बिहारी पद्माकर आदि सभी कवियों के काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। शिल्प-विधान की दृष्टि से इस प्रकार के रसात्मक भावाभिव्यंजन में एक प्रकार की नाटकीयता निहित रहती है और श्रोता का मन कल्पना के मनोगत रंगमंच पर सारे भाव-व्यापार को सजीवता के साथ प्रत्यक्ष घटित होता हुआ देखता है। चार ही पंक्तियों में 'विभावानुभावव्यभिचारि

संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' का सुदीर्घ सूत्र सूक्ष्म रूप में अनुकृत हो जाता है। ऐसे ही मुक्तकों को कदाचित् आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में 'पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष-रस-चर्वण-सामर्थ्य' से युक्त बताया है। राजतरंगिणी के नवम अध्याय मुक्तकों के विभेद देते हुए इन्हें 'संविधानक भूः' संज्ञा प्रदान की गयी है। राजशेखर ने शुद्ध, चित्र, कथोत्थ आदि जो अन्यान्य भेद दिये हैं उनके भी प्रभूत उदाहरण रीति-काव्य में मिलते हैं पर रसमयता अधिकतर उपर्युक्त प्रकार के मुक्तकों में ही पायी जाती है।

वस्तु संगठन की दृष्टि से कहीं कहीं मुक्तक-कला में रीति-कवि संस्कृत के कवियों से भी आगे बढ़ा हुआ दिखायी देता है। संस्कृत में सामासिक-पद्धति के कारण 'संश्लेष मुक्तक की प्रमुख विशेषता बन जाता था। हिन्दी में भाषा का स्वभाव संस्कृत से भिन्न होने के कारण भाव का संगठित निर्वाह कवि के अतिरिक्त कौशल का प्रमाण देता है। देव की निम्नलिखित भावमय उक्ति संगठन-कौशल अथवा 'संश्लेष' का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

झहरि झहरि झीनी बूँदनि परति मानों
घहरि घहरि घटा घेरि है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मोसों चलौ झूलिबे को आपु
फूली न समानी ऐसी भई हौं मगन में।
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोइ गये भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँखि खोलि देख्यौं तौ न घन हैं न घनस्याम
छाईं वेई बूँदें मेरें आँसु ह्वै दृगन में।

स्वप्न में देखी हुई वर्षा की बूँदें ही जागने पर मानो आँखों में छा गयीं, शेष सारा, घन और घनश्याममय वातावरण, विलुप्त हो गया। इसमें काव्य की चमत्कृति भावना से इतनी घनीभूत एकता रखती है दोनों की संश्लिष्ट प्रतीति होती है।

भक्ति-काव्य की लीलापरक भावस्थितियों का भी रससिक्त अंकन अनेक रीतिकवियों ने किया। यह अवश्य है कि भक्ति की प्रगाढ़ एकनिष्ठ तल्लीनता ऐसे मुक्तकों में उस प्रकार नहीं मिलती जैसे वह सूर, तुलसी और मीरा के पदों में प्राप्त होती है परन्तु देव और घनानन्द के कतिपय छंद भले ही उनकी संख्या बहुत अधिक न हो, बहुत दूर तक भावना के उसी स्तर तक पहुँचे हुए दिखायी देते

हैं। नीचे दोनों कवियों का एक-एक छंद प्रमाण स्वरूप उद्धृत है—

हौंही ब्रज वृंदावन मोंहि में बसत सदा
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि में सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसीबट तट नटनागर नटत मो में,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक तालताननि की,
तनक तनक तामें झनक चुरीन की।

अंतर हौ किधौ अंत रहौ, दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।
जो 'घनआनन्द' ऐसी रुची तौ कहा बस है अहा प्रानन पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें, धरनी में धसौं कि अकासहिं चीरौं।

पहला छंद रासलीला की ऐसी उदात्त आत्मगत (subjective) अनुभूति व्यक्त करता है जिसकी तुलना की पंक्तियाँ भक्ति काव्य में भी कठिनाई से खोजे मिलेंगी। दूसरे छंद की उत्कट विह्वलता भी इसी प्रकार अप्रतिम कही जा सकती है। तल्लीनता राधा-भाव की अपनी विशेषता है। रीति कवियों ने राधा को नायिका भेद के अन्तर्गत न जाने किन किन ऐसी भावनाओं से विभूषित किया है जो भक्त कवि के लिए सहज ग्राह्य नहीं हो सकती थीं परन्तु परम्परानुरूप कहीं कहीं शुद्ध राधा-भाव का रसात्मक आलेखन भी हुआ है जो सराहनीय है। एक अप्रसिद्ध कवि का छंद दर्शनीय है जिसमें राधा भावातिरेक में अपने को कृष्ण समझने लगती है; स्वयं अपने को ही पत्र लिखती है फिर उसे स्वयं ही पढ़ कर मुग्ध भी होती है—राधा की तन्मयता और कवि का वर्णन-कौशल दोनों एक साथ लक्षित होते हैं—

आपनी ओर की चाहै लिख्यो लिखि जाति कथा उत मोहन ओर की।
प्यारी दया करि वेगि मिलौ, सहि जाति विथा नहीं मैन मरोर की।
आपुही बाँचि लगावति अंक, अहो किन आनो चिठी चितचोर की।
राधिके राधे रही जकि भोर लौं, ह्वै गयी मूरति नंदकिसोर की।

यह मनोदशा तो मिलनातुरता की चरम अवस्था को घोषित करती है परन्तु इससे पूर्व की भी अनेक मार्मिक मानसिक दशाएँ कवियों ने कुशलतापूर्वक चित्रित

की हैं। मतिराम का निम्नोक्त छंद सूर की 'धूरि न भई पताका अंबर भई न रथ के अंग।' जैसी तीव्र मिलनोत्सुकताजन्य अभिलाषा का एक दूसरे संदर्भ में, सुकुमार रूप प्रस्तुत करता है—

क्यों इन आँखिन सौं निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नैकु निहारे कलंक लगै, यहि गोकुल गाँव बसे किमि जीजै।
होत यहै मन में मतिराम कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै।

एक अन्य कवि 'कालिदास' की राधा कृष्ण-रूप-दर्शन की लालसा के कारण प्रगल्भता के साथ उन्हीं से अपनी बेसर में उलझी लट सुलझाने का आग्रह करती है क्योंकि लट आँख के आगे आकर रूप-दर्शन में बाधक हो रही है और उसने अपने हाथों में मेंहदी रचा रक्खी है अतः स्वयं लट सुलझा नहीं सकती—

कुँवर कन्हैया मुख चंद की जुन्हैया चाहि,
लोचन चकोरन की प्यास निरबारि दै।
मेरे कर मेंहदी लगी है नंदलाल प्यारे,
लट उरझी है नेक बेसरि सुधारि दै।

बिहारी की राधा में इसी प्रगल्भता का दूसरा रूप मिलता है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाइ॥

और रसखान की राधा में तीसरा—

पै मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी।

इस प्रकार की अगणित श्रृंगारिक परिस्थितियाँ 'रति' की अनेकरूपता प्रदर्शित करने के लिए कवियों ने कल्पित कीं और उन्हें बहुधा विलास के गाढ़े रंग से अनुरंजित भी किया।

विलास से परे शुद्ध अनुराग की अनुभूति और अकलुष प्रेम-व्यथा का मर्म भी रीतिकवियों की भावात्मक परिधि में आ सका है। 'देव' जैसे विलासी कवि की निम्न पंक्तियाँ अपने लाक्षणिक सौन्दर्य से कहीं अधिक उस अन्तर्वेदना की मार्मिकता को व्यक्त कर रही हैं जो किसी भी भावशील प्राणी को कटु स्नेहानुभवों के बाद प्रायः सहज ही बेध जाती है।

हो तो जौ अजान तौ न जानतो इतीक बिथा,
मेरे जिय जान तेरो जानिबो गरे पर्‌यो।

कदाचित् इसी अनुभूति की सच्चाई और आत्ममंथन के परिणाम स्वरूप देव अंत में अपने विषयासक्त मन के हाथ पाँव न तोड़ पाने के लिए पश्चात्ताप करते दिखायी देते हैं।

घनानन्द में व्यथा की यह शुद्ध रागात्मक अनुभूति अपने चरम विकास पर पहुँच कर सूफियों की सी तीव्र तरल और रहस्यात्मक बिरहभावना से सम्पृक्त होती दिखाई देती है। समस्त रीतिकाव्य को घनानन्द का विरहज्वलित, स्नेहसिक्त व्यक्तित्व 'छवि-गृह' को 'दीपशिखा' की तरह आलोकित करता दिखायी देता है। यह उनकी 'नेह की पीर' का ही प्रसाद था जो वह कह सके—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।

उत्कट एवं प्राण-दाही रूप-पिपासा, समर्पण की सहजता से युक्त संवेदनीयता, नैराश्य की निविड़ता के बीच भी स्थिर और प्रकट दीखने वाली अनन्यता तथा विरह-मिलन की स्थितियों के बीच चातक की सी कातरता, घनानंद की कविता की कुछ ऐसी स्वाभाविक विशेषताएँ हैं जो रीतिकाव्य में अपवाद रूप से स्थित होकर भी उसे पर्याप्त गौरव प्रदान करती हैं। घनानन्द की अन्तर्स्पर्शी भावमयता के कतिपय उदाहरण दर्शनीय हैं। इन में संक्षिप्त रूप से उनकी सुजान विषयक सारी भावकथा के सूत्र निहित हैं।

१. रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारियै।
त्यों इन आँखिन बानि अनोखी, अघानि कहूं नहीं आनि तिहारियै।

२. ऐसो हियो हित-पत्र पवित्र जो आन कथा न कहूँ अवरेख्यो।
सो घनआनन्द जान अजान लौं टूक कियो, पर बाँचि न देख्यो।

३. जान उजियारे गुन भारे अंत मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह विथा की मूरि, आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पाँयनि की हाहा नैकु आनि दै।

४. घनआनन्द जीवनदायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आंगन मो अँसुवानहिं लै बरसौ।

५. एक बिसास की टेक गहे लगि आस रहे बसि प्रान बटोही।
हौं घनआंनद जीवनमूल दई कत प्यासन मारत मोही।

६. बहुत दिनान के अवधि आस पास परे
खरे अरबरनि भरै हैं उठि जान को।

अधर लगे हैं आनि करिकै पयान प्रान
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को।

रीति-काव्य धारा में बोधा और ठाकुर से लेकर भारतेन्दु तक घनानन्द की इस समर्पणमयी प्रेमव्यथा का स्निग्ध प्रसार लक्षित होता है। अलंकरण, वस्तु-संगठन तथा वचन-वक्रता का आग्रह जो रीतिकाव्य में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है, यहाँ भी दृष्टिगत होता है किन्तु भावना के उमड़ते हुए वेग में पड़कर उसकी सत्ता तिरोहित सी हो जाती है।

लाक्षणिकता और चित्रात्मकता

भावना की यह सुकुमारता और सुन्दरता अपने अनुरूप नवीन अछूती उपमाओं, परिकल्पनाओं तथा लाक्षणिक प्रयोगों की उद्‌भावना में सहायक हुई फलतः कहीं-कहीं अप्रत्याशित रूप से ऐसे अंश भी मिल जाते हैं जिन्हें देख कर किंचित आश्चर्य होता है कि किसी रीतिकवि का परम्परानुसारी सौन्दर्य-बोध उन्हें रचने में कैसे समर्थ हुआ। **'हास गयो उड़ि हंस की नाईं'** ; **'जस पुंडरीक को अकास चंचरीक है।'** ; **'ब्रज-पौरि 'बिथा की कथा बिथुरी है।'** ; **'मंजुल मंजरी पंजरी सी ह्वै'**; **'फूल से फैलि परे सब अंग'**; **'माखन सो मन दूध सो जोबन'**; **'पुकार मधि मौन'**; **'बैठे पीठि पहिचानि दै'** जैसे पदांश इसी प्रकार के हैं। इनका ताजा टटकापन इन्हें अपने में विशेष आकर्षक बना देता है। कुछ ऐसी ही ताज़गी कभी-कभी उन रूप चित्रों में भी मिलती है जो सीधे ग्रामीण वातावरण से चुन कर सहज रूप में काव्य-बद्ध कर दिये गये हैं। वे भी रीतिकवि की सामान्य अलंकार-प्रियता से पृथक् और इसीलिए विशेष आकर्षक दिखायी देते हैं। प्राकृत-अपभ्रंश के मुक्तकों में ऐसे सहज सौन्दर्य का चित्रण बहुधा मिलता पर हिन्दी रीति-काव्य में वह उतना नहीं प्राप्त होता। बिहारी के कुछ दोहे ऐसे ही रूप-चित्र प्रस्तुत करते हैं—

गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार।
हूठ्यो दै इठलाइ दृग, करै गँवारि सु वार।
गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़।

रूप-वर्णन तो अनेक कवियों ने अनेक प्रकार से किया है पर रीति-कवि के पास गतिशील रूप चित्रों को सजीवता के साथ प्रस्तुत करने की ऐसी विशिष्ट कला थी कि लगता है मानों उनमें राजस्थानी और काँगड़ा शैली के चित्रों की सम्पूर्ण आत्मा अर्थ-वर्ण-शब्द-रेखाओं में उतर आयी हो। दृश्येतर माध्यम भी दृश्य को

इतनी सजीवता और पूर्णता से कल्पना-पट पर अंकित करके प्रत्यक्ष कर सकता है यह उन रूप-चित्रों को देखकर ही विश्वास किया जा सकता है—

देव—

१. सखियान के आनन इंदुन तें अँखियान की बंदनवार तनी।

२. ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँसै कर ठोढ़ी दिये ठकुराइनि।

३. ठाढ़ी बड़े खन की, बरसैं बड़री अँखियान बड़े बड़े आँसू।

पद्माकर—

१. छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि मंदिर दुआर पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर।

२. घाँघरे की घूमनि सु ऊरुनि दुबीचे दाबि
आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि अधर दाबि दूनरि भई सी चापि
चौबर पचौबर कै चूनरि निचोरै है।

३. धरत जहाँई जहाँ पग है सु प्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात।
हारन ते हीरे झरें, सारी के किनारन तें,
बारन ते मुकुता हजारन झरत जात।

वर्ण-बोध तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण

इन रूप चित्रों में पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता तथा परिष्कृत वर्ण-बोध के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। पद्माकर के उपर्युक्त अंतिम उदाहरण की पहली दो पंक्तियों में महावर-रंजित पदों की लालिमा का अतिरंजित चित्रण है जो कवि की वर्ण-प्रियता प्रकट करता है। अन्य रीतिकवियों में भी यह वर्ण-प्रेम स्पष्टतया लक्षित होता है। पदों की लालिमा का ही वर्णन 'नृपसंभु' नामक एक अपेक्षाकृत अपरिचित कवि की इन पंक्तियों में दर्शनीय है—

पाँय धरै ढरै ईंगुर सो तिन में मनि पायल की घनी जोति है।
हाथ द्वै तीनि लौं चारिहूँ ओर ते चाँदनी चूनरी के रंग होति है।

निश्चय ही 'नृपसंभु' का यह वर्णन पद्माकर से उत्कृष्ट और कोमलतर है। गंग, सेनापति तथा बिहारी की निम्नलिखित पंक्तियों में ऐसे ही वर्ण-बोध के अन्य

उदाहरण मिलते हैं जिनमें सूक्ष्म निरीक्षण भी निहित है—

(i) कज्जल चारु दिये अँगुरी तेहि मैं मेंहदी रंग अंजन को।
ऐसी जँची हिय मैं उपमा मनौं गुंज चुगावति खंजन को।

(ii) सेनापति माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाउ कविता के मन आये हैं।
आधे अनसुलगि सुलगि रहे आधे मानौ
बिरही दहन काम क्वैला परचाये हैं।

(iii) अधर धरत हरि के परत ओंठ डीठि, पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्रधनुष दुति होति॥

यह अवश्य है कि यह सारा वर्ण-बोध अतिरंजना और वैचित्र्य पर ही अधिक आश्रित है। कवि की नितान्त स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में वर्ण-प्रियता कम ही उपलब्ध होती है। रीतिकवि की आँख जैसे अलंकरण पर अटकती थी वैसे ही वर्णाढ्यता पर भी टिकती थी और हलके दबते हुए और आपस में घुलते रंगों की अपेक्षा चटक, उभरे हुए और अमिश्र रंग ही उसे विशेष प्रिय थे ऐसा लगता है। मध्यकालीन चित्रों में भी ऐसा ही सुथरा वर्ण-विन्यास मिलता है। जिस वातावरण में रीति-कवियों का सौन्दर्य-बोध विकसित हुआ उसमें ऐसी वर्ण-रुचि होना स्वाभाविक ही था।

रीतिकवि का सूक्ष्म निरीक्षण वर्णों तक ही सीमित नहीं था वह रूप-आकार, प्रकृति और मानव स्वभाव के क्षेत्रों तक भी व्याप्त था। बारीक बातें बारीकी के साथ कहना या कहने का उद्देश्य रखना रीतिकवि की अपनी विशेषता कही जा सकती है। यह मनोवृत्ति भी मध्यकालीन कला और शिल्प में स्पष्टतया लक्षित होती है। फारसी और उर्दू साहित्य में भी यह मनोवृत्ति 'रगे गुल से बुलबुल के पर बाँधते हैं।' तक पहुँची हुई दिखायी देती है। रीतिकवि के मानस का घटन इन सभी के प्रभावों से सम्पृक्त होकर हुआ। बिहारी की बारीक-ख़याली की दाद उर्दू फ़ारसी लहज़े में पद्मसिंह शर्मा जैसे भावुक समीक्षक द्वारा इतनी अधिक दी जा चुकी है कि उसको दोहराना व्यर्थ होगा फिर वह किसी दूसरे के बूते की बात भी नहीं है। आज उस प्रकार मुक्त हृदय होकर शायद ही कोई विज्ञ समीक्षक उतनी दाद दे पाये।

अतिरंजना और उक्ति-वैचित्र्य—

रीतिकाव्य में निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रायः जब भी व्यक्त की जाती थी तो उसमें स्वभावतः अतिरंजना और वैचित्र्य का पुट मिला दिया जाता था। अधिकांश

वैचित्र्यपूर्ण हृदयग्राही उक्तियों का विश्लेषण करने पर उनके मूल में सूक्ष्मता और अतिरंजना का समावेश मिलता है। थोड़ी-बहुत अतिरंजना और वचनवक्रता तो काव्य में प्रकृत्या आ जाती है परन्तु रीतिकवि तो उसे लाने के लिए प्रयत्नशील रहता था। 'बात अनूठी बनाई सुनावै' लिख कर ठाकुर ने इस मनोवृत्ति का सही परिचय दिया है।

रीतिकवि का कल्पना-विलास भी अधिकतर अतिशयोक्ति के अनुकूल स्थितियों की मानसिक उद्भावना और उसमें से वैचित्र्य के साधक तत्वों को चुन कर कलात्मक संगठन द्वारा उन्हें प्रस्फुटित एवं प्रशस्त बनाकर व्यक्त करने में निहित मिलता है। उसका अप्रस्तुत-विधान सीमित और रूढ़ होते हुए भी उसके अभिनव परिकल्पन और संयोजन द्वारा बार-बार पुनर्जीवन प्राप्त करता दिखायी देता है। जहाँ इन वस्तुओं का अभाव है वहाँ निर्जीवता स्पष्ट हो जाती है पर सामान्य रूप से रीतिकवि अपनी सीमाओं से भलीभाँति परिचित और अपने कवि-कर्म के प्रति पर्याप्त सजग प्रतीत होता है। अतिरंजना रीतिकवि की कल्पना की विशेषता है और वैचित्र्य उसकी अभिव्यंजना का गुण। दोनों की संश्लिष्ट योजना उसके काव्य को विशिष्टता प्रदान करती है। अतिरंजना एक प्रवृत्तिगत विशेषता के रूप में तो प्रायः समस्त रीतिकाव्य में उपलब्ध होती है परन्तु कुछ विषयों में उसका आधिक्य परम्परागत रूप में मिलता है। ऐसे विषयों में रूप-वर्णन, विरह-वर्णन, वीरता-वर्णन तथा आश्रयदाता की प्रशंसा आदि प्रमुख हैं। रूप-वर्णन के अन्तर्गत नख-शिख की पूर्णता, देहद्युति, अधरदल, करतल और पदतल की लालिमा, नेत्रों की विशालता, कटाक्ष की तीव्रता, उरोजों की पीनता एवं कठोरता, कटि की क्षीणता, केशों की दीर्घता, सघनता तथा श्यामता, अंगों की स्वच्छता एवं सुकुमारता, अंग-सुरभि, हँसी की शीतलता और धवलता, वाणी की मधुरता, गति की मंथरता तथा नारी-सौन्दर्य के आदर्शीकरण के अनुरूप अन्यान्य वस्तुओं की अतिशयता का समावेश रहता है। विरह-वर्णन में वियोगजन्य ताप, क्षीणता, निश्वासों की उष्णता, अश्रुओं की अधिकता और वेग, विरह रात्रि की दीर्घता, सहज शीतल पदार्थों की दुखःदग्धता, अनुकूल प्रभाव की प्रतिकूलता प्रलय उन्माद और जड़ता इत्यादि को लेकर अत्युक्ति की जाती है। वीरता में रणशौर्य, कृपाण-कौशल, हाथियों की ऊँचाई और मद, अश्व और तलवार की त्वरा-गति, रक्त-प्रवाह, युद्धोन्माद शत्रु-पक्ष की दुर्दशा तथा स्त्रियों की भयातुरता आदि का अतिरंजन मिलता है। आश्रयदाता की प्रशंसा में यश की धवलता, दानशीलता, ऐश्वर्य की विपुलता आदि को बढ़ा-चढ़ा कर चित्रित किया जाता है और निंदा में प्रदत्तवस्तु

की निकृष्टता तथा दाता की सूमता का भारी बखान रहता है। इन विषयों को को देखने से यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि अतिरंजना की प्रवृत्ति रीतिकवियों में कितनी व्यापक और प्रगाढ़ है क्योंकि लगभग यही सब विषय समस्त रीति-कविता के प्रमुख विषय रहे हैं।

अतिरंजना भाव-तत्व के लिए सहायक, उत्कर्षक तथा अपकर्ष-कारक तीनों ही स्थितियों में देखी जाती है। 'सहायक' की स्थिति में भाव से पृथक् उसका अस्तित्व प्रतिभासित नहीं होता। स्थायीभाव से उसका सहज संश्लेष हो जाता है। उत्कर्षक और अपकर्षक रूप में वह स्पष्टतया पृथक् प्रतिभासित होती है किन्तु मूल भाव का पोषण एवं परिवर्धन करके उसमें विशेष प्रभविष्णुता ला देने पर उत्कर्षक कही जाती है और इसके विपरीत, भाव की शोषक और प्रभाव की नाशक होकर अपकर्षक कहलाती है। काव्य की सफलता के लिए पहली दो स्थितियाँ ही वांछनीय हैं परन्तु तीसरी स्थिति के उदाहरण भी रीतिकाव्य में इतने मिलते हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्हीं के कारण रीति कविता वहुधा अगंभीर ठहरायी गयी और बदनाम भी हुई। भाव से संश्लिष्ट सहायक अतिरंजना के उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

देव—रावरो रूप पियो अँखियान भर्‌यो सो भर्‌यो उबर्‌यो सो ढर्‌यो परै।
मतिराम—ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनन त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।

स्पष्ट और उत्कर्षक अतिरंजता के उदाहरण इस प्रकार हैं—

सेनापति—आई औधि आवन की लाल मन भावन की
डग भई बावन की साँवन की रतियाँ।
पद्माकर—किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।

प्रकट और अपकर्षक अतिरंजना के भी कतिपम नमूने दर्शनीय हैं—

बिहारी— इत आवत चलिजात उत चली छसातक हाथ।
चढ़ो हिंडोरैं सी रहै लगी उसासनु साथ।
आड़े दै आले बसन जाड़े हू की राति।
साहस ककै सनेह बस सखी सबै ढिंग जाति।
वुधि अनुमान प्रमान स्त्रुति किएँ नीठि ठहराइ।
सूछम कटि परब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाइ।
आलम—साँझ भई भौन सँझवाती क्यों न देति है री!
छाती सों छुवाइ दिया बाती क्यों न बारि लै।

दास— प्यारी को परसि पौन गयो मानसर पँह,
लागत ही औरं गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी।

पद्माकर—तौही लगि चैन जौ लौं चेतिहै न चन्द्रमुखी,
चेतैगी कहूँ तो चाँदनी में चुरि जायगी।

ग्वाल—तांदुर लै आई तिया आँगन में ठाढ़ी भई,
कर के पसारिबे में भात हाथ में भयो।

मतिराम—देखि परै नहि दूबरी सुनिये स्याम सुजान।
जानि परै परजंक में अंग आँच अनुमान॥

रसलीन—अधर परसि मीठी भई, दई हाथ ते डारि।
लावति दतुअनि ऊख की नोखी खिदमतगारि।

अज्ञात—नारी छूवत वैद के परे फफोले हाथ।

उर्दू फारसी साहित्य में मुबालगा काफी मिलता है और उसकी भी स्थिति प्रायः ऐसी ही है—

इन्तहाए लाग़री से जब नज़र आया न मैं।
हँस के वो बोले कि अब बिस्तर को झाड़ा चाहिए।

पद्मसिंही आलोचना में बिहारी की दाद देने के लिए ऐसे अनेक उदाहरण खोजखोज कर प्रस्तुत किये गये हैं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ऐसी अतिरंजना से बहुत चिढ़ते थे। अपने कई निबन्धों में उन्होंने रीतिकवियों की इस मनोवृत्तिकी जी भर खबर ली है।

अतिरंजना कहाँ, कब और क्यों उत्कर्षक होते होते अपकर्षक हो जाती है यह एक ऐसी समस्या है जो स्वतन्त्र चिंतन की अपेक्षा रखती है। यहाँ दो-एक उदाहरणों से समस्या की ओर संकेत मात्र कर देना ही अभीष्ट है। कटाक्षों की तीव्रता के विषय में मुबारक की अतिरंजनात्मक उक्ति '**काजर दै नहीं एरी सुहागिनि आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन**' प्रसिद्ध ही है और यह भी विदित है कि शुक्ल जी के मन में उससे क्या भावना उत्पन्न हुई। कवि का कदापि यह उद्देश्य नहीं रहा होगा कि वह कटाक्षों की तीव्रता बता कर उनके द्वारा साग काटने के स्थूल उपयोग की कल्पना रसिक के मन में उत्पन्न करे पर वैसा हुआ इसलिए कि कटाक्ष से उँगली कट जाने की बात में अतिरंजना संभावित की सीमा पार करके असंभव का आश्रय ले उठी। एक कवि ने '**जोर न अंजन देहु सखी अंगुरी कटि जै है कटाच्छ की कोरन**',

लिख कर कुछ सुधार करना चाहा पर हुआ नहीं। पूर्वोद्धृत अन्य उक्तियाँ भी प्रायः इसी कारण हास्यास्पद प्रतीत होने लगती हैं। पर कटाक्षों की तीव्रता का ऐसा ही वर्णन मतिराम ने मध्या विप्रलब्धा के उदाहरण में किया है और वह संभावित की सीमा का अतिक्रमण करता प्रतीत नहीं होता—

भूलि हुलास विलास गये दुख ते भरिकें अँसुवा उमहे हैं।
ईछन छोरनि ते न गिरे मनौं तीछन कोरनि छेदि रहे हैं।

इसका कारण यह है कि एक तो आँख और आँसू का स्वाभाविक सान्निध्य है दूसरे आँखों की कोर पर आँसू का आकर रुक जाना भी एक सहज स्थिति है तीसरे तरल प्रकृति के कारण आँसू का विद्ध हो जाना दुष्कर नहीं है और चौथे सारी बात उत्प्रेक्षा के द्वारा कही गयी है अतः उसकी वास्तविकता की कल्पना भाव में व्याघात नहीं प्रस्तुत करती वरन् उसे उत्कर्ष ही प्रदान करती है। कटाक्ष से उँगली के कट जाने की संभावना में उक्त सभी बातें उपलब्ध नहीं होतीं और उससे कटाक्ष की तीक्ष्णता के साथ-साथ कठोरता भी व्यंजित होती है जिससे श्रोता का सौन्दर्य-बोध बाधित हो जाता है और वह अन्यथा कल्पना करने लगता है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। द्विजदेव ने नैश-प्रकृति की रमणीयता का अत्यन्त सुकुमार वर्णन करते हुए लिखा—

चाँदनी के भारन लगत उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन।

यहाँ चाँदनी और गंध जैसे अमूर्त पदार्थों में भार की कल्पना करते हुए कवि ने चंद्रमा के निकल आने और पवन के मंदगति से प्रवाहित होने का हेतु उत्प्रेक्षित किया है। ठीक इसी ढंग पर द्विजदेव से पूर्व ही बिहारी लिख चुके थे—

भूषन-भारु संभारिहै क्यों इहि तन सुकुमार।
सूधे पाँय न परत मग सोभा ही के भार॥

यहाँ शोभा के भार की कल्पना सूक्ष्म चमत्कारिक एवं प्रभावोत्पादक है परन्तु पैरों का सीधे न पड़ना स्वाभाविक स्थिति नहीं है अतएव जितना सौकर्य एवं सौन्दर्य द्विजदेव की कल्पना में प्रतीत होता है उतना बिहारी की कल्पना में नहीं मिलता। द्विजदेव की पंक्तियाँ अधिक काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

आँखों की विशालता स्त्री-सौन्दर्य का एक प्रमुख लक्षण मानी गयी है, रीति कवि ने तरह तरह से इसे व्यक्त किया है जिसमें अतिरंजना स्वाभाविक रूप से समाविष्ट मिलती है। 'कान्ह' नामक एक कवि ने नेत्रों के 'काननचारी' पन को वास्तविक रूप में ग्रहण करके राधा के साथ आँखमिचौनी खेलने के प्रसंग में सखी

की उक्ति के रूप में लिखा—

कानन लौं अँखियाँ यै तिहारी
हथेरी हमारी कहाँ लगि फैलि हैं।
राधे जू मानो भलो कि बुरो
अँखमीचनी तोसों नहीं हम खेलि हैं।

इस उक्ति में अतिशयता होते हुए भी वह प्रसंग के द्वारा मर्यादित हो गयी है। पर 'दास' ने राधा के नेत्रों की विशालता का जो तारतम्य कृष्ण के विराट रूप को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत किया है वह दुरूह और विचित्र प्रतीत होता है—

होत मृगादिक ते बड़े वारन
वारन वृंद पहारन हेरे।
सिंधु मैं केते पहार परे,
पुहुमी मैं विराजत सिंधु घनेरे।
लोकनि मैं पृथिवी त्यों किती,
हरिवोदर मैं बहु लोक बसेरे।
ते हरि 'दास' बसै इन नैनन
एते बड़े दृग राधिका तेरे।

परिहास और व्यंगोक्तियों में अवश्य अतिरंजना सीमा पार करके भी बहुधा हास्यास्पद नहीं होने पाती क्योंकि प्रसंग और वातावरण की अनुकूलता उसकी सहायक होती है। हास्य और व्यंग्य विकृतियों से ही उद्भूत होते हैं और अतिरंजना उनको उभारने का कार्य करती है फलतः कोई अन्य कलात्मक त्रुटि या अश्लीलता न होने पर अतिरंजना द्वारा प्रभाव प्रायः तीव्रतर ही हो जाता है। आश्रयदाताओं की सूमता तथा उनके द्वारा प्रदत्त वस्तुओं की हीनता दिखाते हुए रीतिकवियों ने जो व्यंगोक्तियाँ की हैं वे इस दृष्टि से विशेष दर्शनीय एवं मनोरंजक हैं—

१. कारीगर कोई करामात ते बनाय ल्ययो,
लीनी दाम थोरी जानि नयी सुघरई है।
रायजू को रायजू रजाई दीन्ही राजी ह्वै कै,
सहर में ठौर ठौर सोहरत भई है।
बेनी कवि पाय के अबाय रहे घरी दोय,
कहत बनै न कछु ऐसी मति ठई है।
साँस लेत उड़िगो उपरला और भितरला,
दिना दू की बाती हेतु रुई रहि गई है।

२. तिमिरलंग लइ मोल, चली बाबर के हलके।
रही हुमायूँ संग फेरि अकबर के दल के।
जहाँगीर जस लियो पीठि को भार हटायो।
साहजहाँ कर न्याय ताहि पुनि माड़ चटायो।
बल रहित भई, पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार डर।
औरंगजेब करिनी सोई लै दीन्हीं कविराज कर।

३. चींटी की चलावै को मसा के मुख आय जाय
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाये मरु मरु कै निहारे जात,
अनुपरमानु की समानता खगत है।
बेनी कवि कहैं हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरे जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सों लगत है।

४. साल भरे पर पथ्य लियो षटमास उपास कियो फिरि ऐंठ्यो।
माधौ कहैं नित मैल छुड़ावत दाँत तुराय दिये घौ कएठ्यो।
कोऊ कछूक जो देइ खवाइ तौ कै करि डारत सोच में पैठ्यो।
मूड़ घुटाय और मूछ मुड़ाय त्यों फस्त खुलाय तुला चढ़ि बैठ्यो।

५. साल छसात की दाल दराय के साह कह्यो यह लेहु नई है।
फूँकि दई लकरी बहुतेरिक साँझि ते आधिक राति लई है।
खाय लयो अकुलाइ कै काँचि ही चाकरि चूल्हनि हारि गई है।
खोय दियो मुजरा दरबार को दाल दधीचि की हाड़ भई है।

६. चींटी न चाटत मूसे न सूँघत, बास ते माछी न आवत नेरे।
आनि धरे जव ते घर में तब ते रहै हैजा परोसिन घेरे।
माटिहु मैं कछु स्वाद मिलै इन्हें खाय सो ढूँढत हर्र बहेरे।
चौंकि पर्यो पितलोक में बाप सो आप के देखि सराध के पेरे।

यह उक्तियाँ कवियों की खीझ की द्योतक हैं। जो सहनशील गंभीर और उदार प्रकृति के कवि थे उन्होंने इस प्रकार का कटु व्यंग नहीं किया पर रीतिकाल में ऐसे अनेक साधारण कवि मिलते हैं जिन्होंने सुरुचि का त्याग करके अपने तीव्र क्षोभ को व्यक्त किया है। उन स्थलों पर की गयी अतिरंजना कुरुचिपूर्ण एवं असहिष्णुता

की परिचायक होने के कारण काव्य की उपकारक नहीं रह गयी। ऐसे कुछ उदाहरण रीतिकवि की आर्थिक स्थिति की चर्चा करते हुए अन्यत्र दिये गये हैं।

भावापहरण और स्पर्धा-भाव—

मुक्तक-काव्य का मूल चारुत्व अधिकतर नयी उक्ति, नयी भावभंगिमा अथवा नये वर्णन कौशल में निहित रहता है। मधुप की तरह ललित भावों की खोज में सदा व्यस्त रहना भावुक मुक्तक कवि का स्वभाव है। इसके लिए अपनी भाषा के समसामयिक तथा प्राचीन साहित्य तक ही उसका क्षेत्र सीमित नहीं रहा है वरन् इतर भाषाओं के साहित्यों से भी अपनी क्षमता के अनुसार उसने सूक्तियों तथा ललित भावों की खोज की है। रीतिकवि का परिचय संस्कृत साहित्य से विशेष था। कुछ कवि प्राकृत-अपभ्रंश से भी परिचित थे। यों संस्कृत काव्य-शास्त्रों में भी उदाहरणस्वरूप प्राकृत के बहुसंख्यक मुक्तक दिये गये हैं। काव्य-मर्मज्ञों ने रीतिकाव्य का अनुशीलन करके इस बात की ओर स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि बिहारी आदि अनेक रीतिकवियों ने प्राचीन संस्कृत-प्राकृत काव्य से यथेष्ट भावापहरण किया है। दरबारी काव्य में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का विशेष स्थान रहता है और इसके अनेक रोचक उदाहरण मिलते हैं कि राज-सभाओं में बाहर से आने वाले कवि को पहले सभा-कवि के समक्ष अपनी प्रतिभा प्रमाणित करनी होती थी जिसका साक्षी कभी-कभी सारा दरबार रहा करता था। यदि आगंतुक कवि तुल्य प्रतिभा का हुआ तो स्पर्धा-भाव विशेष मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण होता था। इस प्रकार समसामयिक कवियों में स्पर्धा-भाव की स्थिति तत्कालीन वातावरण और दरबारी परम्परा को देखते हुए सरलता से समझी जा सकती है। उर्दू में भी **'देखें इस सेहर से कह दे कोई बढ़कर सेहरा'** अथवा—

> **'न हुआ पर न हुआ मीर का अंदाज नसीब,**
> **जौक यारों ने बहुत जोर गजल में मारा।'**

जैसी पंक्तियाँ इसी स्पर्धा-भाव की द्योतक हैं। गालिब, जौक अनीस और दबीर तथा मसहफ़ी और इंशा आदि के एक-दूसरे को नीचा दिखाने के तेवर उर्दू साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय हैं। 'बिहारी और देव' का युग्म भी कुछ इसी रूप में हिन्दी साहित्य में स्मरण किया जाता है पर देव बिहारी के समकालीन नहीं थे फलतः उनका स्पर्धा-भाव दूसरे ढंग का है। ब्रजभाषा के रीति-काव्य में इस प्रकार की स्पर्धा अधिक मिलती है जहाँ कवि दरबार की पृष्ठभूमि के विना भी, स्वयमेव किसी पूर्ववर्ती कवि की उक्ति या भाव से आगे बढ़ जाने की भावना रखकर काव्य-सृजन में प्रवृत्त होता है। उसकी स्पर्धा अपने समय या अपने समकालीन

कवियों की सापेक्षता में ही क्रियान्वित नहीं हुई वरन् उसने व्यापक रूप से अपने को एक परम्परा का अंग और उत्तराधिकारी मानते हुए उसके संवहन एवं संवर्धन का सजग प्रयत्न किया है। दरबारी समसामयिक स्पर्धा इस व्यापक स्पर्धा-भाव का ही एक सीमित और विशेष रूप कही जा सकती है। प्राचीन कवि जहाँ तक पहुँच गये उसके आगे एक पग बढ़ना भी दरबार में प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए पर्याप्त था क्योंकि उस समय कला के पारखी प्रायः दरबारों के आसपास ही केन्द्रित रहा करते थे। श्रेष्ठ कवियों ने अधिकतर अपने दायित्व को समझते हुए प्राचीन भावों को या तो अतिशय मुग्धता से वशीभूत होकर अपने काव्य में समाविष्ट किया है या उन्हें उत्कृष्टतर बना कर अपनी प्रतिभा को सक्षम प्रमाणित करने की लालसा उनमें रही है। बिना ऐसी किसी भावना के जहाँ यों ही प्राचीन भावों को कवियों ने सामान्य रूप से अपना लिया है वहाँ 'भावापहरण' की स्थिति ही मानी जायेगी, जिसकी, परम्परानुसरण के अतिरिक्त, और कोई विशेष सार्थकता सिद्ध नहीं होती। कुछ स्थलों पर भावों की समता इस प्रकार भी मिलती है जिसको देख कर यह कहना संभव नहीं होता कि कवि ने अनुकरण या अपहरण किया है। लगता यही है कि सादृश्य अयत्नज और स्वाभाविक है क्योंकि एक जैसी स्थिति में एक जैसा भाव स्वतंत्र रूप से भी दो कवियों के हृदय में आ सकता है। कभी कभी प्राचीन कवियों के भावों को अपहृत करके कवियों ने उनकी मार्मिकता, लाक्षणिकता तथा प्रभविष्णुता को न्यून या विनष्ट भी कर दिया है ऐसी दशा में प्रतिभा और दायित्व की हीनता के अतिरिक्त और कोई श्रेय उन कवियों को नहीं दिया जा सकता। रीतिकाव्य में ऐसे भी उदाहरण कम नहीं मिलते जहाँ प्राचीन कवियों की उत्कृट भाव-योजना को, कभी संक्षिप्त करने के प्रयत्न में और कभी नासमझी या असमर्थता के कारण, विकृत कर दिया गया है।

काव्यमीमांसा में जहाँ कवि और कविता संबंधी अन्यान्य बातों पर विचार किया गया है वहाँ 'अपहरण' की समस्या पर भी राजशेखर ने पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। इस दृष्टि से काव्यमीमांसा के प्रथम अधिकरण के एकादश और द्वादश अध्याय पठनीय हैं। प्रतिविम्बकल्प, आलेख्य-प्रख्य, नटनेपथ्य, खंड, सम्पुट आदि अनेक भेद किये गये हैं जो अपहरण की विभिन्न स्थितियों के द्योतक हैं। सिद्धान्त रूप में ग्रंथकार का मत है कि वणिकों की तरह सभी कवि किसी-न-किसी रूप में चोरी करते हैं पर जो छिपा लेते हैं वे ही कुशल कहे जाते हैं—

नास्त्यचौरः कवि जनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥

संस्कृत-काव्य और रीतिकवि—

हिन्दी साहित्य में भावापहरण, भाव-सादृश्य तथा भाव-परिष्कार इत्यादि मुख्य स्थितियों की चर्चा बिहारी के काव्य को लेकर विशेष रूप से हुई है। किसी संस्कृत कवि की उक्ति है—

नूनंछमिच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति ।

बिहारी के एक दोहे में यह तद्वत् समाविष्ट करली गयी है।

अँसुआ ढरि छतियाँ छनकु छनछनाय छपि जायँ।

यदि बिहारी ने पूर्वोक्त संस्कृत उक्ति को देख कर अपना दोहा लिखा तो निश्चय ही भावापहरण किया पर बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि भाषा की किसी सुन्दर उक्ति को स्वतः संस्कृत श्लोक में बाँध कर पंडित लोग संस्कृत भाषा की महत्ता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि देखो यह भाव भी संस्कृत में मिलता है। वास्तविकता का निर्णय तो अपेक्षित प्रमाणों के आधार पर ही किया जा सकता है। यों बिहारी ने संस्कृत से बहुसंख्यक भाव अपहृत किये जिसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं अतएव ऊपर की उक्ति भी ली गयी हो यही संभव है।

बिहारी का 'अली कली' वाला सुप्रसिद्ध दोहा इस प्राकृत गाथा से अनुप्रेरित बताया जाता है—

जावण कोस विकास पावइ ईसीस मालई कलिया।
मअरंद पातासोहिल्ल भमर तावच्चिय मलेसि॥

संस्कृत कवयित्री विकटनितम्बा का भी एक पद्य इसी भाव का मिलता है।[1]

अमरुशतक की निम्न उक्ति को दोहे के छोटे कलेवर में बाँध कर बिहारी ने उसके सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है ऐसा उनके एक आलोचक का मत है।[2] यद्यपि पद्मसिंह शर्मा के मत से बिहारी ने अपने शब्द संगठन में 'अँगूठी पर नगीने जड़ दिये हैं।'

अमरुक—शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनैः।
निद्राव्याज मुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

१—(साहित्य) समालोचक, १९२५-२६, भाग २, संख्या १-२, पृ० ११९

२—पद्य और दोहा दोनों नायिकारब्ध संभोग-शृंगार के उदाहरण होते हुए भी पद्य में दोहे की अपेक्षा (शून्यवास रूप उद्दीपन विभाव और मुख निर्वर्णन रूप अनुभाव) रस-सामग्री अधिक है। इसके अतिरिक्त दोहे का नायक केवल हँसोड़ ही है। रसिकता उसमें कुछ भी नहीं है।'—पृ०७३

विस्रब्धं परिचुम्ब्यजातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम् ।
लज्जानम्रमुखीं प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥७७॥

बिहारी—हौं मिसहा सोयो समुझि मुँह चूम्यो ढिग जाय ।
हस्यो, खिसानी, गरगह्यो, रही गरे लपिटाय ॥

कहीं कहीं बिहारी सतसई में संस्कृत उक्तियों को निश्चित रूप से उत्कृष्ट बना कर प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। भर्तृहरि कृत शृंगारशतक की अपूर्व उक्ति है—

भर्तृहरि—मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यथा हरसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥१३॥

बिहारी—तिय कित कमनैती पढ़ी बिनु जिह भौंह कमान।
चलचित बेझे चुकत नहि वंक विलोकनि बान ॥

'गुणैरेव न सायकैः' के स्थान पर 'बिनु जिह भौंह कमान' और 'बंक विलोकनि बान' की योजना बिहारी के उत्कृष्टतर कौशल का प्रमाण है। 'चल चित बेझे' की सृष्टि करके तो उन्होंने उक्ति में कहीं अधिक मार्मिकता और चमत्कृति भर दी है इसमें संदेह नहीं।

रीतिकवियों ने संस्कृत से भाव लेकर उनका उत्तरोत्तर किस प्रकार परिष्कार किया और उन्हें कितनी कलात्मक पूर्णता प्रदान की इसको प्रकट करने के लिए अमरुशतक का निम्नलिखित संवादात्मक पद्य तथा उसको आधार मान कर रीतिकवियों द्वारा लिखे हुए दो-तीन मुक्तक उल्लेखनीय हैं—

अमरुक— क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे ।
प्राणाधियो वसति यत्र निजः प्रियो मे।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले!
नन्वस्ति पुंखितशरो मदनस्सहायः ॥

केशव— देखो ह्वैहैं दुख जहाँ देहऊ न देखी परै,
देखो कैसे बाट 'केसौ' दामिनी दिखाई है।
भारी भयकारी निशि, निपट अकेली तुम,
नाहीं प्राननाथ साथ, प्रेम जो सहाई है।

पद्माकर—कौन है तू जाति चली जाति कितै वलि बीतो निसा अधराति प्रमाने।
हौ 'पदमाकर' भावती में, निज भावते पै अबहीं मोहि जाने।
तौ अलबेली अकेली डरै किन, क्यों डरूँ मेरी सहाय के लाने।
हैं मम संग मनोभव सो भट, कान लौं बान सरासन ताने।

द्विजदेव—कारो नभ, कारी निसा, कारिए डरारी घटा,
झूकन बहत पौन आनन्द को कंद री।
'द्विजदेव' साँवरी सलोनी सजी स्यामजू पै
कीन्हों अभिसार लखि पावस अनन्द री।
नागरी गुनागरी सु कैसे डरै रैन डर,
जाके संग सोहत सहायक अमंद री।
बाहन मनोरथ, उमाहैं संगवारी सखी,
मैन-मद सुभट, मसाल मुख-चन्द री।

उद्धृत पद्यों को देखने से यह स्पष्ट लगता है कि सबकी रचना मूलतः एक ही उक्ति के आधार पर हुई है। केशव ने आरंभ में मार्ग-प्रदर्शिका के रूप में 'दामिनी' का उल्लेख करके तथा 'साहस गयंद' आदि की योजना के द्वारा कुछ नवीनता उत्पन्न की पर अन्त में साधारण-सा अनुवाद कर दिया है। पद्माकर ने अधिक सजगता से वस्तु-संगठन किया है। 'पुंखितशरो' विशेषण के स्थान पर 'कान लौं बान सरासन ताने' रख कर नायिका की कानों तक फैली हुई भौंहों और तीक्ष्ण कटाक्षों की जो व्यंजना की है वह वाण को पंखयुक्त (पुंखित) कहने में नहीं आ सकी है। दूसरे, पद्माकर की अन्तिम पंक्ति में सहायक धनुर्धर का एक सजीव चित्र भी सामने उभरकर आता है जो भर्तृहरि के पद्य में नहीं मिलता। द्विजदेव ने पद्माकर की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होकर उक्ति का अनुबंधन किया है। रात्रि को और भी भयानक वनाने के लिए उन्होंने वर्षा की अंधेरी रात की कल्पना की साथ ही सहायक रूप में 'मैनमद सुभट' के अतिरिक्त 'उमाहैं संगवारी सखी' भी संयुक्त कर लीं। इस योजना के साथ 'बाहन मनोरथ' का श्लिष्ट अर्थ उक्ति को विशेष रमणीय बना देता है। 'मुखचंद को' 'मसाल' कहना अवश्य सौन्दर्यात्मक नहीं कहा जा सकता पर पूरे रूपक में वह इस तरह ग्रथित है कि अंततः प्रसंग की दृष्टि से निभ सा जाता है। इन उदाहरणों से यह बात निभ्रन्ति रूप से सिद्ध हो जाती है कि रीतिकवि नें संस्कृत आदि की उक्तियों का आश्रय लेकर भी अपनी मौलिक प्रतिभा और काव्य-कौशल का यथेष्ट प्रदर्शन किया है।

आकस्मिक सादृश्य के भी उदाहरण मिलते हैं जैसे कालिदास की कल्पना से प्रसूत 'दृष्टिर्वन्दनमालिका' और देव के रूपचित्र 'अँखियान की बंदनवार तनी' में लक्षित होता है। यह भी असंभव नहीं कि देव की स्मृति में कालिदास की उक्ति रही हो। उस दशा में इसे भाव-सादृश्य न कह कर भाव-परिष्कार कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। कालिदास की इसी उक्ति का उत्तरार्ध 'स्तन युगं लावण्यपूर्णों घटौ'

मतिराम के दोहे में प्रतिबिम्बित हुआ है—

> प्रिय राख्यो परदेस तें अति अद्‌भुत दरसाय।
> कनक कलस पानिप भरे सगुन उरोज दिखाय॥

'लावण्य' को 'पानिप' शब्द से स्थानान्तरित करके श्लेष से मतिराम ने दोहरे अर्थ का निर्वाह कर दिया है। परदेस जानेवाला मार्ग में शकुन रूप जलपूर्ण मंगल कलश देखकर यात्रा को शुभ समझता है पर यहाँ नायक नायिका के तारुण्य पर मुग्ध होकर यात्रा स्थगित कर देता है यही कवि को 'अति अद्‌भुत' दिखायी देता है। कालिदास ने भी शकुन रूप में ही इस उक्ति की योजना अपने पद्य में की है परन्तु उनकी नायिका पति को रोक नहीं पाती अतएव स्थिति अद्‌भुत नहीं हो सकी। यों कालिदास ने शकुनों की जो शृंखला प्रस्तुत की है उसका अपन ही सौन्दर्य है। यथा—

> दृष्टिर्वन्दनमालिका स्तनयुगं लावण्यपूर्णौ घटौ,
> शुभ्राणां प्रकटः स्मितः सुमनसां वक्त्रप्रभादर्पणः।
> रोमाञ्चोद्‌गम एव सर्षपकणः पाणी पुनः पल्लवौ,
> स्वाङ्‌गैरेव गृहप्रियस्य विगतस्तन्व्या कृतं मंगलम्॥

व्यापक रूप से सम्पूर्ण रीति-काव्य की 'संस्कृत-काव्य' से तुलना अपने में एक स्वतन्त्र विषय है जिसमें अध्ययन और अनुचिंतन के लिए प्रभूत सामग्री मिलने की पर्याप्त संभावना है। यों भी भाव सादृश्य के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित अनेकानेक उदाहरण विद्वानों के द्वारा खोजे जा चुके हैं।

रीतिकवियों की पारस्परिक स्पर्धा

रीतिकवियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के दो स्तर हैं जिनका एक प्रकार से उल्लेख किया जा चुका है। पहला स्तर वही है जिससे अनुप्रेरित होकर उन्होंने संस्कृत आदि की उक्तियों से श्रेष्ठतर उक्तियाँ रचने की प्रेरणा का अनुभव किया तथा जिसका स्वरूप व्यापक और अधिक स्थायी है। परवर्ती कवि अपने पूर्ववर्ती रीतिकवि को काव्य-कौशल एवं उद्‌भावना-शक्ति में वैसे ही परास्त करने की मनोवृत्ति रखता था जैसी संस्कृत आदि के कवियों के विषय में, यह दूसरी बात है कि भाषा-कवि होने के नाते अन्य भाषा-कवि से आगे बढ़ जाना उसे ज़्यादा सुकर लगता रहा हो। दूसरा स्तर समसामयिक कवि से स्पर्धा का स्तर है जिसमें पूर्व-स्तए कर अंश में अन्तर्भुक्त तो रहता है परन्तु तात्कालिक परिस्थिति की सीमाओं के द्वारा मर्यादित अवश्य हो जाता है। आगे दोनों स्तरों पर क्रियान्वित होने वाले इस स्पर्धाभाव को कतिपय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया। है

अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अधिक कुशलता एवं रसात्मकता से व्यक्त करने का उत्साह देव कवि में अन्य रीतिकवियों की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है। यों दास ने देव से भी अधिक आग्रह के साथ अपने से प्राचीन कवियों के भावों को ग्रहण किया है परन्तु वे उन्हें उत्कृष्टतर बनाने में प्रायः कम ही सफल हुए हैं।

विहारी— कौड़ा आँसू बूँद कसि साँकर बरुनी सजल।
कीन्हे पलक निमूँद दृग-मलिग डारे रहत ॥

देव— बरुनी बघंबर में गूदरी पलक वोऊ
कोये राते बसन भगोहैं भेख रखियाँ।
बूड़ी जलही में दिन जामिनि हू जागें, भौहें
धूम सिर छायो, विरहानल विलखियाँ।
अँसुआ फटिकमाल लाल डोरी सेली पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस 'देव' कीजिए सँजोगिनि त्यों
जोगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ।

यहाँ आँसू को 'कौड़ा' कहने की अपेक्षा 'फटिकमाल' कहने में अधिक काव्यात्मकता लक्षित होती है क्योंकि इससे न केवल आँसू के बड़ेपन का बोध न होता है वरन् पारदर्शिता और बहुलता भी व्यंजित होती है साथ ही सम्पूर्ण रूपक में सादृश्य का जो सूक्ष्म विधान देव ने किया है वह विहारी के सोरठे में उपलब्ध नहीं होता। 'लाल डोरी सेली','भौहें धूम सिर छायो' तथा 'बरुनी-बघंबर' में जो वर्णात्मक एवं सांकेतिक रूप-साम्य है वह कवि के विकसित रूप-बोध का सूचक है।

इसी प्रकार मतिराम द्वारा प्रणीत एक छंद की सहज भाव-स्थिति को देव ने अधिक नाटकीय एवं गत्यात्मक बना दिया है। केवल श्रेष्ठ शब्द चमत्कार का ही श्रेय देव को देना उचित नहीं है।[1]

मतिराम— चढ़त अटारी गुरु लोगन की लाज प्यारी
रसना दसन दाबै रसना झनक ते।

देव— नेवर के बजत कलेवर कँपत 'देव'
देवर जगै न कहूँ सोवत तनक ते।
बस ना हमारे रंग रस ना बनत चौंकि,
रसना दसन दावै रसना झनक ते।

१—(i) (साहित्य) समालोचक, पृ० ३२९
(ii) मतिराम ग्रन्थावली, पृ० १८५

अन्तिम चरणार्ध का सर्वथा समान होना समस्यापूर्ति की-सी परिस्थिति ला देता है तथापि उससे देव की कुशलता न्यून नहीं होती।

विदाई के समय किन शब्दों में भावना व्यक्त की जाय इसकी मानसिक कठिनाई को 'केशव' ने अपनी 'कविप्रिया' में निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—

जो हौं कहौं 'रहिये' तो प्रभुता प्रगट होति
'चलन' कहौं तो हितहानि नाहिं सहनो।
'भावै सो करहु' तो उदास भाव प्राननाथ
'साथ लै चलहु' कैसे लोक-लाज बहनो।
केशौराय की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जोपै नाहीं राजा रहनो।
तैसिये सिखाओ सीख तुम ही सुजान प्रिय,
तुमहिं चलत मोहिं जैसो कछु कहनो।

रीति-काव्य-धारा के अनुवर्ती भारतेन्दु की भावुक दृष्टि भी इस पद्य पर पड़ी और उन्होंने इस पर मुग्ध होकर अपने मनोनुकूल सवैया छंद में इसकी भावना को बाँध दिया—

रोकहिं जौं तौ अमंगल होइ औ प्रेम नसै जो कहैं 'प्रिय जाइए'।
जौ कहैं 'जाहु न ' तौ प्रभुता जो कछू न कहैं तौ सनेह नसाइए।
जौ हरिचन्द कहैं 'तुम्हरे बिनु जीहैं न ' तौ यह क्यों पतिआइए।
तासौं पयान समैं तुम सौं हम का कहैं आपै हमैं समुझाइए।

'तुम्हरे बिनु जी हैं न' कहने की कल्पना केशव नहीं कर सके। हरिश्चंद का छंद केशव के छंद की अपेक्षा अधिक संगठित भी है परन्तु अपहरण का रूप इतना प्रतिबिम्बकल्प है कि मौलिकता का कोई श्रेय भारतेन्दु को नहीं दिया जा सकता। यहाँ स्पर्धाभाव की अपेक्षा भाव-मुग्धता ही अधिक प्रमुखता रखती है।

गजोद्धार के प्रसंग में भक्तवत्सल भगवान् की त्वरा का अत्युक्तिपूर्ण-वर्णन स्पर्धा-भाव को पूरी तरह प्रकट करता है—मतिराम, रघुनाथ और रत्नाकर तीनों ने इस विषय में अपनी अपनी उक्तियों को अधिकाधिक चमत्कारिक बनाने का यत्न किया है—

मतिराम— आये रतिमान अति आतुर गोपाल, मिली
बीच ब्रजराज को गराज गजराज की।

रघुनाथ— असरन सरन विरद की परज देखौ,
पहिले गरज भई पाछे गज गरज्यो।

रत्नाकर— आवत वितुण्ड की पुकार मग आधें मिली,
लौटत मिल्यो त्यों पच्छिराज मग आधे पै।

मतिराम ने 'परकीया उत्कंठिता' के उदाहरण में एक लालित्यपूर्ण उक्ति का समावेश किया। चारों दिशाओं में उत्कंठावश कृष्ण को खोजने में व्यस्त राधा के नेत्रों को चतुर्विध उपमानों से उपमित किया गया है—

पीतम विहारी की निहारिबे को बाट ऐसी
चहूँ ओर दीरघ दृगन करी दौर हैं।
एक ओर मीन मनों एक ओर कंज-पुंज
एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं।

इस भाव को मतिराम के परवर्ती तोष, रघुनाथ और रसलीन ने भी यथाशक्ति अपने ढंग से लिखने का प्रयत्न किया परन्तु रसलीन के अतिरिक्त अन्य दोनों कवि ऐसी कोई विशेषता उत्पन्न नहीं कर सके जिसके कारण उनकी सराहना की जाय। मतिराम की उक्ति सभी पर छाई हुई लगती है।

तोष— खंजन मीनमृग। से कहूँ कहुँ कंजन भौंर चकोर सँघेरे।
एक ते होत अनेक भट्ट व रें केते स्वरूप विलोचन तेरे।

रघुनाथ— कंजन से ह्वै कै फेरि खंजन से ह्वै कै फेरि,
मीन ऐसे ह्वै के री चकोर ऐसे ह्वै रहे।

रसलीन—मुख ससि निरखि चकोर अरु तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भँवर होत नयन रसलीन।

कुछ स्थल रीतिकाव्य में ऐसे मिलते हैं जहाँ भावापहरण का कारण न स्पर्धा ही प्रकट दिखायी देती है और न विशेष मुग्धता ही। सामान्यतया परम्परा और स्वभाववश भी कुछ भावों एवं उक्तियों को ग्रहण किया गया है। इनमें स्पर्धा और मुग्धता का अंश यदि है तो नगण्य जैसा ही प्रतीत होता है। अपेक्षित काव्योत्कर्ष के अभाव में कुछ उक्तियां तो हीन अनुकरण सिद्ध होती हैं। नीचे ऐसे ही कुछ मिश्रित कोटि के सदृश-स्थल दिये जा रहे हैं—

रहीम— करत नाहिं अपरधवा सपनेहु पीय।
मान करन कै सधवा रहिगै हीय।।

मतिराम— सपनेहू मनभावतो करत नहीं अपराध।
मेरे मन ही में रही सखी मान की साध।।

रत्नाकर— रहति हिए ही हौंस हिय की हमारे हाय,
पैयाँ परौं नैकु मान करिबो सिखाइ दै।

रहीम की उक्ति अछूती है, मतिराम की चमत्कारहीन अनुकरण मात्र, रत्नाकर की पंक्तियों में अनुनयपूर्ण मनुहार अवश्य आकर्षक है ।

दास— आप कह्यो अरी दाहिने दै मोहि जानि परै पग वाम है भारी।
रघुनाथ— बोझिल सो यह पाँउँ लगै तब यों मुसुकाइ कह्यो ठकुराइन।

नायिका के सहज अरुण पैर में महावर लगाने पर नाइन को ज्ञात नहीं होता कि किसमें लगा है किसमें नहीं पर नायिका इतनी सुकुमार है कि उसे महावर के भार से अपना पैर बोझिल लगने लगता है और वह स्वयं नाइन को बता देती है कि बायें पैर में महावर लग चुका है, दायें में लगाना है। प्रसंग से स्पष्ट है कि दास की अपेक्षा रघुनाथ ने कोई विशेषता उत्पन्न नहीं की। महावर लगाने से सम्बद्ध एक दूसरा प्रसंग है जब नाइन के स्थान पर नायक ही सारे प्रसाधनों के साथ नायिका के पैरों का अनुरंजन करने को तत्पर हो जाता है जिससे वह अतिशय संकोच में पड़ कर निषेध करने लगती है—

सेनापति— चूमि हाथ नाथ के लगाय रही आँखिन ते
ऐहो प्राननाथ यह अति अनुचित है।
सोमनाथ— जब लागन लागे महावर पाइ तबै मुसुकाइ कै हाथ गह्यो।

सेनापति ने नायिका की निषेध-मुद्रा में जो सजीवता भर दी है वह सोमनाथ के द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकी। ऐसे ही पद्माकर के भाव को 'सेखर' ने अपनाकर निष्प्रभ कर दिया है—

पद्माकर— गरक गुविंद भयो गोरी की गुराई में।
शेखर— गरक गोविंद भो गुलाब के सुमन में।

सौन्दर्य विषयक मतिराम की अद्वितीय उक्ति को घनानन्द ने अपनाकर अपने भाव-बल से निबाह दिया पर बेनीप्रवीन ने उसका केवल अनुकथनमात्र कर दिया जो शिथिल और अशक्त प्रतीत होता है।

मतिराम— ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।
घनानन्द— रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारिये।
बेनीप्रवीन— ज्यों ज्यों निहारिये जू प्रतिअंगन त्यों त्यों लगै अति सुन्दरताई।

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' के समकक्ष रख कर इन पंक्तियों के देखने पर एक दूसरा ही पक्ष उभरता है और वह है सौन्दर्यबोध विषयक मध्यकालीन विचारधारा की सुदीर्घ एक-सूत्रता पर उसका प्रसंग यहाँ नहीं है।

समसामयिक कवियों की प्रतिस्पर्धा के उदाहरणस्वरूप भूषण और मतिराम तथा पद्माकर और ग्वाल के कतिपय छंदों को लिया जा सकता है। भूषण के 'शिवराज भूषण' और मतिराम के 'ललितललाम' में अलंकार-क्रम तथा लक्षणों तक का साम्य है, उक्तियों की तो बात ही क्या है। भूषण ने हाथियों को 'सातो सिंधु हू के थाह के' अनुरूप ऊँचा बताया तो मतिराम अपने आश्रयदाता के हाथियों को उससे भी ऊँचा बताते हुए लिखते हैं कि उनके कपोलों पर बैठे भौरों को चन्द्रमा तक अमृत-पान के लिए पहुँचने में तनिक भी कष्ट नहीं होता था।

मधुकर कुल करिनीन के कपोलन ते
उड़ि उड़ि पियत अमिय उड़पति मैं।

दोनों के राजसी वातावरण, युद्ध आदि के वर्णन भी बहुत अंशों में मिलते जुलते हैं और ऐसा आभास देते हैं जैसे पारस्परिक उत्कृष्टता के लिए दोनों कवि सजग रहे हों।

पद्माकर का एक प्रसिद्ध छंद है जिसमें गोपी स्वयंदूतिका के रूप में कृष्ण को गोदोहन के बहाने आमन्त्रित करती है—

जब लौं घर को धनी आवै घरै तब लौं इतनी करि दैवो करौ।
पद्माकर ये बछरा, अपने बछरान के संग चरैवो करौ।
अब औरन के घर सों हम ते तुम दूनी दुहावनी लैवो करौ।
नित साँझ सकारे हमारी हहा हरि गैयाँ भले दुहि जैवो करौ।

कहते हैं कि इस छंद की विशेष प्रसिद्धि से अपनी कवित्व-शक्ति की प्रतिष्ठा पर आँच आते देख कर ग्वाल कवि ने निम्नलिखित छंद की रचना, उसी भाव को नया तेवर देते हुए, कर डाली—

यह लात चलावनी हाय गऊ हर एक ते नाहि छुहावनी है।
सुनि तेरी तरीफ मिलावनी की हित तेरे सुमाल पुहावनी है।
कवि ग्वाल चराय लै आवनी है अरु बाँधनी पौरि सुहावनी है।
मनभावनी दैहौं दुहावनी मैं, यह गाय तुही पै दुहावनी है।

भाव-भंगिमा की दृष्टि से ग्वाल का छंद पद्माकर की 'टक्कर' का अवश्य है पर दूसरे चरण में 'तरीफ' 'सुमाल पुहावनी' जैसे पदों से रचना-विधान की जो शिथिलता एवं कृत्रिमता प्रकट होती है वह समष्टि रूप में प्रभाव को कम कर देती है। पद्माकर की उक्ति में स्वाभाविकता और प्रवाह अधिक है तथा व्यंजना भी अंत तक रक्षित रहती है। ग्वाल के छंद की प्रारंभिक तीन पंक्तियाँ उतनी व्यंजक नहीं हैं जितनी अंतिम। पद्माकर की गोपी के भाव में अनुनय-जन्य आग्रह

है, ग्वाल की गोपी की भावना में प्रगल्भतापूर्ण हठ लगता है ग्वाल की स्पर्धा विफल नहीं हुई। रीतिकाव्य में ऐसे और भी अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं।

हीन रुचि का प्रदर्शन

सौन्दर्य-बोध के अपने नियम होते हैं जिनका परिचय सौन्दर्य-शास्त्र से मिलता है पर शास्त्रीयता का अनुसरण न किया जाय तो भी परिष्कृत रुचि का संवेदनशील व्यक्ति (रसिक) कलाकृति के गुण-दोष का आकलन अपनी अनुभूति एवं विवेक से सहज ही कर लेता है। शास्त्रीय निरूपण की आवश्यकता मतभेद के निराकरण के लिए होती है क्योंकि किसी भी मत को मान्य बनाने के लिए, व्यक्ति-पक्ष की अपेक्षा उसके वस्तु-पक्ष को उभारना आवश्यक होता है। कभी कभी सौन्दर्य-बोध में मौलिक परिवर्तन घटित होने पर शास्त्रीय निर्णय ही अमान्य हो जाता है और कवि स्वानुभूति के आधार पर ही रचना करने में प्रवृत्त होता है। रीतिकवि के लिए ऐसी स्थिति कभी उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि उसने शास्त्र और परिपाटी के प्रति पूर्णतया नतमस्तक होकर काव्य रचना की। उसकी सुरुचि और कुरुचि दोनों ही अधिकतर शास्त्रीय मर्यादा का आश्रय लेकर व्यक्त हुई हैं। रीतिकालीन कला आभिजात्य संस्कारों से युक्त होने के कारण परिष्कार तथा सुरुचि पर एक विशेष प्रकार से बल देती है। उपवन को सजाने-सँवारने में जिस प्रकार की सजगता और संग्रह-त्याग की अपेक्षा होती है कुछ वैसी ही सजगता रीतिकवि में पायी जाती है। उत्कृष्ट कोटि के रीति काव्य में सुरुचि का असामान्य परिचय मिलता है जिसकी ओर सौन्दर्य-बोध और भावमयता के प्रसंग में प्रकारान्तर से निर्देश किया जा चुका है किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि द्वितीय और तृतीय कोटि के ऐसे अनेक कवि हैं जिन्होंने हीन ही नहीं गर्हित और अश्लील रुचि का भी खुला प्रदर्शन किया है। ऐसी स्थिति रीतिकाल के पूर्वार्ध में कम और उत्तरार्ध में अधिक लक्षित होती है। नायिकाभेद और नखशिख-वर्णन में हीन रुचि के उदाहरण विशेष रूप से मिलते हैं।

राधा के रूप-वर्णन में सुंदरता का परिवर्धन करने वाली वस्तुओं में सीतला के दागों का भी समावेश कवियों ने किया है। यही नहीं उनके चित्रण में संदेह उत्प्रेक्षादि अलंकारों के माध्यम से अपनी पूरी कला का सोत्साह प्रदर्शन भी किया है—

दिवाकर— सीतला के दाग राधे मुख में लखात केधौं,
साँवरे प्रसंग के प्रस्वेद साथ साखी हैं।

शिवनाथ— कामिनी मनोरथ सु आलबाल सिवनाथ,
मैन के मतंग माते बेलि चरि चरि गये।
अमल कपोलन में दाग नाहीं सीतला के
दीठि गड़ि गड़ि गई गाड़ परि परि गये।

इतना ही नहीं चेचक के दाग कवि को 'काम मंदिर की झाँझरी' के रूप में दिखायी देते हैं जिससे झांक कर वह अपनी कुरुचि को मूर्तिमान देखता तो अच्छा होता; पर उसे उससे रसमय केलि-क्रीड़ा ही दिखायी देती हो तो कौन क्या कर सकता है। रस की आदर्शवादी पद्धति में यथार्थ का ऐसा समावेश रसभंग ही करता है कवि को इसका बोध ही नहीं है वह तो नख-शिख के प्रसंग में एक नयी वस्तु का वर्णन करने का श्रेय लेकर अपने पुर्ववर्ती कवियों को परास्त करने के लिये कृत-संकल्प है। इसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर नायिका के पीकने और उसके मिस्सी लगे काले दाँतों का भी मुग्धता के साथ शृंगारिक वर्णन किया गया है जबकि उससे प्रतीति बीभत्स की होती है—

शंभु— ऊँचे अटा पर चंद्रमुखी कवि संभु कहूँ झुकि पीक चलावै।
दै विधु बीच मनो विधि सों विधना रँगरेज कुसुम्भ चुवावै।

गंग— चंद के आनन पै छवि छाजत ऐसे विराजत दंत मिसी के।
फूलन की फुलवारिन में मनो खेलत हैं लरिका हबसी के।

काव्य में अनुपयुक्त अप्रस्तुत-विधान भी रुचि की हीनता का ही परिचय देता है। अनेक रीतिकवि कभी रूपक के लोभ से, कभी श्लेष यमकादि शब्दालंकारों के मोह से और कभी समसामयिक जीवन से सम्बद्ध राजसी वस्तुओं के सूक्ष्म परिज्ञान के प्रदर्शन की उत्सुकता से प्रेरित होकर ऐसी अप्रस्तुत-योजना कर गये जो श्रोता का ध्यान मुख्य वस्तु से भिन्न दिशा में ले जाकर कविता के रसास्वादन में बाधक होती है। संयोग-सुख का अत्यन्त स्थूल उपमान से वर्णन करते हुए एक दिवाकर नामक कवि लिखता है—

मानो ढिग परसि रसोइया दिवाकर जू,
तूरि तूरि रोटी झट खात जात मुख ते।

इसी प्रकार एक अन्य 'कविराज' नायिका के हृदय के बीच बहती हुई कज्जल मिश्रित अश्रु-धारा को देख कर उत्प्रेक्षा करते हैं—

नैनन ते धरि धार ढर्‌यो जल अंजन सो उर आनि परो है।
चीरिबे को तिय को हियरा बिरहा-बढ़ई मनो सूत धरो है।

सूझ भले ही दूर की कही जाय पर विरह को बढ़ई बनाकर नायिका के शरीर को चीरने की कल्पना उसकी मनोगत वेदना को अभिव्यक्त करने में किसी प्रकार सहायक प्रतीत नहीं होती क्योंकि हृदय के फटने में जो लाक्षणिकता है उसे अभिधा-मूलक मान कर इस उक्ति की रचना की गयी है। कविराज की तरह एक 'कवीन्द्र' भी है जिनकी दृष्टि में नायिका का रूप-गढ़ ग्वालियर के किले से भी अधिक अजेय और बाँका है—

हाँको चहुँघा को करि प्यारो लेन चाहै प्यारी
तेरो रूप-गढ़ ग्वारियर हू ते बाँको है।

यहाँ कोई काव्योपकारक तत्व भले ही प्रकट न हुआ हो पर ग्वालियर के किले का परिचय कवि को है इतना अवश्य प्रकट हो गया। ऐसे सतही और क्षीण आधार पर संयोजित अप्रस्तुत-विधान कवि के सौन्दर्य-बोध की हीनता ही प्रकट करता है। यह प्रवृत्ति रीतिकाल के आरम्भ से ही मिलती है। केशवदास का निम्नलिखित छंद प्रमाण है—

आली ऐंडदार बैठी ज्वानी के तखत पर,
नैन फौजदार खड़े लखैं चहुँओरा है।
द्वादस हू भूषन के द्वादस वजीर खड़े
सोरह सिंगार भूप लखैं दृग कोरा हैं।
रूप को गुमान सीस मुकुट है छत्र और
जेवर की नौबति बजति साँझ भोरा है।
कहैं कवि केसौदास आली बरनी न जाति,
जोबन को जोरा मनौं बादसाही तोरा है।

अब इसका अंतिम रूप देखना हो तो ग्वाल कवि द्वारा आगत-पतिका नायिका के पति-मिलन-सुख का वीर रसपूर्ण वर्णन हाजिर है—

ग्वाल कवि करैं कूदि कूदि केलि कौतूहल,
हलहल हूलैं पल पल में उछल्ला है।
द्वै द्वै घड़ी दोय बेर, चौ चौ घड़ी चार बेर,
फेरि कियो नौ घड़ी को जनरैली हल्ला है।

सच मानिये अपनी दृष्टि से कवि यहाँ हास्य रस का वर्णन नहीं कर रहा है। उसका उद्देश्य शृंगार का ओजस्वी चित्रण करना ही है पर श्रोता का दुर्भाग्य कि

उसके पल्ले हास्य या रौद्र रस का स्थायी भाव ही पड़ता है। यह परम्परा व्यापक रूप से चलती रही। एक अज्ञात कवि की करामात भी देखने लायक है—

उर अंतर को अनुराग सुतौ झलक्यो दृग-कोर के कंदर में।
जिमि वारिधि में कहूँ बूड्यो जहाज कढ्यो हुगली वर बंदर में।

तत्कालीन वातावरण का प्रभाव रीति-कवियों पर इतना गहरा पड़ा कि उन्होंने अप्रस्तुत विधान में ही नहीं वरन् प्रस्तुत विधान में भी अनुपयुक्त तत्वों को समाविष्ट कर लिया। राधा-कृष्ण का क्रिया-कलाप उस समय के राजा-रानी जैसा ठेठ सामंती चित्रित किया गया है। ब्रज की ग्रामीण संस्कृति नागरप्रभाव से विकृत हो गयी। भक्तों के आराध्य दम्पत्ति (राधा-कृष्ण) जुआ, शतरंज और चौपड़ खेलते हुए महलों में निवास करने लगे और फ़ारसी अदब-कायदा भी उन्होंने पूरी तरह सीख लिया। नीचे उध्दृत अंश इसकी साक्षी देते हैं—

नंदराम— त्यों 'नंदराम' बिछी सतरंज लगीं मिलि खेलन आपुस माहीं।
आइकै बैठि गये नंदलाल उठी बरबाल गही हरि बाँही।

शिवनाथ— आज दिवारी की राति जुआ मिलि खेलत दंपति हैं रजधानी।

हठी— (i) नखतपती सो मुख लखत गोविंद ठाढ़ो
तखत पै बैठी राधे बखत बलंद है।
(ii) जोरि जोरि पानि देवतानि हू की रानी 'हठी',
कोटि कोटि कोरनिश झुकि कै बजावतीं।
(iii) अदब सो रहौ वेअदब की न कहौ कान्ह
वृन्दावन महारानी राधे को महल है।

कालिदास—सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में
डारि के कमल दल न्हाइबे को धँसिये।
अंक भरि प्यारी नेह नदिन सुदिन भरि,
बारि के विहार ते न बाहिर निकसिये।
'कालिदास' अंग अंग अतर, अतर संग
केसर समीर नीर घनसार घसिये।
जेठ में गोविन्द लाल चंदन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिये।

'लाल' शब्द नायकवाची है और कभी-कभी कृष्ण के लिए भी प्रयुक्त होता है। बिहारी के निम्नलिखित दोहे में वह कृष्णवाची न होकर सामान्य नायक का ही बोध कराता है पर शृंगार रस के लिए 'तम्बाकू' पीने की चेष्टा का चुनाव और

फिर तम्बाकू के साथ मन के पी लिये जाने की बात किस सौन्दर्य की सृष्टि करती है यह बिहारी 'लाल' ही जानें—

ओठु उँचै, हाँसी भरी दृग भौंहनु की चाल।
मो मनु कहा न पी लियो, पियत तमाकू लाल॥

नायक की ऐसी कुछ लतों पर नायिका मुग्ध होती पर कुछ दूसरी लतों पर वह खिन्न भी हो जाती है। कितनी सहृदय है नायिका ?

सरदार— कारज छोड़ि सबै घर के पिय काहे कबूतर पालन लागे,

सहृदयता ही नहीं उसकी चतुराई भी कहीं-कहीं काबिले-तारीफ़ है—

सीढ़ी के डगर जौलौं लाल गये ऊँचे पर
जीना के डगर तौ लौं नीचे को उतरि आई।

यहाँ मतिराम की उक्ति 'सु गेह की देहरी पै धरि आई' सहसा स्मरण आ जाती है। मतिराम के 'कान्ह' भी प्यासे ही रह गये। नायिका की चतुराई ने उनकी एक भी न चलने दी। कभी-कभी नायिका नायक को समझाकर चतुरता का प्रदर्शन करती है—

नंदराम— जौलौं घर जागती हैं ननँद जेठानी मेरी,
तौ लौं कही मानौं चुप्पचाप ही परे रहौ।

कहना न होगा कि रीति-काव्य को कलंकित करने का गौरवपूर्ण श्रेय बहुत कुछ ऐसी हीन रुचि को ही है जो अनेक कवियों ने शृंगारिकता और रस के नाम पर प्रकट की। कुछ कवियों में भोंड़ी शब्द योजना और नग्न शृंगार-वर्णन के तो इतने प्रचुर उदाहरण मिलते हैं कि उन्हें न गिनाना ही श्रेयष्कर है।

शब्दालंकार-प्रियता

रीति-कवियों की शब्दालंकार-प्रियता उनकी व्यापक अलंकार-प्रियता का ही एक विशिष्ट पक्ष है किन्तु अपने में यह पक्ष इतना विविधात्मक, विशद और बहुचर्चित है कि इस पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। रीतिकवि वर्ण-मैत्री तथा अन्यान्य शब्दालंकारों से इतना अधिक मोहग्रस्त दिखायी देता है कि उसकी काव्य-प्रवृत्ति को सही रूप में समझने के लिए भी इस ओर दृष्टिपात करना उचित है।[1] अतिशय शब्द-साम्य और अनुप्रास-निर्वाह के

१—'इन समस्त वर्णनों में रोचकता, सुन्दरता और रमणीयता लाने वाली विशेषता रीतिकालीन कवियों की शब्द-साधना में ढूँढ़ी जा सकती है। शब्द को

आग्रह से शब्दों के रूपों को विकृत करने के दोष का भागी भी उसे कहा जाता है जो सर्वथा असत्य नहीं है। परवर्ती रीतिकाल की कविता भीतर से खोखले और बाहर से बजते हुए शब्दों की ध्वनि से कहीं-कहीं इतनी अधिक भरी हुई मिलती है कि बहुधा रसिक काव्य-मर्मज्ञों को उससे वितृष्णा होने लगती है किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि कभी-कभी शब्द-साधना की इसी प्रवृत्ति से अनुप्रेरित होकर कुशल कवियोंने कुछ ऐसे अद्वितीय मुक्तकों का निर्माण किया है जिनको निकाल देने पर सारा रीतिकाव्य रंक प्रतीत होने लगेगा। रीतिकाव्य की चेतना में शब्द-विधान एक आवयविक तत्व की तरह समाविष्ट रहा है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के अनुरूप अलंकरण-प्रधान युग में अलंकृति अर्थ तक ही सीमित नहीं रह सकती थी। अर्थ के वाहक शब्दों को भी तदनुरूप अलंकृति से युक्त किया जाता था जो सर्वथा स्वाभाविक था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकार-शास्त्र के विकास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है, शब्द-चमत्कार की प्रवृत्ति बहुत कुछ उसके सिद्धान्तों के अनुरूप विकसित होती रही। जब चमत्कृति और अलंकरण को सैद्धान्तिक रूप में विशेष महत्ता प्राप्त हुई हो तो ऐसे काव्य का सृजन अधिक हुआ जिसमें इन तत्वों की विशेष प्रधानता रही तथा बाद में परम्परा का रूप ग्रहण करके उसने काव्य-रचना को व्यापक रूप से प्रभावित किया। संस्कृत ही नहीं प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में भी चमत्कार प्रदर्शन एवं शब्दकौशल के साग्रह समावेश के अनेक आश्चर्यजनक उदाहरण मिलते हैं। रीति-काव्य ने इस परम्परा का पूरी तरह परिवहन किया तथा अपने समय से पूर्व शब्द-चमत्कार के जितने भी स्वरूप काव्य के क्षेत्र में प्रचलित हो चुके थे प्रायः उन सभी को न्यूनाधिक रूप में आत्मसात् कर लिया है। ई० सन् की आठवीं शती के लगभग 'कविराज' द्वारा निर्मित काव्यग्रंथ 'राघवपाण्डवीयम्' में आद्योपांत श्लेष के आधार पर रामायण और महाभारत की संयुक्त कथा का निर्बाह किया गया है। श्लेष-काव्य की इसी परम्परा सन्ध्याकरनन्दी कृत 'रामचरितम्' भी आता है जिसमें दाशरथेय राम और बंगाल के पालवंशीय राजा रामपाल का संयुक्त चरित वर्णित है। प्राकृत के 'सिरिचिह्न कव्वं' में कृष्णलीला वर्णन के साथ वररुचि और त्रिविक्रम के व्याकरणों की व्याख्या भी होती गयी है। रीतिकाल में आद्योपांत दोहरा अर्थ देने वाला ऐसा कोई पूर्ण ग्रंथ तो नहीं रचा गया

खोजना, उसका शोध कर माँज कर प्रयोग करना, उसके भीतर नाद-सौन्दर्य, अर्थ-चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य भरना, यह सब इस युग के कवियों की सामान्य-विशेषता है।'

—डॉ० भगीरथ मिश्र, आलोचना अंक—३, पृ० ४२

पर सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' में प्राप्त 'श्लेष तरंग' इसी मनोवृत्ति की परिचायक है और परम्परा की दृष्टि से उसे उक्त काव्यों के साथ ही रखना होगा। भारवि के 'किरातार्जुनीय' में अनेक प्रकार का चमत्कार प्रदर्शन मिलता है। कहीं सारा श्लोक नकार से निर्मित है कहीं एक पंक्ति उल्टी पढ़ी जाय तो दूसरी पंक्ति बन जाती है। माघ के 'शिशुपालवध' का उन्नीसवाँ सर्ग काव्यगत चमत्कारों से परिपूर्ण है जैसे कहीं अगले छंद के उलटे पाठ से पूर्व छंद का निर्माण हो जाय। श्लेष, यमक आदि का बाहुल्य तो संस्कृत-प्राकृत के बहुसंख्यक काव्यों में मिलता है। बाद तक यह क्रम चलता रहा। १६वीं शती के मालावार निवासी श्रीकंठ कविका 'सोरिचरित्र' आद्योपान्त यमक युक्त बताया जाता है। रीति-कवियों में रहमान ने 'यमकशतक' लिख कर चमत्कार-प्रदर्शन की परिपाटी में एक कड़ी और जोड़ दी।

रीतिकाल के आदि आचार्य केशव की कविप्रिया में संस्कृत काव्यों में प्रदर्शित चमत्कारों के सभी मुख्य रूप समाविष्ट मिलते हैं। कवि ने सबके स्वरचित उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। गूढ़ोत्तर अन्तर्लापिका पहेली के उदाहरण स्वरूप दिये हुए छंद की अंतिम पंक्ति है 'देव सो देवर प्रान सो पूत सुकौन दसा सुदती जेहि रोवै' जिसमें आये हुए वर्णों में 'नदसासु' से सास नन्द का बोध कराया गया है। एकाक्षरी दोहा, द्वयक्षरी दोहा, सभी कुछ उदाहृत है—

केकी केका की कका कोक की कका कोक।
लोलि लालि लोलै लली, लाला लीला लोल॥
हरि हीरा राहै हरो हेरि रही ही हारि।
रहि रहि हौं हा हा रहौं हरें हरें हरि हारि।

इसी तरह 'उलटो सीधो एक' का वर्ण-विधान भी मिलता है—

माल बनी बलि केसवदास सदा बस केलि बनी बलमा

भले ही 'देव' कवि ने लिखा हो कि 'चित्रकाव्य जे करत ते वायस चाम चवात' पर केशवदास की 'कविप्रिया' और दास के काव्यनिर्णय जैसे प्रख्यात रीतिग्रंथों में गोमूत्रिका, अश्व- गति कमलबंध, धनुषबंध, मालाबंध, पर्वतबंध आदि चित्रालंकारों के उदाहरण महत्त्व के साथ समाविष्ट मिलेंगे। चित्रकाव्य की सीमा तक पहुँचते-पहुँचते अर्थ की हत्या होने लगती है। एकाक्षरी पंक्तियों का भी बिना शब्दकोष की सहायता के अर्थ लगाना कठिन है। स्वयं कवि ने भी नितान्त कृत्रिम रूप में वर्णयोजना की अतः उससे भिन्न रसात्मक प्रभाव की आशा करना भी वृथा है। शब्द-कौशल का यह रूप काव्य का आभरण न होकर

मरण-पर्व बन जाता है। शब्दालंकारों के मोह में संवेदना के हनन अथवा कृत्रिम भाव निरूपणका इससे अधिक ज्वलन्त प्रमाण नहीं मिलेगा। यह प्रवृत्ति जब सरस काव्यमें अनपेक्षित रूप से प्रविष्ट हुई तो वहाँ भी इसने रस-हानि की, यह असंदिग्ध है परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि रीति कवि की शब्द-साधना केवल इन्हीं रूपों तक सीमित रही। कुल मिलाकर देखने पर ऐसे रूप आचार्य कवियों के काव्यशास्त्र ग्रंथों में उदाहरण की तरह ही प्राप्त होते हैं सामान्यतया शब्द और अर्थ के बीच संतुलन की यथेष्ट रक्षा की गयी। यह दूसरी बात है कि कुछ स्थलों पर शब्द-मोह आपत्तिजनक लगे पर बहुधा उससे अर्थसंगठन और उक्तिवैचित्र्य को सहायता ही मिली है! कहीं-कहीं तो भाव-सौन्दर्य और शब्द-विन्यास की इतनी निविड़ संगति मिलती है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना करना कठिन हो जाता है। ऐसे स्थल रीतिकाव्य की कलात्मक उपलब्धि की श्रेष्ठता के द्योतक कहे जा सकते हैं। नीचे ऐसी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं जिनमें शब्द सौन्दर्य अर्थ से गहन संगति रखता प्रतीत होता है।

देव— (i) बेगि ही बूड़ि गयीं पँखियाँ अखियाँ मधु की मँखियाँ भईं मेरी।

(ii) बड़े बड़े नैनन ते आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात।

(iii) भरि रही भनक बनक ताल तानन की,
तनक तनक तामैं झनक चुरीन की।

(iv) वृन्दावनवारी बनवारी के मुकुट वारी,
पीतपट वारी वाहि मूरति पै वारी हौं।

(v) कुंजनि कलिन मई गुंजनि अलिन मई,
गोकुल की गलिन नलिन मई कै गई।

मतिराम—(i) मान रह्योई नहीं मनमोहन मानिनो होइ सो मानै मनायो।

(ii) आँखिन ते गिरे आँसु के बूँद सु हासु गयो उड़ि हंस की नाईं।

(iii) उड़त नवत टूटि फूटि मिटि फटि जात
विकल सुखात बैरी दुखन समोय से।
तूल से तिनूका से तरोवर से तोयद से,
तारा से तिमिर से तमीपति से तोय से।

बिहारी—(i) सटपटाति सी ससि मुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि।

(ii) चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वै हलधर के वीर ॥

(iii) नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आये बनमाली न ॥

(iv) रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु-नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर ॥

(v) कौन सुनै कासौं कहौं सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौ लेत हैं ये बदरा बदराह ॥

भूषण— (i) तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत हैं।

(ii) कनक लतानि इंदु, इंदु माँहि अरविंद
झरैं अरविंदन ते बुंद मकरंद के।

पद्माकर—(i) या ही डर गिरिजा गजानन को गोय रही,
गिरि ते, गरे ते निज गोद ते उतारै ना।

(ii) आगे नंदरानी के तनक पय पीवे काज
तीनि लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है।

रसखानि—(i) दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ उन्हें
भूलि गयीं गैयाँ उन्हें गागरि उठाइबो।

इन पंक्तियों को देख कर यह नहीं लगता कि शब्दालंकार वस्तु संगठन को शिथिल कर रहे हैं अथवा भाव की दृष्टि से अनपेक्षित हैं वरन् ऐसा ही प्रतीत होता है कि यदि उन्हें निकाल कर उक्ति की कल्पना की जाय तो उसकी रमणीयता बहुत अंशों में विलुप्त हो जायगी 'अखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी' या तीनि लोक ठाकुर सो ठुनकत ठाढ़ो है' में शब्द-संगीत भावना को समृद्ध बनाता है, उसे बल देता है, कथन का आवयविक तत्व बन कर उसे रमणीय और स्मरणीय बनाता है। वागर्थ की ऐसी सम्पृक्त स्थिति किसी भी भाषा के काव्य के लिए स्पृहणीय हो सकती है। कहा जाता है कि रीतिकवि व्यंजनों का ही संगीत साध सका, स्वरों के संगीत से वह विरत रहा। कुछ दूर तक यह बात सही है क्योंकि कवित्त, सवैया, छंद उस अर्थ में गेय नहीं है जिस अर्थ में पद और गीत गेय माने जाते हैं। स्वरों का आरोह-अवरोह उनमें एक नियत मात्रा में प्रायः एकरसता के साथ ही मिलता है क्योंकि इनकी प्रकृति स्वर प्रधान न होकर वर्ण-प्रधान है परन्तु यह भी मानना

होगा कि घनानंद, रसखान आदि कवियों के सवैयों में भावना का जो तारल्य मिलता है वह इस बात का सूचक है कि वर्णप्रधान होते हुए भी ऐसे छंद में स्वरों के आरोह-अवरोह की जितनी गुंजाइश थी उसका भरपूर उपयोग इन कवियों ने किया है अन्यथा ऐसी गीतिमयता उनके काव्य में आना संभव न होता। वास्तव में रीतिकवियों की अपनी एक स्वतन्त्र सौन्दर्य-चेतना रही है जिसके द्वारा शब्द-संगठन को परिष्कार देकर एक सीमा तक पहुँचा दिया गया जिसके आगे पहुँचना परवर्ती कवियों के लिए कठिन हो गया और भाव-तत्व के सापेक्षिक-अभाव ने उन्हें अर्थगौरव से रिक्त शब्दों की उथली मैत्री स्थापित करने की ओर प्रेरित किया। 'मेवा नीकी काबुल की सेवा नीकी राम की' (श्रीपति) जैसी पंक्तियों में 'मेवा' और 'सेवा' की अनुप्रासिकता के लोभ के अतिरिक्त कवि के लिए और कोई कारण नहीं था कि वह राम की सेवा को अच्छा बताने के क्रम में काबुल तक की काल्पनिक दौड़ लगाता। इसी प्रकार एक अन्य कवि राधा को 'गद्दी' पर बिठाने के लिए रद्दी से 'रद्दी' शब्द तक जाने में संकोच नहीं करता। 'नाह नेह नद्दी कर रमा रूप रद्दी कर बैठी आय गद्दी पर बेटी वृषभान की (हठी)। इसकी परणिति यहाँ तक हुई कि भारतेंदु काल तक पहुँचते पहुँचते कवि की आत्मा को 'विकटोरिया' को 'अभी की कटोरिया' बना कर चैन नसीब हुआ। ऐसी छिछली शब्द-योजना किसी तरह भी प्रौढ़ काव्य की उपकारक नहीं हो सकती। कभी-कभी कुछ प्रसिद्ध रीति-कवि भी ऐसे ऊपरी शब्द-मोह से ग्रस्त दिखायी देते हैं। देव, ग्वाल और पद्माकर के काव्य से ऐसे अगणित उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ यह प्रतीत होता है कि कवि ने शब्द-योजना में वर्ण-मैत्री का अर्थ-मैत्री की अपेक्षा अधिक ध्यान रक्खा है। 'रस रिसि रास रोस आसरो सरन बिसे बीसो बिसवास रोकि राख्यो निसिवासरो' अथवा 'देव मनि नूपुर पदुम पद दू पर ह्वै भू पर अनूप रूप रंग निचुरो परै।' पहले में 'र' 'स' और 'ब' 'स' तथा दूसरे में उकार के बाद 'प' 'र' व्यंजनों की आवृत्ति कितने श्रम और यत्नपूर्वक की गयी है, यह दर्शनीय है। बहुत सी उक्तियाँ किसी शब्द के नाद, सौन्दर्य या श्लिष्ट अर्थ से मूलतः अनुप्रेरित होकर निर्मित हुई ऐसा लगता है। रीतिकवि इस दिशा में विशेष सजग दिखायी देता है। ऐसी किसी संभावना को वह सहज ही खोने को तैयार नहीं होता। प्रायः उसका आग्रह इसी ओर रहता है कि शब्द विशेष पर आधारित चमत्कृति एवं अलंकरण की जितनी भी संभावनाएँ हो सकें सबको अवतरित कर लिया जाय। इसमें चूकने को वह अपनी कलात्मक अक्षमता मानता है। निश्चय ही ऐसे स्थल पर कला का अर्थ बहुत ही सीमित समझा गया है परन्तु विशेष वातावरण में उत्पन्न

होने के कारण जैसे रीतिकवि के आगे और बहुत-सी सीमाएँ थीं वैसे ही एक यह भी थी। अपने दायरे से बाहर जाकर उसने कला को व्यापक अर्थ में ग्रहण करने की कोई अभिलाषा व्यक्त नहीं की। अपने क्षेत्र में ही जो उत्कृष्टता उसे प्रदर्शित कर मिली उसने की और ऐसा करने में उसने कुछ भी उठा नहीं रक्खा। संस्कृत की सानुप्रास 'कोमलकांत पदावली' जिसका प्रवेश महाकाव्यों और मुक्तकों से लेकर स्तोत्रों तक की भाषा में हो चुका था आदर्शरूप में उसके समक्ष थी पूर्ववर्ती रीतिकवियों ने जो शब्द संगठन की परिपाटी चला दी थी उसे छोड़कर चलना भी उसके लिए असंभव था अतएव 'मोतिन की सी मनोहर माल' गुहना उसका एक प्रमुख ध्येय बन गया। इन मालाओं में सब सच्चे मोतियों की मालाएँ ही नहीं मिलतीं। दिखावटी आव वाले कृत्रिम और झूठे मोतियों की भी काफ़ी लम्बी मालाएँ बड़े यत्न से गूँथी गयीं और बहुतों ने उनकी बाहरी चमक-दमक देखकर असलियत का विचार किये बिना जी भर कर सराहना भी की। ऐसी ही एक श्रम-साध्य सुदीर्घ शब्द-माला को उद्धृत करके 'इत्यलम्' कहना उचित होगा—

चुन्नी से चरन चाँदनी में चमकत चकि,
 चौंधत चकोर चिनगी के चोप दून री।
चामीकर हू ते चाहि चौगुनी चमक चोखी,
 चम्पक वरन चोली चुभी चंचु ऊन री।
चंदमुख चंदिका ते चकई चपत चित
 चोपत 'प्रवीनवेनी' चैत चंद हू न री।
चुई सी परति चपला सी चै चपल चख,
 चंचल चितौन चटकीली चारु चूनरी।

रस-अलंकार-शास्त्र
और
नायिका-भेद



रस-अलंकार-शास्त्र और नायिका-भेद

अलंकार-शास्त्र और नायिका-भेद प्रधानतया इन्हीं दो किनारों से बँध कर हिन्दी रीतिकाव्य की धारा प्रवाहित हुई है। शास्त्र और शृंगार का रूढ़ि-बद्ध अनुसरण राजाश्रित-काव्य की प्रकृति का मुख्य लक्षण है। रीतिकवियों द्वारा संस्कृत काव्य-शास्त्र की परिपाटी का पूर्णतया परिपालन किया गया भले ही वह उतना जीवन्त, संयत और समृद्ध न हो सका हो, जिसके पर्याप्त ऐतिहासिक कारण हैं।

अलंकार-शास्त्र की जितनी समृद्ध, सुदृढ़ और विस्तृत परम्परा भारतीय साहित्य में मिलती है उतनी अन्य किसी देश के साहित्य में शायद ही मिलती हो। निस्संदेह यह एक गर्व की वस्तु है; पर आज तो भाषा-भेद के कारण इसका सही पृष्ठभूमि में समुचित परिज्ञान प्राप्त करना भी दुष्कर है अतएव बहुतों को इस समृद्धि से अपरिचित ही रह जाना पड़ता है।

काव्य-शैली के अलंकरण की ओर कवियों का ध्यान सहस्रों वर्ष पहले जा चुका था। प्राकृतिक सौन्दर्य को एक विशेप भाव-भूमि में व्यक्त करने वाले वैदिक मन्त्रों में, महाकाव्यों में तथा ईसा से पूर्व के इतर काव्यों में स्थल-स्थल पर अलंकृत शैली प्राप्त होती है।[1] परन्तु इसका प्राचीनतम निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण ई० पू० १५० में गिरनार में उत्कीर्ण महाक्षत्रप रुद्रदामन का शिलालेख है। इस लेख के '**स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृत गद्य पद्य**''' (**काव्य विधान प्रवीणेन**)' अंश से उस काल में किसी व्यवस्थित अलंकार-शास्त्र के होने की पूर्ण संभावना प्रतीत होती है।[2] निघंटु और निरुक्त तथा पाणिनि के सूत्रों के आधार

१—' महाभारत के समय में भी अलंकार-शास्त्र अपने कुछ विकसित रूप में विद्यमान था, अतः रामायण ही को काव्य एवं अलंकार-शास्त्र का प्रधानोद्गम मान कर आगे चलना उपयुक्त है।'

—डॉ० रसाल, अलंकारपीयूष, भाग १, पृ० ५०, ५१

२—(i) 'The last adjective **अलंकृत** leaves no doubt about the fact

पर यह ज्ञात होता है कि उपमा के चारों अंग बहुत पहले निश्चित हो चुके थे। वेदान्तसूत्र और अश्वघोष के के 'बुद्धचरित' से भी अलंकारों के अस्तित्व का आभास मिलता है। अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए इसी अलंकार-शास्त्र (काव्य-शास्त्र) का विकास आगे चलकर अलंकार-सम्प्रदाय के रूप में हुआ जिसे नाट्य-सूत्रों के बाद का माना जाता है। कुछ अंशों में अलंकार-सम्प्रदाय रस-सम्प्रदाय के समकालीन ठहरता है। मूलतः यह दोनों सम्प्रदाय अलग-अलग थे। अलंकार-सम्प्रदाय का सम्बन्ध श्रव्य-काव्य से था और रस-सम्प्रदाय का दृश्य-काव्य से। कालान्तर में ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत समाविष्ट होकर दोनों एक हो गये। स्फुट कविताओं में भी रस-विवेचन आरम्भ हो गया।[1] अनेक आचार्यों ने सैद्धान्तिक रूप से मुक्तक में रसनिष्पत्ति की संभावना स्वीकार की है। रसों के उदाहरण देते हुए काव्य-शास्त्रियों ने बराबर मुक्तकों को उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया है। ब्रजभाषा के रीतिकाव्य में तो सामान्यतः यही घटित हुआ है क्योंकि उसकी रचना मुक्तक-शैली में ही हुई है। रीतिकवि न केवल संस्कृत के रस-अलंकार-शास्त्र की गौरवपूर्ण परम्परा से परिचित था वरन् वह सीधे उसी से अनुप्रेरित भी होता रहा किन्तु इस आधार पर यदि कोई संस्कृत के सभी काव्य-सम्प्रदायों की सत्ता रीतिकाल में प्रदर्शित करना चाहे तो वह औचित्यपूर्ण नहीं कहा जायेगा क्योंकि रीतिकाल के आरम्भ होने से पूर्व ही वे सम्प्रदाय अपनी सार्थकता एवं विशेषता प्रदर्शित करते हुए ध्वनि सम्प्रदाय में पर्यवसित हो चुके थे। साहित्यिक सम्प्रदाय युग के ऐतिहासिक दायित्व को पूरा करने के बाद प्रायः अपनी उद्भावना शक्ति खो बैठते हैं और उसके शताब्दियों पश्चात् यदि कोई उनका

---

that the author of the **प्रशस्ति** was acquainted with some theory of Alankaras.'

—Indian Antiquary XLII, page 193,

—An article by Buhler—'Indian Inscriptions and the antiquity of Indian Artificial Poetry.

(ii) इस शिलालेख से स्पष्ट है कि...इस काल के पहले विक्रम के आविर्भाव के कम-से-कम तीन सौ वर्ष पहले आलोचना की शास्त्रीय व्यवस्था हो चुकी थी तथा अलंकार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी बन चुके थे जो आजकल उपलब्ध नहीं होते।

—श्री बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम खंड, पृ० २२

१—'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार 'मुक्तक' पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष होकर भी रस-चर्वणा सामर्थ्य से युक्त होता है।

किंचित अनुसरण करता दिखायी देता है तो उसे पूर्ववर्ती सम्प्रदाय विशेष में रख देना ऐतिहासिक व्यवधान एवं अनुक्रम की उपेक्षा करना है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने अलंकार, रस, ध्वनि आदि विविध सम्प्रदायों को रीतिकवियों पर भी लागू करने का दुःसाध्य प्रयत्न किया है जो समीचीन प्रतीत नहीं होता। 'हिन्दी रीति-साहित्य' नामक उनकी पुस्तक में अलंकार, रस और ध्वनि इन तीन सम्प्रदायों में रख कर रीति कवियों का परिचय दिया है फलतः देव, मतिराम, पद्माकर जैसे कवियों का समावेश एक से अधिक सम्प्रदायों में करना पड़ा है। लेखक के आगे यह स्थिति समस्या बन कर न आयी हो ऐसा नहीं है। उसकी कठिनाई उसी के शब्दों में समझने योग्य है—

> 'हिन्दी रीतिशास्त्र को विभिन्न काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों में विभाजित करना सरल नहीं है क्योंकि अधिकांश आचार्यों ने रस, अलंकार दोनों पर लिखा है और निश्चयतः किसी एक का प्रतिपादन नहीं किया। बहुत से 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' के समन्वित मार्ग का अनुसरण करने वाले हैं। और उन्होंने अलंकार, रस, नायिकाभेद, छंद, गुणदोष आदि सभी का विवेचन अपने ग्रंथों में किया है और यह कहना कठिन है कि उनकी मान्यता में कौन-सा सिद्धान्त अधिक समीचीन है। उदाहरण के लिए चिंतामणि, मतिराम, पद्माकर आदि को रसवादी अथवा अलंकार-वादी कहना कठिन है क्योंकि उन्होंने दोनों ही पर अच्छा लिखा है।[1]

इस स्थिति से अवगत होने के बाद भी सम्प्रदायों में ही वर्गीकृत करके रीति-कवियों का परिचय लेखक ने दिया है जो उसके पूर्वोक्त 'हिन्दी रीति-साहित्य' के अतिरिक्त 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खंड) में भी प्रकाशित है, जिस से ऊपर का उद्धरण लिया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' (षष्ठ भाग) में अवश्य 'सम्प्रदाय' शब्द को हटाकर 'रस निरूपक आचार्य' अथवा 'अलंकार निरूपक आचार्य' के रूप में लेखक ने अधिक उपयुक्त ढंग से सामग्री प्रस्तुत की है। 'ध्वनि सम्प्रदाय' का, 'ध्वनि निरूपक आचार्य' के रूप में डॉ० भगीरथ मिश्र द्वारा लिखित अंश में, समावेश नहीं है। इस विषय के प्रतिपादक आचार्यों को 'सर्वांग (विविधांग) निरूपक आचार्य' शीर्षक से डॉ० सत्यदेव चौधरी एवं डॉ० महेन्द्र कुमार द्वारा लिखित अंश में समाविष्ट कर लिया गया है।

१—हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० ४२७

संस्कृत काव्याचार्यों की तुलना में हिन्दी रीतिकाव्य के आचार्य-कवियों की उद्देश्य-भिन्नता—

यदि एक वाक्य में उद्देश्य-भिन्नता की बात कहनी हो तो कहा जायेगा कि संस्कृत के आचार्य, आचार्य पहले थे और कवि बाद में, बहुत-से तो कवि थे भी नहीं; जबकि रीतिकालीन आचार्य अधिकतर पहले अपने को कवि मानते थे बाद में आचार्य। इसका प्रमाण यह है कि रीतिकाल के सभी आचार्य अनिवार्यतः कवि हैं। वास्तव में रीति काल तक आते-आते आचार्य' और 'कवि' दोनों के व्यक्तित्व एक में मिल गये थे। उनकी दृष्टि काव्य-तत्व के सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं मौलिक विश्लेषण की ओर नहीं रही। मुख्य चिंता उन्हें इस बात की प्रतीत होती है कि किस प्रकार लक्षण-निरूपण करके प्राचीन काव्य-शास्त्रीय परिपाटी का अनुसरण करते हुए अधिक से अधिक चमत्कारपूर्ण तथा सरस छंदों का निर्माण किया जाय। उनकी उद्‌भावनाशक्ति की सक्रियता आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व के क्षेत्र में विशेष रही है।

डॉ० सत्यदेव चौधरी ने 'हिन्दी के आचार्यों का उद्देश्य संस्कृत के आचार्यों के उद्देश्य से **'नितान्त भिन्न'** बताते हुए कहा है कि जहाँ संस्कृत के आचार्य लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर लक्षण-ग्रंथ रचते थे वहाँ हिन्दी के आचार्यों ने अपने समय के लक्ष्य ग्रंथों की सर्वथा उपेक्षा की। स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करने का आग्रह कदाचित इसके मूल में था। फलतः 'सिद्धान्तों का क्रमिक विकास परिलक्षित नहीं होता'।[1] अपने पूर्ववर्ती संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों के ग्रंथों का अवलोकन यदि किया गया है तो उसका आधार सैद्धान्तिक विवेचन का आग्रह न होकर परम्परा-निर्वाह अथवा कार्य-सुगमता की भावना अधिक रही है। नाट्यविधान और कवि-शिक्षा के विषय का अभाव क्षेत्र-संकोच का ही परिचायक है।

रीति-कवियों के प्रेरक एवं आधारभूत संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ

रीति-कवि ने आचार्यत्व से युक्त काव्य-पथ स्वीकार करके एक ओर संस्कृत साहित्य शास्त्र की समर्थ परम्परा को हिन्दी में अवतरित करके यथाशक्ति सम्वर्धित किया दूसरी ओर उसने इस बात की चिंता रक्खी कि उसका प्रतिपादन संस्कृत के मान्य आचार्यों के स्थिरीभूत सिद्धान्तों से पृथक् एवं विच्छिन्न न हो जाय। रीतिकवियों ने जब भी संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का अनुसरण किया प्रायः उनक निर्देश करते हुए आभार स्वीकार किया है। कृपाराम की

१—हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० १५–१८

हिततरंगिनी में जिसे रीतिपरम्परा की प्रारंभिक रचना माना जाता रहा है स्पष्टत: ऐसा निर्देश मिलता है—

ग्रंथ अनेक पढ़े प्रथम पुनि विचारि के चित्त।
में वरन्यों सिंगाररस सजन तिहारे हित्त॥६॥
कृपाराम यों कहत हैं भरत ग्रंथ अनुमानि॥३५॥

इसी प्रकार 'काव्य विलास' में 'प्रतापसाहि' लिखते हैं—

मत लहि 'काव्य प्रकास' कौ 'काव्यप्रदीप' सँजोइ।
'साहित्यदर्पण' चित समुझि 'रसगंगाधर' सोइ॥

'अलंकारपंचाशिका' में मतिराम ने संस्कृत से अर्थ ग्रहण करने की स्पष्ट घोषणा की है—

संसकिरत कौ अर्थ लै, भाषा सुद्ध विचारि।
उदाहरण क्रम ए किए, लीजो सुकवि सुधारि॥

उनका यह संकेत जयदेवकृत 'चंद्रालोक' की ओर है।

केशवदास ने रसिकप्रिया' के निर्माण में 'दशरूपक' 'साहित्यदर्पण', 'रस-मंजरी' आदि का आधार ग्रहण किया है और 'कविप्रिया' की रचना में अलंकार शेखर', 'काव्यादर्श', 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा 'काव्यप्रकाश' आदि का।

जिन संस्कृत ग्रंथों का मुख्य आधार रीतिकवियों ने लिया उनकी सूची रचयिता के निर्देश सहित इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

१. नाट्यशास्त्र—भरत
२. काव्यालंकार—भामह
३. काव्यादर्श—दंडी
४. अलंकारसारसंग्रह—उद्भट
५. अलंकारशेखर—केशव मिश्र
६. काव्यकल्पलतावृत्ति—अमरदेव
७. चन्द्रालोक—जयदेव
८. कुवलयानन्द—अप्पयदीक्षित
९. काव्यप्रकाश—मम्मट
१०. साहित्यदर्पण—विश्वनाथ
११. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन
१२. रसमंजरी—भानुदत्त

१३. रसतरंगिणी——भानुदत्त

१४. रसगंगाधर——जगन्नाथ

पिंगल-शास्त्र के आधारभूत संस्कृत के 'छंद-सूत्र' और प्राकृत के 'प्राकृत-पैंगलम्' को इस सूची में नहीं रक्खा गया है क्योंकि काव्य का यह गौण विषय है यद्यपि रीतिकाल के केशव, मतिराम, दास आदि अनेक कवियों ने छंद-शास्त्र परक ग्रंथ रचे हैं।

नायिकाभेद विषयक रीतिग्रंथों की चर्चा आगे विशेष रूप से की गयी है अतः उनको छोड़ कर रीतिकाव्य के रस, अलंकार तथा विविधांग निरूपक प्रमुख ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं——

रस-निरूपक ग्रंथ

१. हिततरंगिनी——कृपाराम

२. रसिकप्रिया——केशवदास

३. सुधानिधि——तोष

४. रसराज——मतिराम

५. रसविलास
६. सुखसागर तरंग } ——देव

७. रससारांश
८. श्रृंगारनिर्णय } ——दास

९. रसप्रबोध——रसलीन

१०. जगद्विनोद——पद्माकर

११. नवरसतरंग——बेनीप्रवीन

१२. व्यंग्यार्थकौमुदी——प्रतापसाहि

अलंकार-निरूपक ग्रंथ

१. कविप्रिया——केशवदास

२. भाषाभूषण——जसवंत सिंह

३. ललितललाम
४. अलंकारपंचाशिका } ——मतिराम

५. शिवराजभूषण——भूषण

६. कविकुलकंठाभरण——दूलह

७. पद्माभरण——पद्माकर

विविधांग-निरूपक ग्रंथ

१. कविकुलकल्पतरु——चिंतामणि

२. रसरहस्य—कुलपति
३. शब्दरसायन—देव
४. रसपीयूषनिधि—सोमनाथ
५. काव्यनिर्णय—भिखारीदास
६. काव्यविलास—प्रतापसाहि

निरूपण-शैली

संस्कृत के आचार्यों द्वारा मुख्यतया या तो 'पद्यशैली' या 'गद्य-पद्यमय सूत्र-वृत्ति शैली' अथवा 'कारिकावृत्ति शैली', इन्हीं तीनों में से किसी न किसी का प्रयोग किया है। रीतिकालीन हिन्दी के आचार्यों में सामान्यतः सभी नें पद्यशैली का अनुगमन किया। प्रायः सभी कवियों ने दोहादि छोटे छंदों में लक्षण और सवैया-कवित्त जैसे बड़े छंदों में स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये। कुछ आचार्यों ने स्पष्टीकरण टीका-टिप्पणी, या व्याख्या के लिए गद्य का भी आश्रय लिया है जैसे कुलपति, चिंतामणि, दास और रसिक गोविंद इत्यादि ने, परन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है। एक प्रकार से गद्य के प्रयोग को अपवाद ही कहा जायेगा। 'भाषाभूषण' के रचयिता जसवंत सिंह ने 'चंद्रालोक' की शैली का अनुसरण करते हुए एक ही छंद में लक्षण-उदाहरण दोनों की योजना की है। इसकी अनेक टीकाएँ भी उपलब्ध हैं जो रीतिकवियों द्वारा ही की गयीं जिनमें एक टीका प्रतापसाहि की भी है। इन शैलियों में पद्यशैली के अतिरिक्त अन्य किसी शैली का संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रयुक्त शैली से ठीक मेल नहीं बैठता। इस शैली में भी स्वरचित उदाहरण देने के आग्रह ने एक स्वतन्त्र विशेषता उत्पन्न कर दी है जो कम संस्कृत आचार्यों में पायी जाती है। पंडितराज जगन्नाथ में अवश्य इसका विशेष आग्रह मिलता है पर उनका पांडित्य-पूर्ण सतर्क विवेचन तथा उसके लिए गद्य का प्रयोग सामान्य रीतिकवि में कहाँ मिलेगा। जिन रीतिकारों ने गद्य का पद्यशैली के साथ समावेश किया भी है उनकी कृति में वैसी विवेचनपटुता एवं गांभीर्य के दर्शन नहीं होते। संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की अपेक्षा हिन्दी रीतिग्रंथों में शैलीगत एकरूपता अधिक पायी जाती है इसमें सन्देह नहीं।

मौलिक योगदान

काव्य-शास्त्र की परम्परा का परिविस्तार हिन्दी के काव्याचार्यों द्वारा यह ऐतिहासिक सत्य है परन्तु इसके साथ शास्त्रीय विवेचन अथवा तत्त्वबोध के क्षेत्र में उनका मौलिक योगदान क्या है इसका पूर्ण परीक्षण अभी नहीं हुआ है। फिर भी इधर जो कुछ शोध हुई है उसके आधार पर यही धारणा अधिक पुष्ट होती

दिखायी देती है कि मौलिकता रीतिकालीन आचार्य की मूलवृत्ति नहीं थी। उसको अपने प्रयत्न की सार्थकता संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों की सामग्री को यथाशक्ति भाषा में अवतरित करने में ही प्रतीत हो जाती थी। संस्कृत काव्य-शास्त्र को सही रूप में समझ लेना ही बड़ी बात थी। केशव जैसे प्रमुख आचार्य ने भी संस्कृत ग्रंथों का अर्थ समझने में अनेक भूलें की हैं। जिस युग में वे काव्यशास्त्र की चर्चा कर रहे थे शायद उस युग की माँग ही इतनी गहरी नहीं थी कि आचार्यों को मौलिक योगदान की ओर विशेष सजग बनाती। मौलिकता की बहुत-सी पिपासा स्वरचित उदाहरणों के क्षेत्र में नयी एवं प्रभावपूर्ण उक्तियों की सृष्टि करके पूर्ण हो जाती थी क्योंकि रीतिकवि में आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व ही अधिक प्रधान रहा है। जो आचार्य शास्त्र-चर्चा की ओर अधिक झुके दिखायी देते हैं उनका कवित्व उसी अनुपात में कुंठित हुआ लगता है। दोनों पक्षों में सफलता पाने वाले कवि विरले ही दिखायी देते हैं। शास्त्रीय प्रकरणों में जो मौलिकता मिलती भी है वह अधिकतर नामकरण, वर्गीकरण तथा भेदोपभेदों की संख्यावृद्धि से अधिक सम्बद्ध है, तात्विक विवेचन से कम। वस्तु पक्ष में संस्कृत की अपेक्षा भाषा का क्षेत्र भिन्न एवं विस्तृत होने के कारण नवीनता अधिक मिलती है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का निष्कर्ष उल्लेखनीय है। आचार्यों को उन्होंने तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया—१. उद्‌भावक आचार्य, २. व्याख्याता आचार्य, ३. कविशिक्षक आचार्य फिर इनमें श्रेणीगत तारतम्य की कल्पना करते हुए लिखा—

'हिन्दी के रीति आचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया। उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांगनिरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी किन्तु खंडन-मंडन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में एवं केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर वे भी इस स्थान के अधिकारी नहीं हो सकते। अंततः वे तृतीय वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्रभाष्यकार। उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरस रूप में हिन्दी में अवतरित करना था। और इसमें वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।'[1]

इतना अवश्य है कि भाषा में संस्कृत की शास्त्रोचित गुरुता-गंभीरता लाने के लिए शास्त्रनिरूपण कार्य के अतिरिक्त जो श्रम हिन्दी रीति आचार्यों को उठाना पड़ा उसकी ओर भी दृष्टि रखनी चाहिए। ब्रजभाषा में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का

१—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ६३

निर्माण उस काल में स्वयं एक मौलिक कार्य था भले ही वह मौलिकता शास्त्रीय मौलिकता से भिन्न कही जाय परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उसका अपना महत्त्व है जिसकी उपेक्षा करना रीतिकवियों के प्रति अन्याय करना होगा। जिस सांस्कृतिक पराभव-काल में इन कवियों ने काव्य रचना की उसमें उस स्तर की शास्त्रीयता भी, जैसी रीतिग्रंथों में मिलती है, काव्य-शास्त्र के प्रति सामान्य दायित्व का यथेष्ठ बोध कराती है। इस तथ्य का निषेध करना वास्तविकता का निषेध करना है।

रीतिकालीन कवि और नायक-नायिका-भेद

रीतिकाव्य की श्रृंगार-प्रधान प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए नायक-नायिका-भेद को उसका भारवाहक आधार-दंड कहा जा सकता है। रीतिकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में श्रृंगार रस का सारा विस्तार आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिकाओं के भेदोपभेद को लेकर खड़े किये गये इसी ढाँचे के आसपास किया है। कुछ ने तो केवल इसी को मुख्य विषय बनाकर स्वतन्त्र ग्रन्थ-निर्माण किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि मूलतः यह विषय काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध नहीं था और न शास्त्र-निरूपण में इसको कोई महत्त्वपूर्ण स्थान ही प्राप्त था। रस सम्प्रदाय के उत्कर्ष और उसमें श्रृंगार रस के राजत्व की स्थापना के साथ साथ नायिका-भेद का उसमें सुनिश्चित अन्तर्भाव बाद की वस्तु है।

इस विषय का उल्लेख सर्वप्रथम भरत के नाट्य-शास्त्र में ही उपलब्ध होता है किन्तु जैसा कहा जा चुका है वहाँ श्रृंगार रस से इसका कोई भी सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं किया गया है। रस और भावों का विवेचन छठे तथा सातवें अध्यायों में है जब कि नायिकाओं का वर्गीकरण बाईसवें अध्याय में, जिसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय चतुर्विध वृत्तियों का विचार है। भरत ने जो नायिका-भेद प्रस्तुत किया है वह 'प्रकृति', 'अवस्था' और 'कर्म' के तीन भिन्न आधारों पर आश्रित हैं। भरत के पश्चात् नाट्यशास्त्र के दूसरे प्रमुख आचार्य धनंजय हुए जिनका समय दशवीं शती ईसवी के लगभग माना जाता है। कई शताब्दियों के व्यवधान के बाद भी कुछ व्यवस्था और विस्तार पाने के अतिरिक्त नायिका-भेद की मौलिक स्थिति उनके 'दशरूपक' में प्रायः वैसी ही रही जैसी भरत के नाट्यशास्त्र में थी अर्थात् धनंजय ने भी उसे श्रृंगार रस के अंगरूप में स्थान न देकर भिन्न प्रसंग में ही रखा है। 'दशरूपक' में नायिका-भेद द्वितीय प्रकाश में और रस-विवेचन चतुर्थ प्रकाश में उपलब्ध होता है।

काव्यशास्त्र से नायिका-भेद का सम्बन्ध

काव्यशास्त्र से नायिकाभेद को सम्बद्ध करने का मौलिक श्रेय, इस विषय

के विशेषज्ञ डॉ० राकेश के मत से 'अग्निपुराण' को है।[1] इस पुराण का उल्लेख नायिकाभेद के प्रसंग में प्रभुदयाल मीतल और डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ने भी किया है परन्तु उनके द्वारा उसके महत्त्व का इस रूप में तनिक भी ग्रहण नहीं हुआ है।[2] डॉ० नगेन्द्र ने अग्निपुराण को भोज के 'श्रृंगार प्रकाश' का प्रेरक ग्रन्थ मात्र कहा है। उनके मत से नायिका-भेद की परिपाटी का आदिम ग्रन्थ रुद्र-भट्ट का 'श्रृंगारतिलक' ही माना जा सकता है।[3] इस मत द्वैध को देखते हुए स्थिति विचारणीय प्रतीत होती है। अग्निपुराण में श्रृंगार रस के प्रसंग में नायिका-भेद सम्बन्धी यही एक श्लोक मिलता है—

स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिका।
सामान्या च पुनर्भुरित्याद्या बहु भेदतः ॥३३९।४१॥

संस्कृत के साहित्याचार्यों का कथन है कि इसकी रचना ईसा की १२वीं शती के अन्तिम चरण के आसपास हुई होगी क्योंकि इसमें भोज के साहित्य विषयक विशिष्ट सिद्धान्तों का समावेश भी उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम इसके अंशों को १४वीं शती में विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में ही उद्धृत किया है।[4] अग्निपुराण का प्रभाव भोज पर है या भोज का अग्निपुराण पर इसका अन्तिम निर्णय किसी एक अंश को लेकर नहीं किया जा सकता। जहाँ तक नायिकाभेद का प्रश्न है भोजराज का निरूपण पल्लवित अवस्था का द्योतक है और अग्निपुराण का बीजावस्था का। भोजराज से पूर्व रुद्रट और रुद्रभट्ट ने भी श्रृंगाररस से सम्बद्ध करके ही नायिकाभेद का निरूपण किया है। अग्निपुराण तभी नायिकाभेद का आदि ग्रन्थ माना जा सकता है जब वह इनसे पहले अर्थात् ८वीं शती के अन्त की रचना सिद्ध हो। नायिकाभेद और श्रृंगार रस के उक्त एकीकरण की जड़ें और भी अधिक गहरी प्रतीत होती हैं।

विकास के तीन सोपान

भरत के नाट्यशास्त्र से भानुदत्त की 'रसमंजरी' तक और 'रसमंजरी' से

१—पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४०४; ब्रजभाषा का नायिकाभेद

२—ब्रजभाषा साहित्य में नायिका-निरूपण, पृ० ११२ तथा—रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन, पृ० २२९

३—रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १३५

४—भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम खंड, पृ० १०५

लेकर रूप गोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' तक संस्कृत में नायिकाभेद के विकास के तीन प्रमुख सोपान दिखायी देते हैं--

१. नायिकाभेद--नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र का एक साधारण अंग।

२. नायिकाभेद--काव्यशास्त्र के श्रृंगार रस प्रकरण से पूर्णतया सम्बद्ध विशेष अंग।

३. नायिकाभेद--कृष्णलीला से संग्रथित, भक्तियुक्त।

कामशास्त्र का प्रभाव

कामशास्त्र के प्रभाव से एक ओर नायिकाभेद के अन्तर्गत स्त्री को भोग पदार्थ मानते हुए जातिमूलक स्थूल वर्गीकरण की सीमाओं में बाँध दिया गया। दूसरी ओर स्त्री-व्यसनी साधन-सम्पन्न विलासी व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ जो भोगमूलक रसिकता को ही जीवन की चरम उपलब्धि मानने लगा।[1] यह वर्ग प्रभावशाली सामंत वर्ग था जिसे कवियों के आश्रयदाता एवं काव्यरसिक होने का भी गौरव प्राप्त था। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यद्यपि श्रृंगार काम प्रधान है तो भी काम श्रृंगार नहीं है क्योंकि काम को श्रृंगार रस का रूप कवि देता है। श्रृंगार रस की 'रति' को उन्होंने स्त्री-पुरुष के परस्पर-अभिलाष-संभोग-रूप लौकिक रति से विलक्षण माना है। कामशास्त्र के प्रभाव से आगे इस मौलिक तथ्य की उपेक्षा होती गयी। पहले आचार्यों का ध्यान नायक-नायिका, आलम्बन और आश्रय दोनों ही पक्षों पर जाता था परन्तु बाद में नायिका को ही निश्चित आलम्बन मान कर उसी के भेदोपभेदों का विकास होता गया जो विकृतिमूलक एकांगीपन का स्पष्ट सूचक है।

संस्कृत साहित्य में नायिका-भेद का विस्तार

संस्कृत साहित्यशास्त्र के मान्य आचार्यों में जिन्होंने अपने ग्रन्थों में नायिका-भेद का न्यूनाधिक निरूपण किया है, क्रमशः निम्नलिखित सोलह नाम उल्लेखनीय हैं--

१. भरत, २. रुद्रट, ३. रुद्रभट्ट, ४. धनंजय, ५. भोजराज, ६. मम्मट, ७. हेमचन्द्र, ८. वाग्भट प्रथम, ९. वाग्भट द्वितीय, १०. रुय्यक, ११. विश्वनाथ, १२. शारदातनय, १३. शिंगभूपाल, १४. भानुदत्त, १५. केशव मिश्र, १६. रूप गोस्वामी

इनमें भरत, रुद्रभट्ट, धनंजय, भोज, विश्वनाथ और भानुदत्त सर्वप्रमुख कहे जा सकते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में किये गये नायिकाओं के वर्गीकरण का उल्लेख किया जा चुका है। उनके पश्चात् नायिकाभेद के विस्तार की दृष्टि से

१--दृष्टव्य--हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ३९८-४००

रुद्रभट्ट का योग अधिक मूल्यवान है। धनंजय ने मूलतः भरत के पथ का अनुसरण करते हुए कुछ नये वर्ग और भेद किये जो अवान्तर उपभेदों को छोड़कर प्रायः मान्य हुए। उपभेदों से धनंजय की सूक्ष्म भेदक दृष्टि का स्पष्ट आभास मिलता है। भोजराज ने उस शृंगाररस, जिसके अन्तर्गत नायिकाभेद आता है, के रस-राजत्व की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। विश्वनाथ ने धनंजय द्वारा किये गये भेदों को तो ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया पर उपभेदों में पर्याप्त नवीनता प्रदर्शित की। कुछ उपभेद धनंजय के दशरूपक से और कुछ भरत के नाट्यशास्त्र से तथा कुछ की मौलिक उद्भावना करते हुए उन्होंने नायिकाभेद को अपने ढंग से एक नयी व्यवस्था प्रदान की। भानुदत्त की 'रसमंजरी' इस विकास की चरम परिणति है। वह संस्कृत के ही नहीं वरन् हिन्दी आदि अन्यान्य भाषाओं के समस्त साहित्य में नायिकाभेद का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण शास्त्र-ग्रन्थ माना जाता है। भानुदत्त ने अपने ग्रन्थों में 'शृंगार तिलक' तथा 'दशरूपक' का उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में वे रुद्रभट्ट और धनंजय के कृतित्व से परिचित थे। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' से उनका परिचय सम्भवतः नहीं था। उनका समय तेरहवीं शती ई० के अन्त और चौदहवीं के आरम्भ के लगभग माना जाता है। भानुदत्त द्वारा प्रस्तुत समस्त भेदोपभेदों को प्रस्तारित करने पर उनकी संख्या ११५२ होती है जिसका उल्लेख स्वयं उन्होंने ही किया है—

'द्विपंचाशदधिकशतयुतं सहस्रं भेदा भवन्ति'

भानुदत्त के बाद १६वीं शती में केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर और रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' में इस विषय का प्रतिपादन मिलता है। रूप गोस्वामी ने कृष्णभक्ति से सम्बद्ध होने के कारण कृष्णलीलाओं से नायिका-भेद को जोड़ दिया यद्यपि उनसे पूर्व ही जयदेव, विद्यापति आदि कवियों की पदावली के द्वारा यह अंशतः घटित होने लगा था पर उसे शास्त्रीय पूर्णता रूपगोस्वामी ने ही दी।

रीतिकवियों द्वारा नायिका-भेद की परम्परा का परिपालन एवं परिवर्धन

रीतिकाव्य में नायिकाभेद का ग्रहण उस अवस्था में हुआ जब उसका सम्बन्ध कृष्णलीलाओं से स्थापित हो चुका था। सूर की तथाकथित 'साहित्य लहरी' और नंददास की 'रसमंजरी' इसका प्रमाण है। 'रसमंजरी' तो निश्चित रूप से भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर आधारित है। रहीम का 'बरवै नायिकाभेद' इस विषय की अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें लक्षण न देकर उनका क्रम अनुसरण करते हुए उदाहरण मात्र दिये गये हैं। यह कृति ब्रजभाषा में न होकर अवधी में है तथा इसमें प्रसिद्ध अष्ट नायिकाओं की संख्या बढ़कर दस हो गयी। जो दो अति-

रिक्त भेद 'प्रवस्यत्पतिका' और 'आगतपतिका' इसमें मिलते हैं वे कृपाराम, मतिराम, पद्माकर आदि अनेक रीतिकारों के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त रीतिकवियों द्वारा निरपवाद रूप से 'प्रगल्भा' को 'प्रौढ़ा' और 'परकीया' के 'परोढ़ा-कन्यका' भेदों को 'ऊढ़ा-अनूढ़ा' कहा गया है। यह तथ्य इस बात की ओर स्पष्ट इंगित करता है कि हिन्दी में इस परम्परा का पूरा इतिहास अभी अज्ञात है तथा रहीम और 'नंददास' से पूर्व ही इस भिन्न परम्परा का निश्चय हो चुका था। यह नामान्तरण यों ही घटित नहीं हुआ। मेरी निश्चित धारणा है कि भानुदत्त और नंददास के बीच इस विषय के भाषा ग्रन्थों की भी एक शृंखला अवश्य रही होगी। 'परोढ़ा-कन्यका' संभव है रुद्रट के 'कन्या-अन्योढ़ा' के सादृश्य से 'ऊढ़ा-अनूढ़ा' में परिणत एवं परिवर्तित हो गये हों। शृंगारप्रकाश में भोजराज ने स्वकीया परकीया के, परिणय के आधार पर किये गये, भेदों के लिए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है सम्भव है वहीं से हिन्दी रीतिकवियों ने इन्हें ग्रहण कर लिया हो।

रीतिकवियों में जिन्होंने नायिकाभेद अधिक समृद्ध एवं विस्तृत बनाने में योग दिया उन कवियों में कृपाराम, केशवदास, चिंतामणि, मतिराम, देव, दास तथा रसलीन के नाम अग्रगण्य हैं। यों यह परम्परा हरिऔध के 'रसकलस' तक चलती रही। इन कवियों ने किन भेदोपभेदों की सृष्टि की तथा संस्कृत आचार्यों के वर्गीकरण का कहाँ तक अनुसरण किया इसका विशेष परिचय पाने के लिए 'हिन्दुस्तानी' (भाग १९, अंक २, अप्रैल-जून, १९५८) में प्रकाशित मेरा 'ब्रजभाषा काव्य में नायक-नायिकाभेद' शीर्षक विस्तृत निबन्ध दृष्टव्य है। प्रस्तुत सामग्री उसी के आधार पर संक्षिप्त रूप में दी गयी है।

कृपाराम की 'हिततरंगिनी' (सं० १५९८) हिन्दी रीतिकाव्य में नायिका-भेद का आदिग्रन्थ कहा जाता है पर उसकी इतनी प्राचीनता असंदिग्ध नहीं कही जा सकती। उसमें भरत के नाट्यशास्त्र का आधार ग्रहण करने का स्पष्ट उल्लेख है और उसकी रचना भी दोहा जैसे छोटे छंद में अन्य दीर्घछंदों का तिरस्कार करते हुए की गयी है। ग्रन्थ में भेदोप्रभेदों में कुछ मौलिकता प्रदर्शित की गयी है।

केशवदास की 'रसिकप्रिया' कवियों को काव्य के अन्य अंगों के साथ-साथ नायिकाभेद की ओर प्रेरित करने की दृष्टि से अद्वितीय महत्त्व की रचना है। केशव से पूर्व मोहनलाल का 'शृंगारसागर' (सं० १६१६) तथा नरेश कवि का 'नायिकाभेद' (सं० १६४७) नामक ग्रंथ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। नायिका-भेद-निरूपण की परम्परा में सम्भवतः केशव पहले रीतिकवि हैं जिन्होंने काम-

शास्त्र सम्मत चतुर्विध नायिकाओं को भी अपने वर्गीकरण में समाविष्ट कर लिया है। रुद्रभट्ट और विश्वनाथ के ग्रन्थों का प्रभाव रसिकप्रिया पर स्पष्ट रीति से लक्षित किया जा सकता है। केशव ने अष्टनायिकाओं में सभी के 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' नाम दो दो भेद किए हैं जिनका आधार भोजराज के शृंगारप्रकाश के अनुराग के इसी नाम के भेदों से लिया गया प्रतीत होता है। केशव ने 'पातुरराय'-प्रेमी होने पर भी स्वकीया-परकीया के साथ 'सामान्या' को स्थान नहीं दिया और इसी नायकभेद से 'वैसिक' नायक को भी वहिष्कृत कर दिया।

केशव की 'रसिकप्रिया' से नायिका-भेद का जो विस्तार आरम्भ हुआ उसका क्रम लगातार अन्त तक चलता रहा। कुछ कवियों ने सभी रसों का निरूपण करते हुए शृंगाररस के प्रसंग में नायिकाभेद का निरूपण किया, कुछ ने केवल शृंगार-रस को ग्रहण किया और कुछ ने केवल इसी विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ रच डाले। प्रथम प्रकार के ग्रन्थों में तोष का 'सुधानिधि', सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव', सूरति मिश्र का 'रस रत्नाकर', देव का 'रसविलास', श्रीपति का 'रससागर', रसलीन का 'रसप्रबोध' पद्माकर का 'जगतविनोद', बेनीप्रवीन का 'नवरस-तरंग' और ग्वाल का 'रस रंग' विशेष उल्लेखनीय है। द्वितीय प्रकार का उदा-हरण मतिराम के 'रसराज', सुन्दर के 'सुन्दर शृंगार', चिंतामणि की 'शृंगार-मंजरी', सुखदेव मिश्र की 'शृंगारलता', भिखारीदास के 'शृंगारनिर्णय' जैसे ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। शम्भुनाथ सुलंकी, कुंदन तथा खड्गराय आदि गौण कवियों की 'नायिकाभेद' नामक रचनाएं तीसरे प्रकार की हैं।

चिंतामणि ने सर्वप्रथम भानुदत्त का अनुसरण करते हुए नायिका को तीन प्रकारों-दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य का स्वतन्त्र वर्ग के रूप में उल्लेख किया। प्रधान परवर्ती आचार्यों में केवल देव ने ही इन भेदों को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने स्वतन्त्र वर्ग में न रख कर स्वकीया के उपभेदों में इन्हें स्थान दिया है। चिंतामणि और केशव के बीच भी ऐसे ही कई समानताएँ मिलती हैं। मतिराम के 'रसराज' को हिन्दी में प्रायः वैसी ही मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई जैसी संस्कृत में भानुदत्त की 'रसमंजरी' को मिली। रसराज में अन्य ग्रंथों की अपेक्षा नायिकाभेद के परिविस्तार में आन्तरिक रसात्मक आधार को अधिक सुरक्षित रखा गया है। भानुदत्त और मतिराम के नायिका-निरूपण में व्यापक साम्य के साथ-साथ कुछ विभिन्नताएँ भी मिलती हैं जिनमें मतिराम की प्रवृत्ति संक्षेपी-करण की ओर अधिक दिखायी देती है। भेद-विस्तार के उस युग में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। रीतिकवियों में मतिराम को जो मान्यता प्राप्त हुई

उसमें उनकी इस संयमशीलता का बहुत बड़ा हाथ है। नायिकाभेद के सम्बन्ध में देव की प्रवृत्ति मतिराम के सर्वथा प्रतिकूल थी। उन्होंने नायिकाओं की संख्या और वर्गों का विस्तार करने में जहाँ जो भी आधार मिला उसे निस्संकोच स्वीकार कर लिया जिसका परिणाम यह हुआ कि नायिका-निरूपण काव्यशास्त्र तक सीमित न रह कर समाजशास्त्र, कामशास्त्र और वैद्यकशास्त्र आदि अन्यान्य शास्त्रों तक फैल गया और इस अनेकमुखी संघटन के प्रयास में मूल तात्विक-आधार प्रच्छन्न हो गया। रस का पोषक मात्र न रह कर नायिकाभेद स्त्री विषय समस्त सामान्य ज्ञान का संचय हो गया। 'शृंगारनिर्णय' में दास ने इस विषय को स्वतन्त्ररूप से उठाते हुए कहीं कहीं वास्तविक आचार्य दृष्टि का परिचय दिया है। कृपाराम की 'हिततरंगिनी' की तरह दोहों में ही लिखित 'रसप्रबोध' के रचयिता सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' ने नायिकाभेद को विस्तृत एवं पूर्ण करने के भाव से भेद-प्रभेद सृजन की प्रवृत्ति को चरमसीमा पर पहुँचा दिया। कुछ बातों में वे देव और दास से भी आगे निकल गये। उन्होंने नायिकाओं की सम्मिलित संख्या 'तेरा सै बावन' तक पहुँचा दी जबकि भरत के नाट्यशास्त्र में यह सत्तर के लगभग ही थी। रसलीन से अधिक विस्तारवादी और कोई आचार्य नहीं दिखायी देता। उनका वर्गीकरण एक स्वतन्त्र अध्ययन की वस्तु है।

नायिकाभेद का सैद्धान्तिक औचित्य तथा अन्य समस्याएँ

नायिकाभेद के इतिहास से यदि रीतिकालीन कवियों के कृतित्व को निकाल दिया जाय तो वह निश्चय ही अपूर्ण रह जायेगा। भानुदत्त तक उसका रूप निश्चित अवश्य हो चुका था परन्तु उसके बहुत से अंगों की अपूर्णताओं एवं असंगतियों की ओर इंगित करते हुए रीतिकवियों ने कहीं-कहीं ऐसी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है जिससे प्रतीत होता है कि उसकी प्रकृति नायिकाभेद के विवेचन के लिए संस्कृत के आचार्यों से भी अधिक अनुकूल थी और इस विषय से उनका रागात्मक सम्बन्ध भी गहनतर था। साथ ही नायिकाभेद के विस्तार में कुछ असंगत वर्गीकरण और अनावश्यक जटिलताएँ लाने के दोष से भी उनको मुक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि इस दिशा में भी उनका योगदान अभूतपूर्व है।

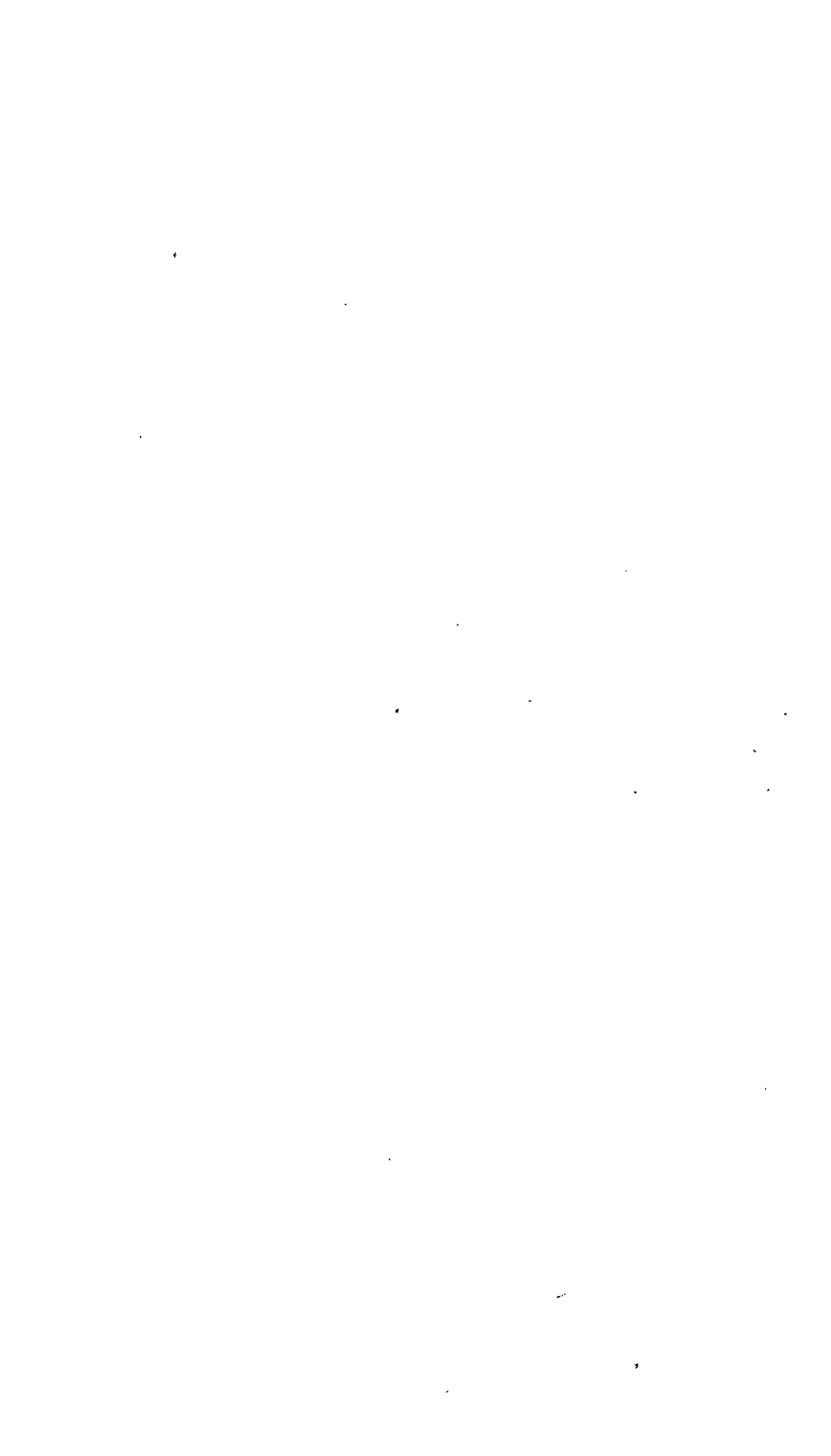
वह रस-सिद्धान्त जिसका अंग बन कर नायिकाभेद पल्लवित एवं पुष्पित हुआ काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र की ही देन है। आगे के आचार्यों द्वारा शृंगार के रसराजत्व की स्थापना इसके विकास के लिए विशेष अनुकूल सिद्ध हुई। क्योंकि काव्यशास्त्र के प्रणेता पुरुष थे अतः नायकभेद में उन्होंने रुचि न लेकर नायिका-भेद का ही विस्तार किया। यह ऐतिहासिक स्थिति इस बात की ओर प्रेरित करती

है कि नायिकाभेद का मौलिक औचित्य शृंगाररस के सैद्धान्तिक स्वरूप में ही खोजा जाय। आचार्य अभिनवगुप्त ने बलपूर्वक कहा है कि रसास्वादन एक अखंड प्रक्रिया है और विभावादि अंगों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जा सकती पर नायिका-भेद के अन्तर्गत ऐसी नायिकाओं को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिनसे न केवल रसाभास उत्पन्न होता है वरन् रसविरोध की स्थिति भी आ जाती है। दूसरी मौलिक त्रुटि है नायक को गौण या नगण्य स्थान देकर नायिका को ही सर्वोपरि मान लेना। डॉ० नगेन्द्र ने भी 'आधारों की अनेकता', 'वर्गगत विश्लेषण का अनौचित्य', 'प्रेम को परिमित मानना' आदि अनेक त्रुटियों की ओर संकेत किया है।[1] सामान्या का जिस रूप में निरूपण किया जाता रहा उसमें धनलिप्सा प्रमुख और रतिभाव गौण मिलता है। कहीं कहीं उसका सर्वथा अभाव लक्षित होता है। ऐसी दशा में रस की दृष्टि से सामान्या के समावेश पर शंका की जा सकती है जो नैतिकता के प्रश्न से भिन्न कही जायगी। रसलीन ने अपने कुछ भेदों की असंगति यह कह कर दूर करनी चाही कि ऐसा रसाभास तो 'मुग्धा' और 'कुलटा' में भी मिलता है पर एक दोष का परिहार दूसरे दोष के उदाहरण से नहीं किया जा सकता। डॉ० राकेश ने भी कुछ 'खटकने वाली' बातों की ओर निर्देश किया है।[2] उनकी कुछ आपत्तियाँ आधारयुक्त एवं समुचित प्रतीत नहीं होतीं। नायिकाभेद के बहुत से दोष रीतिकवियों को संस्कृत कवियों से विरासत के रूप में प्राप्त हुए थे अतः उसके लिए उन्हें सर्वांश में उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता।

१—रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० १३७–१४०

२—पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४१०–११

रीतिकाव्य की भाषा
और
रीतिकालीन छंद



रीतिकाव्य की भाषा

जिस देश में मुख्यतया रीतिकाव्य रचा गया वह सदा से ही विविध भाषाओं के संगम का केन्द्र रहा है। इसके दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि भारत को मध्यवर्ती भूभाग अपनी भौगोलिक तथा राजनैतिक स्थिति के कारण पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण चारों ओर के भाषा प्रभावों को आत्मसात् करता रहा। दूसरा कारण कदाचित् इस प्रदेश की संस्कृति का एक मूलभूत तत्व है जिसे उदाराशयता या समन्वय-वृत्ति कह सकते हैं जिसके कारण भाषा विषयक वैसी कट्टरता यहाँ दिखायी नहीं देती जैसी देश के अन्य भागों में आज भी मिलती है।

इस तथ्य को लक्षित करते हुए राजशेखर ने मध्यदेश के कवियों के लिए सभी भाषाओं में प्रवीण होना आवश्यक बताया है यद्यपि राजसभा में प्रत्येक भाषा के कवि का समादर होता था और उसके बैठने का स्थान तक निश्चित रहता था।

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचित रुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकल मरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥[1]

चंदवरदाई का 'षट्भाषा' ज्ञान भी इसी परम्परा में आता है।

काव्यमीमांसा के रचयिता ने अपने समय में यह भी लक्षित किया था अन्य भाषा रूपों की अपेक्षा मथुरा के आसपास की बोली में मधुरता अधिक है। उसने स्पष्ट लिखा है—

मधुर मधुरावासि भणितिः।

शौरसेनी का यह माधुर्य ब्रजभाषा को उत्तराधिकार में विशेषरूप से उपलब्ध हुआ साथ ही वह संस्कार भी उसमें सन्निहित रहे जिनके द्वारा अन्यान्य भाषाओं से शब्द एवं प्रभाव ग्रहण उसके उदार स्वभाव का एक अंग बन गया। फलतः जिस तथ्य को शताब्दियों पूर्व राजशेखर ने लक्षित किया था वही रीतिकाल के उत्तरार्ध के कवि भिखारीदास की दृष्टि में आया। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्य-निर्णय में उन्होंने

१—काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ० १२४

मध्यकालीन कवियों की भाषा विषयक स्थिति को निम्नलिखित क्रम में व्यक्त किया है। यहाँ ब्रजभाषा के साहित्यिक एवं प्रादेशिक द्विविध रूपों को ध्यान में रखते हुए उसके साहित्यिक रूप को ही वरेण्य माना गया है—

सूर केसौ मंडन बिहारी कालिदास ब्रह्म,
चिंतामनि मतिराम भूषन से ज्ञानिये।
लीलाधर सेनापति निपट नेवाज निधि,
नीलकंठ मिश्र सुकदेव देव मानिये।
आलम रहीम रसखानि रसलीन और,
सुन्दर सुमति भये कहाँ लौं बखानिये।
ब्रजभाषा हेतु ब्रजबास ही न अनुमानो,
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानिहू से जानिये।[1]

दास जी भी उसी कवि को सुकवियों का सरदार या सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे जिसके काव्य में विविध प्रकार की भाषाएँ मिश्रित हों। उपर्युक्त छंद में आये कवियों की तुलना में वे तुलसी और गंग को इसी आधार पर श्रेष्ठतर मानते हुए लिखते हैं—

तुलसी गंग दुऔ भये, सुकविन्ह के सरदार।
इनके काव्यन्ह में मिली भाषा विविध प्रकार।।[2]

भाषा-मिश्रण का जो रूप दास की कल्पना में था उसका भी स्पष्टीकरण उन्होंने किया है और उससे ज्ञात होता है कि चंदवरदाई वाली 'षट्भाषा' ज्ञान की परम्परा रूढ़िबद्ध होकर मध्यदेश के कवियों में रीतिकाल के अन्त तक मान्य रही। कौन कौन सी भाषाओं का मिश्रण इष्ट था इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुकवि सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होइ।।
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जमन भाषानि।
सहज पारसी हू मिले खटविधि कवित बखानि।।[3]

रीतिकालीन ब्रजभाषा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मागधी, जो वास्तव

१—काव्यनिर्णय, प्रथम उल्लास, छंद १६
२—वही, छंद १७
३—वही, छंद १४-१५

में प्राकृत अपभ्रंश का ही एक विशेष रूप है, के तत्व तो स्वाभाविक विकासक्रम द्वारा ही निहित मिलते हैं। फ़ारसी का प्रभाव एवं मिश्रण विदेशी तत्व होने के कारण अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है अतएव इस पर पृथक् रूप से आगे विचार किया गया है।

दास द्वारा मागधी का अलग से उल्लेख क्यों हुआ, क्यों नहीं प्राकृत अपभ्रंश के भीतर उसे समाहित मान लिया गया, इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी ने एक अनुमान लगाया है और वह यह कि रीतिग्रंथों का विकास अवध क्षेत्र में अधिक होने के कारण अवधी का ब्रजभाषा में मिश्रण विशेष रूप से हुआ।[1] अवधी का प्रभाव कुछ अंशों में ब्रजभाषा पर अवश्य पड़ा परन्तु ठेठ अवधी भाषा में, रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' के अतिरिक्त, कोई अन्य रीतिग्रंथ रचा गया हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। इस एक उल्लेखनीय अपवाद को छोड़ कर शेष सारा रीति-साहित्य ब्रजभाषा में विनिर्मित हुआ है। यह दूसरी बात है कि अवधी की तरह कन्नौजी बुंदेली आदि का तथा अन्यान्य सीमावर्ती उपभाषाओं का भी यत्किंचित प्रभाव उस पर पड़ा हो।

रीतिकाल के आरंभिक काल में भी यह धारणा प्रचलित थी कि मध्यदेश सब देशों की मणि है और ब्रजभाषा सब भाषाओं की मणि। इस प्रसंग में स्वयं केशव-दास और घनानन्द की जीवन-प्राण सुजान की निम्नलिखित उक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

गोपाचल ऐसे गढ़, राजा रामसिंह जू से,
देशनि की मणि महि मध्यदेश मानिये।

—केशवदास

रागन मणि भैरो, भाषामणि ब्रज की,
. . . . 'सुजान' अस्तुति कीनी।

—राग कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृ० २६४

इधर पंडित हरिहरनिवास द्विवेदी ने ग्वालियरी भाषा और ग्वालियर राज्य के सांस्कृतिक महत्त्व को एक विशेष आग्रह के साथ विद्वानों के सामने रखा है जिसमें ब्रजभाषा और ब्रजप्रदेश के महत्त्व को कम करने की चेष्टा भी निहित है। ग्वालि-यरी भाषा मानसिंह तँवर के अभ्युदय काल में अपनी स्वतन्त्र सांस्कृतिक महत्ता

१—'रीतिग्रन्थों का विकास अधिकतर अवध में हुआ अतः इस काल में काव्य की ब्रजभाषा में अवधी के प्रयोग और अधिक मिले। (दास ने काव्यनिर्णय में मगधी के मिश्रण की बात इसी अभिप्राय से कही।)

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६५

स्थापित कर सकी थी इस तथ्य को सर्वथा प्रमाणित मान लेने पर भी इस ऐतिहासिक स्थिति का निषेध नहीं किया जा सकता कि १६वीं शती से १९वीं शती तक ब्रजभाषा का, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना के प्रमुख वाहक के रूप में अखंड आधिपत्य मध्यदेश में बना रहा। ग्वालियरी, जो मूलतः ब्रजभाषा से बहुत भिन्न थी भी नहीं, उसी में समाविष्ट हो गयी। 'मानकुतूहल' के फारसी अनुवादक फकीरुल्ला ने 'सुदेश' (मध्यदेश का ही विशेष भाग) की जो सीमाएँ बतायी हैं उनको देखते हुए वास्तविकता ऐसी ही प्रतीत होती है।[1]

मध्यकाल में ब्रजभाषा का इतना परिविस्तार एवं सांस्कृतिक-साहित्यिक प्रभुत्व क्यों संभव हुआ इसका कारण खोजते हुए 'ब्रजभाषा की तीन सहायक शक्तियों' का उल्लेख किया गया है—[2]

१. कृष्णभक्ति
२. राजागण
३. संगीत

कृष्ण-भक्ति के साथ एक ओर वह बंगाल के कृष्णदास, श्यामदास आदि 'ब्रजबुली' के कवियों की मैथिली-मिश्रित भाषा को ब्रज के संस्कार प्रदान कर सकी दूसरी ओर गुजरात के केशवदास तथा भालपा जैसे कवियों को संभवतः १५वीं, १६वीं शताब्दी से ही अपने प्रयोग की ओर प्रेरित करने में समर्थ हुई। दक्षिण भी ब्रजभाषा के प्रभाव से सर्वथा अछूता नहीं रहा यद्यपि बंगाल और गुजरात की तरह कदाचित् ब्रजमिश्रित किसी विशिष्ट भाषा रूप का विकास वहाँ नहीं हुआ। कृष्णकाव्य पदवद्ध शैली में रचा गया और पद रागबद्ध किये गये अतएव संगीत भी ब्रजभाष को प्रचारित करने में सहायक हुआ। जहाँ तक रीतिकाव्य का सम्बन्ध है उसके ब्रजभाषा में विनिर्मित होने का कारण मेरे विचार से परम्परा में अधिक निहित है। कृष्णभक्ति और राजाश्रय उसके पोषक माने जा सकते हैं। संगीत से रीतिकाव्य, वैष्णवकाव्य की तरह कभी संबद्ध नहीं रहा। परम्परा से मेरा तात्पर्य शौरसेनी की अपनी माधुर्यमय भाषा-शैली के कवियों द्वारा निरंतर प्रयोग से है जिसका क्रम प्रायः अविच्छिन्न दिखायी देता है। शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश, अपभ्रंशाभास ब्रज और उसके बाद साहित्यिक ब्रजभाषा यह परम्परागत अनुक्रम अपने में एक ऐसी शक्ति था कि उसके स्वाभाविक प्रवाह को अबतक

१—मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० १५५
२ ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली, पृ० ४–१३

कोई अवरुद्ध नहीं कर सका है। खड़ी बोली जो ब्रजभाषा को विस्थापित करके आज प्रतिष्ठित हो गयी है वह भी शौरसेनी अपभ्रंश से ही उद्भूत है।

ब्रजभाषा अपने परम्परागत साहित्यिक संस्कार एवं सहज माधुर्य के कारण भावप्रवण भक्तिकाव्य और तदनन्तर शृंगारप्रधान रीतिकाव्य के विशेष अनुकूल सिद्ध हुई। भक्त और रीतिकवियों ने अपनी अपनी प्रकृति के अनुरूप उसे नये नये संस्कारों से प्रसारित किया। रीतिकाल में उसकी आत्मा और वेश-विन्यास सभी कुछ राजसी हो गया। भूषण जैसे कवियों ने उसे वीररसोचित ओजस्विता भी प्रदान की। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा रीतिकाव्य तक सीमित नहीं है किन्तु हिन्दी में रीतिकाव्य मुख्यतया ब्रजभाषा तक ही सीमित है।

ब्रजभाषा साहित्य के प्राचीन से प्राचीन उदाहरण, जो अभी तक उपलब्ध हुए हैं, देखने पर ज्ञात होता है कि लोक की सहज स्वच्छन्द उन्मुक्त प्रकृति के स्थान पर उसमें आभिजात्य संस्कार प्रारम्भ से ही निहित थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस भाषा में साहित्य-निर्माण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है भले ही शृंखलाबद्ध प्रमाण अटूट कालक्रम से उपलब्ध न हो सकें। रीतिकवियों ने ब्रजभाषा के निहित आभिजात्य संस्कारों को और भी अधिक पुष्ट किया। यहाँ तक कि उसका रूप १९वीं शती तक आते आते बहुधा कृत्रिम और निर्जीव प्रतीत होने लगा। भाषा की आन्तरिक शक्तियों के संगठन की अपेक्षा अधिकतर कवि-गण शब्दगत अलंकरण, चमत्कार, वर्णमैत्री आदि अपेक्षाकृत बाह्य उपादानों का ही सहारा अधिक लेते रहे। मतिराम, घनानन्द, देव, बिहारी जैसे कवि भी हुए जिन्होंने भाषा को कोमल एवं सूक्ष्म भाव-व्यंजना की पर्याप्त सामर्थ्य प्रदान की। उक्ति-वैचित्र्य और तदनुरूप भाषा-भंगिमा इस काल की कविता का एक प्रधान गुण कहा जा सकता है। कवियों की शक्ति का बहुत बड़ा भाग भाषा को माँजने, सजाने और काव्य की राजसी प्रकृति के अनुरूप ढालने में व्यय हुआ फलतः उसका वैभव उर्दू, फारसी और संस्कृत के श्रेष्ठतम कवियों की कृतियों से तुलनीय समझा जाने लगा। कहीं कहीं इसमें अतिरंजना भी की गयी पर एक सीमित क्षेत्र के भीतर ब्रजभाषा-काव्य का लोहा प्रायः सभी ने मान लिया। मुक्तक-काव्य में ब्रजभाषा का रूप जितना अधिक निखरा है उतना निखार हिन्दी की किसी अन्य उपभाषा या बोली को सुलभ नहीं हुआ।

फ़ारसी भाषा का प्रभाव

रीतिकाल में फ़ारसी के राजभाषा होने से तथा रीति-काव्य के अधिकतर राजाश्रित होने के कारण ब्रजभाषा पर फ़ारसी का प्रभाव विशेष मात्रा में पड़ा।

दरबारों में रह कर ब्रज के कवि फ़ारसी, संस्कृति, फ़ारसी काव्य तथा फ़ारसी कवियों के सीधे सम्पर्क में आये । दोनों भाषाओं का पारस्परिक सम्पर्क एवं आदान-प्रदान सम्बन्ध स्थापित हुआ । अनेक फ़ारसीदाँ मुसलमानों ने ब्रजभाषा में रचना की तथा अनेक ब्रज के कवियों ने आश्रयदाता की प्रकृति को ध्यान में रख कर काल्पनिक रूप से फ़ारसी वातावरण में कविता लिखी । फलतः फ़ारसी प्रभाव सूक्ष्म रूप से, भाषा ही नहीं अन्यान्य स्तरों तक भी गहरे व्याप्त हो गया और अंत तक रीतिकालीन कवि उससे मुक्त नहीं हो सके । प्रायः कवियों ने फ़ारसी शब्दों एवं कल्पनाओं को अपनी प्रकृति के अनुरूप ढाल कर ग्रहण किया है पर इसके अपवाद भी मिलते हैं ।

नरहरि, गंग और रहीम यह अकबर के ऐसे दरबारी कवि थे जिन्होंने फ़ारसी भाषा का ब्रजभाषा के साथ विशेष मिश्रण किया है । कहीं कहीं तो मिश्रण न होकर शुद्ध फ़ारसी का प्रयोग हुआ है । कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं––

(i) **इन्साफ़ तुरा गोश्रद खलक 'कवि नरहरि' गुफ़तन चुनो ।**
बाबर न बरोबर बादशाह मन दिगर न दीदम दर दुनी ।।

(ii) **मुसकाय के मोतन हेरि दियो तिरछी अँखिया चितवन को नरूरत ।**
होशम रफ्त न मुंद बदस्त शुदे दिल मस्त जिदीदने सूरत ।

(iii) **मी गुजरत ई दिलरा वे दिलदार ।**
इक इक साअत हम यूं साल हजार ।।

पहला उद्धरण नरहरि के एक छप्पय का अंतिम अंश है । नरहरि अकबर के ही नहीं हुमायूं के दरबार में भी रह चुके थे और उनका सम्पर्क फ़ारसी से काफ़ी पुराना था । दूसरा अंश बिना कवि नाम के एक सवैये का उत्तरार्ध है जिसे गंग कृत बताया जाता है । हफ़ीजुल्ला खाँ के 'हजारा' में यह तथा ऐसे अन्य अनेक पद्य संकलित मिलते हैं। तीसरा उदाहरण रहीमकृत बरवै छंद में है । रहीम के शुद्ध पठान वंश में उत्पन्न होने के कारण उनका फ़ारसी में लिखना स्वाभाविक है पर ब्रज और अवधी भाषा का ठेठ प्रयोग निश्चय ही आश्चर्य उत्पन्न करता है । आलम, शेख और रसखानि की भी ऐसी ही स्थिति है। बिहारी पर फ़ारसी प्रभाव पद्मसिंह शर्मा ने भली प्रकार लक्षित किया था । 'दृगपग पोंछन कों किये भूषण पायंदाज' या 'दिपत ताफ़ता रंग' जैसे प्रयोग उसके प्रमाण हैं । पद्माकर और ग्वाल ने वातावरण निरूपण करने में फ़ारसी संज्ञाओं की भरमार कर दी है । भूषण से ही इसका एक प्रकार से आरम्भ हो गया था ।

बहुत से फ़ारसी शब्द ब्रजभाषा कवियों द्वारा ऐसे विकृत रूप में प्रयुक्त किये

गये जिसको देखकर परिष्कृत रुचि वाले व्यक्ति के सौन्दर्य-बोध पर ठेस लगती है जैसे 'खुशबू' से 'खसबोय' आदि। रसनिधिकृत 'रतनह जारा' में ऐसे बहुत से प्रयोग आसानी से खोजे जा सकते हैं। फ़ारसी शब्दों का ब्रजभाषा काव्य में प्रवेश वस्तुतः फ़ारसी संस्कृति के व्यापक प्रभाव का एक अंग मात्र कहा जा सकता है जैसा निर्देश किया जा चुका है। अतिशयोक्तिपूर्ण बारीकी से युक्त उक्ति चमत्कार, एक-पक्षीय अतिरंजनात्मक विरहभावना से समन्वित प्रेम-प्रलाप तथा ऐसे ही और तत्व अन्य अंगों के रूप में लक्षित किये गये हैं।[1] सूफ़ी काव्य के माध्यम से भी यह प्रभाव रीतिकाव्य में प्रविष्ट हुआ। घनानन्द, बोधा आदि कवियों की अनुभूति और वर्णन-भंगिमा सूफ़ी ढंग की दिखायी देती है जो परम्परागत रीतिकाव्य से सहज ही पृथक की जा सकती है। फ़ारसी प्रभाव ने रीतिकाव्य की विलासमूलक प्रवृत्ति को किंचित् नया धरातल प्रदान किया और कुछ दूर तक संस्कृत काव्य-परम्परा से अर्जित विलासिता के संस्कारों को अतिरिक्त शक्ति भी प्रदान की। रीति-कवियों को देशी और विदेशी संस्कारों के बीच एक सेतु का कार्य भी करना पड़ा। यह कार्य एक प्रकार से अमीर खुसरो की 'खालिकवारी' से ही प्रारंभ हो गया था पर रीतिकालीन कवियों ने जिस स्तर पर इसे सम्पन्न किया वह शब्दकोशात्मक न होकर रसात्मक था।

१—(i) 'फारसी के समान हिन्दी काव्य में नाज़ुक ख़याली, बारीक ख़याली, ज़ुबान की चुस्ती और चालाकी आदि को प्रधान करना पड़ा।'

—डॉ० रसाल, रीतिकाव्य विषयक एक लेख से

(ii) 'अट्ठारहवीं शताब्दी के कवियों में कुछ ऐसे हैं जिन्हें फ़ारसी साहित्य के अध्ययन करने का अवसर मिला था। उनकी रचनाओं में फ़ारसी साहित्य के एकांतिक और कभी कभी अनुभयनिष्ठ प्रीति के भावावेगजन्य वैयक्तिक उल्लास के भाव मिलते हैं।

—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० ३४२

(iii) 'साहित्य सेवा की इच्छा से फ़ारस और अन्यान्य देशों से आ आकर सहृदय कवि राजधानी में बस गये। फ़ारसी आचार-विचार भाव और काव्यशैली की उन्नति ब्रजभाषा और कविता के लिए सहायक हुई। ब्रजवासी सहृदय, प्रेमी, सौन्दर्य के उपासक, शृंगार के रसिक और माधुर्य के मधुकर थे। फ़ारसी के प्रेमी भी ऐसे ही थे। इनके बीच एक प्रकार की मित्रता हो गयी।"

—ले० डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १३५

छंदशास्त्र की परम्परा और रीतिकालीन छंद

यद्यपि भारतीय छंदशास्त्र का उद्गम वैदिक साहित्य में मिलता है तथापि उसकी व्यवस्थित परम्परा का सूत्रपात पिंगलाचार्य के 'छन्दःसूत्र' से होता है जिसका समय ई० पू० २०० के लगभग अनुमानित किया जाता है। आगे इसी ग्रंथ के कारण सम्पूर्ण छंदशास्त्र को आदि आचार्य के नाम पर पिंगलशास्त्र कहा जाने लगा। भरत के नाट्यशास्त्र में भी छंदों का संक्षिप्त निरूपण है। अग्निपुराण के अन्तर्गत उपलब्ध 'आग्नेय छन्दसारः' पूर्वोक्त छंदसूत्र पर ही आधारित है। संस्कृत साहित्य में छंदसंबंधी प्रसिद्ध ग्रंथों में कालिदास के 'श्रुतबोध', हलायुध के 'छन्दःशास्त्र' क्षेमेन्द्र के 'सुवृत्ततिलक' गंगादास की 'छन्दोमञ्जरी', केदारभट्ट के 'वृत्तरत्नाकर' तथा दामोदर मिश्र के 'वाणी भूषण' की गणना की जाती है। प्राकृत और अपभ्रंश छंदों की व्यवस्था देने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में हेमचंद कृत 'छंदोनुशासन' तथा विविध आचार्यों के सहयोग से रचित 'प्राकृत पैंगलम्' उल्लेखनीय हैं। छंदशास्त्र-लेखन की यह परम्परा विकसित होती हुई सीधे रीतिकाल तक चली आती है और अनेक रीतिकालीन आचार्यों ने रस अलंकार आदि पर लक्षणग्रंथ लिखने के साथ साथ छंद विषयक ग्रंथों का प्रणयन भी किया है। इनमें संस्कृत के आचार्यों द्वारा व्यवहृत लक्षण-उदाहरण देने की विविध शैलियों का भी समावेश मिलता है। रीतिकाल के छंदशास्त्र-प्रणेताओं में निम्नलिखित व्यक्ति और उनकी कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं---

हरिराम---छंदरत्नावली (सं० १६१०)
मतिराम---छंदसारपिंगल (सं० १७०० से १७१० के बीच)
चिंतामणि---पिंगल (सं० १७०० के लगभग)
सुखदेव---वृत्तविचार (सं० १७२८)
माखन---छंदविलास (सं० १७६०)
नारायणदास---छंदसार (सं० १८२९)
भिखारीदास---छंदोर्णव (सं० १७९९)
दशरथ---वृत्तविचार (सं० १८५६)
रामसहाय---वृत्ततरंगिनी (सं० १८७३)
नन्दकिशोर---पिंगलप्रकाश (सं० १८५८ या १९८८)
गदाधरभट्ट ---छंदोमंजरी (सं० १९४०)

छंद विषयक इन सम्पूर्ण ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य रीति-ग्रंथों में भी इस विषय का यत्किंचित्-समावेश मिलता है जैसे सोमनाथ के रसपीयूषनिधि (सं० १७९४)

की तीसरी-चौथी-पाँचवीं तरंगों में। इसी प्रकार देव के शब्दरसायन के दसवें और ग्यारहवें प्रकाश में भी छंदों का संक्षिप्त निरूपण हुआ है। फ़जलअली का 'फ़जल-अलीप्रकाश' भी इसी कोटि में आता है।

उक्त अनेक ग्रंथों में प्रायः पिंगलाचार्य की वंदना मिलती है और उन्हें शेष का अवतार माना गया है। 'फनपति भाख' (वृत्ततरंगिनी) तथा 'फनपति करत विनान' (वृत्त विचार) आदि लिख कर बरावर उनकी साक्षी दी जाती है जो वास्तविक न होकर परम्परा परिपालन मात्र है। सुखदेव ने अपने वृत्तविचार में पिंगल, भामह और अगस्त के छंद-ग्रंथों का आभार स्वीकार करते हुए छंद के वेदांग होने का उल्लेख किया है—

पिंगल भाम अगस्त कृत छंदोग्रंथ अगाध।
सारु लियौ तेहिको कछू छमियो कवि अपराध ॥४॥
वेद अंग है छंद, ताते पढ़ियत प्रात नित।
भाषत कवि कुल चंद, भाम अंगस्त फनिंद मुनि ॥५॥

पिंगलाचार्य का 'छंदःसूत्र' तो प्राप्य है परन्तु भामह और अगस्त के किसी छंदग्रंथ का उल्लेख तक कदाचित् कहीं अन्यत्र नहीं मिलता है। कवि के कथन से यहाँ उनकी सत्ता का आभास अवश्य मिलता है पर उसके ग्रंथ के अन्तर्गत उक्त तीनों ग्रंथों में से किसका कितना सार किस रूप में ग्रहण किया गया है यह पृथक्-कर के बताना संभव नहीं दीखता। दास ने भी अपने छंदोर्णव में संस्कृत, प्राकृत और भाषा के अनेक छंद-ग्रंथों की स्थिति स्वीकार की है—

प्राकृत भाषा संस्कृत लखि बहु छंदोग्रंथ।
दास कियो छंदोरणव भाषा रचि शुभ ग्रंथ ॥७॥

इस प्रकार छंद-शास्त्र के प्रणयन की सुदीर्घ परम्परा रीतिकाल तक अखंड रूप से चली आती है। हिन्दी शास्त्रकारों ने छंदों का लक्षण देने और उसे स्पष्ट करने में गद्य का भी प्रयोग किया है जैसे सुखदेव और गदाधरभट्ट आदि ने। छंदों के नये वर्गीकरण का प्रयास भी दशरथ और रामसहाय के पिंगलग्रंथों में मिलता है। 'तुक' जैसे कुछ नवीन विषय भी समाविष्ट कर लिए गये। दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में काव्य के सभी प्रमुख अंगों का निरूपण करते हुए 'तुक' पर विशेष विचार किया है जो बहुत अंशों में मौलिक कहा जा सकता है। तुकान्त का इतना उपयुक्त विश्लेषण कहीं अन्यत्र हुआ है ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता।

रीतिकालीन कविता में प्रयुक्त छंद इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि साहित्यिक दृष्टि से, हिन्दी साहित्य के इतिहास में, रीतिकाल अपनी स्वतन्त्र प्रकृति रखता

है। रीतिकवियों द्वारा प्रयुक्त छंदविधान उस काल की काव्यप्रवृत्ति के सर्वथा अनुकूल था, यह तथ्य छंदों की प्रकृति का तुलनात्मक परिचय रखने वाले किसी भी काव्य-मर्मज्ञ की दृष्टि में सरलता से आ सकता है। रीतिकाव्य अधिकतर शास्त्रीयता और कलात्मकता से बोझिल काव्य है अतएव गीतितत्व की तरलता का वहन करने वाले पदों में प्रयुक्त गेय मात्रिक छंदों से उसकी आन्तरिक संगति न बैठना ही स्वाभाविक था। इसी प्रकार मुक्तक-प्रकृति होने के कारण रीतिकाव्य के लिए दोहा-चौपाई वाली प्रबन्धात्मक छंद-योजना भी उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि शास्त्रीयता और कलात्मकता के साथ संयुक्त मुक्तक प्रकृति को सम्मिलित रूप से धारण करने वाले कुछ ऐसे छंदों का उद्भव और विकास हुआ जो एक ओर संस्कृत वृत्तों की तरह वर्ण-प्रधान है पर दूसरी ओर 'भाषा' के स्वभाव के अनुरूप उनमें गणात्मकता अथवा लघु-गुरु के सुनिश्चित क्रम-निर्वाह का उतना जटिल आग्रह नहीं मिलता जितना संस्कृत के वृत्तों में पाया जाता है। 'कवित्त' और 'सवैया' इसी प्रकार के छंद हैं। दोहा जैसे कुछ मात्रिक छंद भी अपनी मूल गेयात्मक प्रकृति को छोड़ कर मुक्तकोचित स्थिर रूप उपलब्ध करके रीतिकाव्य में व्यापकता के साथ प्रयुक्त हुए। अतः यह स्पष्ट है कि रीतिकाव्य में वही छंद व्यापक प्रयोग में आये जो उसकी अपनी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल थे। छप्पय जैसे कुछ वीरकाव्योपयुक्त छंद भी व्यवहृत हुए पर प्रकृति-भेद के कारण ही वे व्यापक नहीं हो सके।

रीतिकारों ने मुख्यतया उपर्युक्त तीन छंदों—कवित्त सवैया और दोहा, का ही प्रयोग किया है। गौण रूप से रोला, सोरठा, बरवै और छप्पय आदि भी प्रयुक्त हुए हैं। सोरठा दोहे का ही, सौराष्ट्र में प्रचलित एक रूप विशेष है। इसे राजस्थानी में 'सोरठियो दूहो' भी कहा जाता है। रोला और बरवै गेय मात्रिक छंद हैं, जो रीतिकाल तक सुनिश्चित रूप प्राप्त कर चुके थे। रोला मुक्तकों में प्रयुक्त न होकर प्रबंधात्मक काव्यों में ही विशेष प्रयुक्त हुआ है जैसे नंददास की 'रासपंचाध्यायी' आदि अनेक रचनाओं में। रीतिकाल के कुछ ही कवियों ने अपवाद रूप में इसका प्रयोग किया। बरवै छंद अवश्य उक्त तीन मुख्य छंदों के अतिरिक्त अपनी विशेष महत्ता रखता है क्योंकि रहीम ने अपना पूरा नायिकाभेद इसी छंद में निर्मित किया। तुलसी की 'बरवै रामायण' तथा कृपाराम की 'हिततरंगिनी' आदि में इसके प्रयुक्त होने से मध्यकाल में इसका यथेष्ट प्रचार लक्षित होता है। बरवै अवधी भाषा के क्षेत्र से उत्पन्न छंद है और रीतिकाल मुख्यतया ब्रजभाषा में लिखा गया अतएव महत्त्वपूर्ण होते भी बरवै रीतिकाव्य का प्रमुख छंद नहीं कहा जा सकता।

१. दोहा

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर कवित्त-सवैया की अपेक्षा दोहा अधिक प्राचीन छंद है। इसकी व्युत्पत्ति 'द्विपथा', 'दोग्धक', 'द्विपथक' तथा 'द्विपदिक' आदि शब्दों से संभव मानी जाती है। इसका सब से प्राचीन उदाहरण कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अंक से प्राप्त होता है जिसके प्राकृत-भाग में समाविष्ट निम्नलिखित पद्य छंद की दृष्टि से दोहा ही है।

मइं जाणिय मिअलोअणि णिसअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णव-तलि सामल धाराधरु बरिसेइ ॥७॥

विद्वानों की धारणा है कि यह प्राकृत-भाग कालिदास कृत भी हो सकता है और प्रक्षिप्त भी। प्रक्षिप्त होने पर भी सातवीं आठवीं शती के बाद की यह रचना नहीं है। दसवीं और ग्यारहवीं शती में तो दोहा छंद अपभ्रंश साहित्य में, पुराण-कालीन अनुष्टुप की तरह प्रधान हो गया था। महेश्वर की 'संयममंजरी' में ३५ और जोइंदु के 'परमात्म प्रकाश' में ३३० दोहे प्राप्त होते हैं। जैन और बौद्ध दोनों मतों के अपभ्रंश साहित्य में इसका प्रचलन रहा। बारहवीं शती में हेमचन्द्र ने अपने 'छंदोनुशासनम्' में लक्षण सहित 'उपदोहक' और 'दोहक' के उदाहरण दिये हैं। चौदहवीं शती के 'प्राकृतपैंगलम्' में 'भ्रमर' से लेकर 'सर्प' तक दोहे के २३ भेदों का नामकरण मिलता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि न केवल उस समय तक दोहे का रूप सुस्थिर हो गया था वरन् लघु गुरु अक्षरों की संख्या के विचार से उसके बहुसंख्यक भेद भी किये जा चुके थे। मुक्तक काव्य के लिए दोहे का संक्षिप्त स्वरूप उक्ति वैचित्र्य, चित्रात्मकता, शब्द संगठन तथा व्यंजकता की दृष्टि से विशेष उपयुक्त सिद्ध हुआ। फलतः प्राकृत में जो स्थान 'गाथा' को प्राप्त था वही स्थान हिन्दी में 'दोहा' छंद को मिला और 'गाथा सप्तशती' के आदर्श पर रीति-काव्य में जो सतसई की परम्परा प्रचलित हुई उसके लिए दोहा छंद ही चुना गया। रीतिकाल के श्रेष्ठ काव्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग दोहे में ही रचा गया है।

२. सवैया

हिन्दी काव्य में सवैया नाम से जिस वर्णिक छंद का बोध होता है वह ऐतिहासिक क्रम में दोहे के बाद विकसित हुआ छंद है। 'प्राकृतपैंगलम्' को छोड़कर किसी अन्य प्राचीनतर पिंगल ग्रन्थ में इसका नामोल्लेख तक नहीं मिलता, भेदों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्राकृतपैंगलम् में भी 'सवैया' जैसे किसी छंद का लक्षण नहीं दिया है केवल 'दुर्मिल' तथा 'किरीट' नामक दो छंदों का वर्णन वृत्तों के प्रसंग में किया गया है। ब्रजभाषा के पिंगल ग्रन्थों में कदाचित् सर्वप्राचीन ग्रन्थ हरिराम कृत

'छंदरत्नावली' है जिसकी रचना ग्रंथकार के अनुसार सं० १६१० में हुई।[1] इसमें वृत्तों का विचार करते हुए 'दुर्मिल' और 'किरीट' के अतिरिक्त 'इन्दव' 'झूलना' और 'अमलात' नामक तीन और वृत्त दिये हैं। जो स्वरूप-विस्तार और गणात्मक प्रकृति से सवैया के भेद दिखायी देते हैं। सवैया नाम का प्रयोग इनके लिए इस ग्रंथ में भी नहीं हुआ है पर यह संज्ञा इस जाति के छंदों के लिए विक्रम की १७वीं शती में व्यवहृत होने लगी थी इसमें सन्देह नहीं। यह शब्द 'सपादकः' से व्युत्पन्न प्रतीत होता है। आज भी इसे पुराने ढंग से पढ़ने वाले अन्तिम पंक्ति को दुबारा पढ़कर 'सवैया' नाम की सार्थकता सिद्ध करते देखे जाते हैं।

'सवैया' रीति-काव्य का मधुरतम छंद है। वृत्तात्मक गरिमा के अतिरिक्त इसके संगीत में कुछ ऐसी सुकुमारता निहित मिलती है जो संस्कृत के अन्य वृत्तों में लक्षित नहीं होती और जिसका मेल 'भाषा' की स्वर-साधना से अधिक लगता है। गुरु को लघुवत् ग्रहण करने की स्वतंत्रता के कारण इसमें भाषा विशेष स्वाभाविकता के साथ प्रवहमान होती है। जैसे उर्दू बहरों में बोलचाल की भंगिमाओं की स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्ति होती है ठीक वैसे ही सवैया भी भाषा के स्वरूप को अपने स्वाभाविक चारुत्व में व्यक्त करने में सहायक होता है। देव, मतिराम, रसखान, घनानंद, ठाकुर, बोधा इत्यादि कवियों के सवैये इस बात की साक्षी प्रस्तुत करते हैं। वर्णनात्मकता तथा गीतितत्व दोनों का किसी मुक्तक छंद में यदि श्रेष्ठतम समावेश हुआ है तो वह इसी छंद में मिलता है।

कलात्मक परिष्कार के साथ सवैया में बँधी हुई भावमय उक्ति कुसमधनु पर सधे हुए वाण की तरह वेधक सिद्ध होती है। श्रृंगार रस के सुकोमल भावों का संवहन करने में यह छंद ब्रजभाषा काव्य में अपनी अद्वितीय महत्ता रखता है। अर्थ की दृष्टि से लयात्मक विन्यास की जितनी सूक्ष्म संगतियाँ इसमें संभव हैं उतनी अन्य वर्णिक वृत्तों में नहीं।

३. कवित्त

'घनाक्षरी' के अर्थ में 'कवित्त' शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन नहीं है। वीर-

---

१—विद्या विभाग, काँकरोली के श्री देवीलाल शर्मा से प्राप्त इसकी हस्तलिखित प्रति में रचनाकाल एवं अन्य परिचय इस प्रकार निर्दिष्ट है—

ग्रंथ छंदरत्नावली सारथ या कौ नाम।
भूषन भरती तें भयौ कहै दास हरिराम॥१०७॥
संवत्सर नव मुनि शशि, नभ नवमी गुरु मान।
नगर डिंड दृढ़ कूप तहिं, ग्रंथ जन्म थल जान॥१०८॥

काव्य में 'कवित्त' शब्द छप्पय छंद के लिए व्यवहृत होता था। पूर्वोक्त 'छंद-रत्नावली' में भी गणविचार के प्रसंग में 'कवित्त' लिखकर उसके आगे छप्पय का उदाहरण दिया गया है। अतएव सोलहवीं शती विक्रमी के अन्त तक काव्य और छंदशास्त्र दोनों में यह शब्द घनाक्षरी के अर्थ में रूढ़ नहीं हुआ था। 'निज **कवित्त** केहि लाग न नीका' और 'पंडित और प्रवीनन को जोई चित्त हरै सो कवित्त कहावै' में इसका अभिप्राय छंद से न होकर सामान्य कविता से है पर 'वित्त की सी थाती मैं कवित्तन की राज कौं' में निश्चित रूप से यह घनाक्षरी का बोधक है।

इस छंद के इतिहास पर यथेष्ट प्रकाश अभी तक नहीं पड़ा है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के सारे साहित्य में कहीं भी इस छंद का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु ब्रजभाषा के रीति-काव्य में यह सर्वाधिक प्रयुक्त छंद है। इसे हिन्दी का अपना छंद कहा जा सकता है और इसका विकास हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में ही हुआ। इस दृष्टि से इसकी अपनी विशेष महत्ता मानी जा सकती है। स्व० डॉ० जानकीनाथ सिंह 'मनोज' ने अपने अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ में 'कवित्त' के इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला है।[1] उन्होंने इसका विकास तेरहवीं शती के प्रारम्भ में संभावित माना है परन्तु अपने अनुमान के लिए कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किये। अकबर के शासनकाल में उसके दरबारी कवियों द्वारा तथा तुलसीदास की 'कवितावली' में इसका प्रचुर प्रयोग देखकर यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि सोलहवीं शती तक इसका स्वरूप काव्य में प्रयोग द्वारा सर्वथा निश्चित हो चुका था। इसका प्रमाण सं० १६१० की, हरिरामदास कृत 'छंदरत्नावली' से मिलता है जिसमें 'मनहर' और 'घनाक्षरी' दोनों के लक्षण इस प्रकार दिये हुए हैं—

मनहर— जाके पद माँहि हौंहि अक्षर सो इकतीस
दीर्घ लघु नेम नांहि अंत्य गुरु आनिये।
सोला अरु पंद्रा परि विरत विचार जहाँ
छंद वृन्द माँहि मनहर सो बखानिये॥९९॥

घनाक्षरी— जाके पद माँहि हौंहि वरण बतीस सब,
ओर भेद नाँहि कोइ अंत्य लघु नित्य धरि।
घनाक्षरी छंद सोय सबै कवि लोग कहैं,
सोला अरु सोला परि विरत विचार करि॥१०२॥

१—The Contributions of Hindi Poets to Prosody p. 201

हरिराम ने इन्हें संस्कृत वृत्तों की कोटि में ही गिना है इसका उल्लेख सवैया के प्रसंग में किया जा चुका है। कहते हैं किसी मार्दंगिकसेन नामक कवि ने १४वीं शताब्दी में घनाक्षरी का आविष्कार किया पर यह किस आधार पर माना जाय यह स्पष्ट नहीं है।

कवित्त छंद गणात्मक न होकर केवल वर्णात्मक है। लघु गुरु का कोई सुनिश्चित क्रम न होने से इसका विधान एक विशेष प्रकार के प्रवाह के अनुकूल सिद्ध होता है जिसमें मात्रिक छंदों की आरोह अवरोहमय गेयता के स्थान पर निर्झर की सी शृंखलित वर्ण-ध्वनि का अनुरणन प्रधान दिखायी देता है। वैदिककाल में गण और मात्रा के बंधन से हीन केवल वर्ण-गणना पर आधारित गायत्री आदि अनेक छंद प्रचलित थे पर समय की दृष्टि से बीच में इतना व्यवधान आ गया कि वैदिक-परम्परा से घनाक्षरी को सम्बद्ध करना उचित प्रतीत नहीं होता। इसका मूल तत्कालीन पद साहित्य में खोजा जा सकता है। सूर, तुलसी, विद्यापति, छीतस्वामी आदि भक्त कवियों के अनेक पद मिलते हैं जिनका विन्यास चरण-संख्या को छोड़कर ठीक घनाक्षरी जैसा है। ध्रुपद राग में यह छंद ठीक से बाँधा जा सकता है ऐसा भी कहा जाता है। मराठी साहित्य में प्राप्त 'ओंवी' छंद का लक्षण मनहर से पूरी तरह मिलता है।[1] कवित्त छंद के मूल स्रोत की यह संभावनाएँ परस्पर पूरक प्रतीत होती हैं क्योंकि गुजराती, मराठी, बँगला और हिन्दी के पद साहित्य का उद्‌भव प्रायः समानान्तर ही हुआ और सब ने लोकभाषा के गेय छंदों का आश्रय लिया। लगता है कि कोई गेय छंद ऐसा भी इन पदों में गृहीत हुआ जो वर्णात्मक था और उसी से कवित्त छंद का विकास हुआ। वास्तव में इस विषय में गहरी शोध की आवश्यकता है तभी घनाक्षरी की उत्पत्ति पर समुचित प्रकाश पड़ सकेगा।

रीतिकाल में कवित्त का इतना व्यापक प्रयोग हुआ कि एक प्रकार से इस छंद की जितनी परिष्कृति संभव थी वह हो गयी। साधारण कवियों के हाथ में पड़ कर इसकी दुर्गति भी कम नहीं हुई क्योंकि कवित्त गढ़ना नियमों की अति सरलता के कारण वाह्यतः जितना सुकर लगता है उतना वास्तव में है नहीं। सत्य तो यह है कि पद-विन्यास और वर्ण-लय का सम्यक एवं सूक्ष्म बोध हुए बिना श्रेष्ठ घनाक्षरी लिखना भी आसान नहीं है। केशवदास, गंग आदि के कवित्तों में लड़-खड़ाते हुए पद-विन्यास के अनेक उदाहरण सहज ही उपलब्ध किये जा सकते हैं

१—दृष्टव्य—लेखक का ब्रजभाषा-रीतिकाव्य की परम्परा शीर्षक लेख—हिन्दी अनुशीलन, वर्ष २, अंक ४

पर देव, मतिराम और पद्माकर तक आते आते इसमें एक विशेष प्रकार की गरिमा के दर्शन होने लगते हैं जो ग्वाल जैसे परवर्ती कवियों द्वारा पुनः विनष्ट हो जाती है। कलात्मकता की दृष्टि से 'सवैया' की तरह 'कवित्त' भी अन्तिम पद प्रधान छंद है और इसका शिल्प भी तदनुरूप विकसित हुआ। उक्ति-प्रधान रीतिकाव्य के लिए उसकी उपादेयता विशेष प्रमाणित हुई। फलतः दोनों का ग्रंथिबंधन दृढ़तर होता गया। कवित्त-सवैया से रीतिकाव्य के अभिन्न सम्बन्ध का यह एक मार्मिक रहस्य है।

रीतिग्रंथों के निर्माता कवि

कृपाराम

(सं० १५९८ : संदिग्ध)

रीतिकाव्य की परम्परा में कृपाराम का महत्त्व ऐतिहासिक कारणों से ही विशेष है। उनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'हिततरंगिनी' अब तक प्राप्त सभी रीतिग्रन्थों में प्राचीनतम है। ग्रंथ के अन्त में कवि ने निम्नलिखित दोहे में रचना-काल (सं० १५९८.) स्वयं दे दिया है।

सिधिनिधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतियासु।
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥२०६॥

इससे काव्य-काल सोलहवीं शती विक्रमी का चतुर्थ चरण निश्चित होता है और कवि सूरदास, नंददास तथा हितहरिवंश आदि का समकालीन सिद्ध होता है। इधर कुछ लोगों ने इस ग्रंथ की प्राचीनता पर सन्देह भी प्रकट किया है। चन्द्रबली पांडेय उक्त दोहे में 'शिवमुख' का पाठभेद करके इसे १७९८ की रचना सिद्ध करते हैं। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी भी इस दोहे में कुछ अशुद्धि की कल्पना करते हुए इसके समय को कुछ आगे खींचने के पक्ष में हैं परन्तु यह सब अनुमान मात्र हैं। कृपाराम का सम्बन्ध कदाचित् राधावल्लभीय सम्प्रदाय से रहा हो ऐसा दो कारणों से प्रतीत होता है। एक तो कवि ने प्रेम के लिए प्रायः आग्रहपूर्वक 'हित' शब्द का प्रयोग किया है और जैसा ग्रन्थ के नाम से भी प्रकट है दूसरे उसने कृष्ण के 'युगल रूप' का अधिक भावुकता से वर्णन किया है, यथा—'नूतन रुचिकर

जुगलछबि प्रथम वरनिये काहि।' ऐतिहासिक दृष्टि से भी हितहरिवंश के कृपाराम पर सम्प्रदाय का प्रभाव अथवा दोनों का सम्बन्ध सम्भव है।

कृपाराम ने अपने विषय में, रचना का उद्देश्य तथा प्रेरणा-स्रोत का निर्देश करते हुए जो कुछ लिखा है वह उल्लेखनीय है--

बरनत कवि सिंगार रस, छंद बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यों दोहान बिच याते सुघर विचारि ॥४॥
ग्रंथ अनेक पढ़े प्रथम पुनि विचारि के चित्त।
मैं बरन्यो सिंगार रस सजन तिहारे हित्त ॥६॥

.. ..

कृपाराम यों कहत है भरत ग्रंथ अनुमानि ॥३५॥

कवि के उक्त कथन से प्रकट है रीति-ग्रन्थों की रचना विस्तृत छंदों में अनेक कवियों द्वारा हो रही थी और उसने अपना लक्षणग्रन्थ मुख्य रूप से दोहों (क्योंकि हितरंगिनीमें बरवै आदि अन्य छंदों का भी प्रयोग मिलता है।) में, भरत आदि अन्य अनेक आचार्यों के ग्रन्थों को प्रमाण मान कर, निर्मित किया। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह सिद्ध होती है कि रीतिकाव्य का विकास हिन्दी में भक्तिकाव्य के लगभग समानान्तर ही हो रहा था।

परसि पाइ बोली विहँसि, वेगि चलो रस दानि।
तो हित कीन्हों कुंज में, रसिक बसेरो आनि ॥१॥

तैं मोसों वा दिन कह्यो, एरी वाहि मिलाउ।
ठाढ़ी औघट घट भरें, जो भावै तो आउ ॥२॥

विरह सतावै रैन दिन, तऊ रटै तुव नाम।
चातिक ज्यों स्वाँती चहै, पाती चहै सुबाम ॥३॥

भादों की अधराति, गरजि गरजि बरषै जलद।
लिएँ सुप्यारी जाति, डरति न बन घन कुपथ पथ ॥४॥

लखि यों हुलसति मनहिं मन, लखत लखें भजि जाहि।
असन वसन भूषन विमल, लहैं बधू सरसाहि ॥५॥

आवत जोबन कछुक तन, होत डहडहे अंग।
शिशुता की हलचल कहौ, ललिता ललित सुरंग ॥६॥

कछु जोबन आभास तें, बढ़ी बधू दुति अंग।
ईंगुर छीर परात में, परे होत जो रंग ॥७॥

खिझवति हँसति लजाति पुनि, चितवति चमकति हाल।
सिसुता जोबन की ललक, भरे बधू तन ख्याल ॥८॥

नवलबधू तन तरुनई, नई रही है छाइ।
दे चशमा चख चतुरई, लघु सिसुता लखिजाइ ॥९॥

पति समीप दोऊ प्रिया, लखति द्वैज को चंद।
चाँपि चरन सो चरन इक, लालन लग्यो अनंद ॥१०॥

मोल तोल छवि एक के, गुहि मोतिन के हार।
लेहु वधुनि सों हँसि कह्यो, धरि समीप सुकुमार ॥११॥

अति प्रवीन वह सुन्दरी, मोहन को हित आँकि।
सबकी दीठि बचाइके, गई झरोखनि झाँकि ॥१२॥

खेलति हुती सखीन में, दुर्यो दूर लखि लाल।
काढ़ि निसाचर की कथा, कंप छिपायो बाल ॥१३॥

फीके लागत उर अबै, गुरु गुरुजन के बोल।
नीके नंदकिसोर के, करै सखी चित लोल ॥१४॥

प्यारी प्यारे सो प्रथम मिलत परम परवीन।
मंद मंद बोलै बिहँसि जनु डरपति रस-लीन ॥१५॥

हित हित को पर-सखिन मुख, प्रगटत सुन्यो सुवाम।
गही चित्रगति सुन्दरी, रही बैठि निज धाम ॥१६॥

कौन सुनै कासों कहौं, जब तब रोकत गैल।
को मोहन सखि नाहि री, मो ननदोई छैल ॥१७॥

गहति फेंट तकि और तिय, कहैं सुलोचनि बैन।
वही देहु मो फेरि जौ, देत सुदामु बनै न ॥१८॥

घुनै बाँस की बाँसुरी, डारि चले नँदलाल।
लेहु कनक की नगजटित, मो घर धरी रसाल ॥१९॥

अबै चल्यो पति गाँव को, नहीं और घर कोइ।
हितहिं सुनायो हितहिं वर, भरि लोचन में तोइ ॥२०॥

पति विदेस सूनो सदन, बिरह सतावै रैन।
स्याम सुनै यों सखिनि सों, कहै सुलोचनि बैन ॥२१॥

गयो निकसि मुखतें कहूँ भोरे परतिय नाम।
बिच घूँघट प्यारी बधू, कीन्हें लोचन ताम ॥२२॥

आज सवारे हों गई, नन्दलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदनी के भटू, निरखे औरै हाल ॥२३॥

खंजन मीन कुरंग गन, मैं जीते सुनि बाल।
मृगलोचनि मोसों कहै, बिन समझे क्यों लाल ॥२४॥

घोर घटा घहरात हीं, उठे मोर करि गान।
बिनहिं मनाये तरुनिकों, गयो तरकि लखि मान ॥२५॥

भूले पंथ सुकुंज के धौं अरसाने लाल।
नूतन और मिली कहूँ, यों सोचै उर बाल ॥२६॥

चली स्याम हित राधिका सरद उजेरी माँहि।
चंद उजेरी सों मिलत नेकु न जानी जाँहि ॥२७॥

रैन अँधेरी नील पट, मृगमद चरचित अंग।
सघन घटा सी लखि परैं, रँगी स्याम के रंग ॥२८॥

तजि गोकुल अकरूर संग, मथुरा चलत गुपाल।
विरह अनल उपज्यो हिएँ, सुनत राधिके हाल ॥२९॥

चहैं संग अकरूर के गौन कियो ब्रजराज।
सुनि धुनि सूकी सुन्दरी भूलि गयो गृह काज ॥३०॥

छिन रोवै छिन में हँसै, छिन में वहु बतराइ।
गहैं मौन छिन में बधू, छिन दृगजल उफनाइ ॥३१॥

नचत बिलौके रास में, सगुन सलोने स्याम।
ऊधो ते क्योंहु न लखे, निरगुन निपट निकाम ॥३२॥

माल व्याल जाकें भई, चंदन भयो दवागि।
निसदिन भामिनि भौन में फिरति विरह तन दागि ॥३३॥

सहि न सकति तन दुसह दुख, कहि न सकति पिक बैनि।
तरफराति सफरीन लों, बिन जल हित मृगनैनि ॥३४॥

जा सुमिरे पातक नसै, लसै सकल शुभ काम।
सोई प्रभु मो मन बसौ नन्दनन्द घनस्याम ॥३५॥

केशवदास

(सं० १६१२—१६७४ के लगभग)

केशवदास ने व्रजभाषा में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्यांगों का सर्वप्रथम पूरा परिचय प्रस्तुत किया अतएव उनको हिन्दी रीतिकाव्य का प्रथम आचार्य स्वीकार किया जाता है। मिश्रबन्धुओं ने भी इसीलिए अपने 'नवरत्न' में केशव को 'कवि सिरताज' और 'पहिलो आचारज' की उपाधियों से विभूषित किया है। कवि के रूप में उनकी ख्याति उनके जीवनकाल में ही हो चुकी थी। बीरबल सेउनका परिचय घनिष्ठ था। कविता के द्वारा उन्हें पर्याप्त सम्मान और समृद्धि भी उपलब्ध हुई। वे ओरछा-नरेश रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह के सभासद थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है—

भूतल को इन्द्र, इन्द्रजीत जीवै जुग जुग,
जाके राज केसौदास राज सो करत है।

केशवदास ओरछा राज के मंत्रगुरु भी थे। अपने कुल और संस्कृत-ज्ञान का उन्हें इतना अभिमान था कि 'भाषा-कवि' होने में वे हीनता का अनुभव करते थे।

भाषा बोलि न जानई जेहि के कुल के दास।
भाषा कवि मति मंद भो तेहि कुल केशवदास॥

राधाकृष्णदास ने केशवदास को सुप्रसिद्ध कवि बिहारी का पिता घोषित किया किन्तु प्रमाणों की अपेक्षा में वह सिद्ध न हो सका।

जहाँ तक काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष का सम्बन्ध है केशवदास अलंकारवादी थे। उन्होंने भामह, दंडी तथा उद्भट आदि अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिपादकों की परम्परा का ही अनुमरण किया है और आधार ग्रन्थों के रूप में 'काव्यादर्श', 'अलंकारशेखर' तथा 'काव्यकल्पलतावृत्ति' इत्यादि को ग्रहण किया है। चमत्कार प्रदर्शन की भावना उनमें सर्वोपरि है। भूषण या अलंकारहीन कविता को वे असुन्दर समझते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में श्लेष, यमक आदि का आश्रय लेकर उक्तिवैचित्र्य एवं शब्दचमत्कार की प्रधानता मिलती है यहाँ तक कि दुरूहता और नीरसता भी उत्पन्न हो जाती है। 'सुबरन' की खोज में तथा कवि रूढ़ियों के निर्वाह में तल्लीन उनकी काव्य-चेतना कविसुलभ रागात्मक तारल्य एवं सहज सौन्दर्यबोध से प्रायः वंचित ही रह गयी है। सैद्धान्तिक विषय प्रतिपादन भी विशृंखल तथा अमौलिक है। मौलिकता केवल वर्गीकरण में ही दिखाई देती है जो विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः केशवदास का उद्देश्य न तो अव्याहत रस-संचार था और न गम्भीर सिद्धान्त-विवेचन ही। उनका लक्ष्य तो ब्रजभाषा में अपने संस्कृत ज्ञान का उद्घाटन, प्राचीन काव्य परिपाटी का अनुसरण तथा राज-परितोष ही प्रतीत होता है।

आभ्यंतरिक प्रेरणा की गहनता का अभाव उनकी मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की कृतियों में मिलता है। **रसिकप्रिया** (सं० १६४८), **कविप्रिया** (सं० १६५८), तथा **रामचन्द्रिका** (सं० १६५८) उनकी सर्वप्रमुख रचनाएँ हैं जो उनकी ख्याति का प्रधान आधार है। इनके अतिरिक्त मुक्तक रचनाओं में **रतनबावनी, विज्ञानगीता** तथा **जहांगीरजसचन्द्रिका** और प्रबंधात्मक रचनाओं में **वीरसिंहचरित** भी उपलब्ध होता है। लाला भगवानदीन ने केशव की एक **नख-शिख** नाम की रचना का भी उल्लेख किया है। ग्रन्थों की विषयवस्तु और वर्णन शैली देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने रीति परम्परा के साथ वीरकाव्य की परि-पाटी को भी अपनाया है और भक्ति की धारा से भी तटस्थ नहीं रहे। **विज्ञान-गीता** संस्कृत ग्रन्थ 'प्रबोधचन्द्रोदय' की तरह उपदेशात्मक पौराणिक ढंग की रचना है जिसमें काव्य-तत्त्व दार्शनिकता के वाग्जाल में तिरोहित हो गया है। केशवदास ने यद्यपि स्वयं ही राम को अपना इष्टदेव बताया है फिर भी भक्ति का आवेगपूर्ण आत्मसमर्पण के दर्शन उनकी रामचन्द्रिका में नहीं होते। उसकी विशेषता छंद वैविध्य, संवादों, रूढ़िगत वर्णनों तथा चमत्कारिक उक्तियों की दुरूहता में निहित है।

ब्रजभाषा काव्य को केशव की सब से बड़ी देन यह है कि उन्होंने काव्य के

शास्त्रीय पक्ष को सम्पूर्णता से ग्रहण करके व्यापक रूप से लक्षण-उदाहरण की परम्परा, जिसका आभास संभवतः कृपाराम आदि में उनसे पूर्व ही मिलने लगता है, का साहसपूर्वक स्थापन और निर्वाह किया तथा तत्कालीन भाषा- काव्य में रीति की प्रवृत्ति के लिए एक विशेष आदरपूर्ण स्थान अर्जित किया। राजस्थानी चित्रकारों ने जिन साहित्यिक ग्रन्थों को चित्रित किया है उनमें कविप्रिया और रसिकप्रिया विशेष है इन रचनाओं की अनेकानेक हस्तप्रतियाँ सुदूर स्थानों से उपलब्ध हुई हैं जिससे केशव की लोकप्रसिद्धि और इन रचनाओं का व्यापक प्रचार निश्चित रूप से प्रमाणित होता है। रीतिकाव्य के मान्य विद्वानों द्वारा यह बात बार बार दोहरायी गई है कि जिन संस्कृत ग्रन्थों का आधार केशव ने लिया या जो काव्य सिद्धान्त उन्होंने अपनाया उसका अनुकरण परवर्ती रीतिकवियों द्वारा नहीं हुआ अतएव केशव के स्थान पर चिंतामणि को रीति परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय मिलना चाहिए। परन्तु चिंतामणि का व्यक्तित्व केशव की अपेक्षा बहुत कम प्रभावशाली था यह दूसरी बात है कि अन्य कवियों ने भी उन्हीं ग्रन्थों को आधार बनाया जिनको चिन्तामणि ने स्वीकार किया था। रीतिकाव्य के प्रति एक विशिष्ट मानसिक वातावरण के निर्माण में केशव का स्थान चिन्तामणि की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा है। केशवदास आचार्य और कवि दोनों ही रूपों में अपने तथा अपने बाद के युग के लिए एक प्रेरक शक्ति रहे हैं भले ही स्वतन्त्र रूप से उनका महत्त्व इतना अधिक न हो।

संकलन

श्रीबृषभानुकुमारि हेतु शृंगाररूप मय।
वास हास रस हरे, मातबंधन करुणामय।
केशीप्रति अतिरौद्र, वीर मारो वत्सासुर।
भय दावानलपान, पियो बीभत्स बकीउर।
अति अद्भुत बंचि बिरंचि मति, शांत संत ते शोच चित।
कहि केशव सेबहु रसिकजन नवरस में ब्रजराज नित ।।१।।

केशव एक समै हरि राधिका आसन एक लसे रँग भीने।
आनँद सों तिय आनन की द्युति देखत दर्पण में दृग दीने।
भाल के लाल में बाल विलोकत ही भरि लालन लोचन लीने।
शासन पीय सवासन सीय हुताशन में जनु आसन कीने ।।२।।

केशव सूधो विलोचन सूधी विलोकनि सों अविलोकै सदाई।
सूधियौ बात सुनै समुझै, कहि आवत सूधियौ बात सदाई।
सूधी सुहाँसी सुधाकरसी मुख शोध लई वसुधा की सुधाई।
सूधे स्वभाव सबै सजनी वश कैसे किये अति टेढ़े कन्हाई ।।३।।

कान रंगरँगे नैन तिनही के डोलौं संग
नासा अंग रसना के रस ही समाने हौ।
और गूढ़ कहा कहौ मूढ़ हौ जू जनि जाहु
प्रौढ़ रूढ़ केशोदास नीके करि जाने हौ।
तन आन मन आन कपट-निधान कान्ह
साँची कहो मेरी आन काहे को डराने हौ।
वे तौ हैं बिकानी हाथ मेरै हौं तिहारे हाथ
तुम ब्रजनाथ हाथ कौन के बिकाने हौ ।।४।।

चन्द कैसौ भाग भाल भृकुटी कमान ऐसी
मैन कैसे पैने शर नैनन विलासु हैं।
नासिका सरोज गंधवाह से सुगन्धवाह
दार्‌यों से दशन कैसो बीजुरी सो हासु है।

भांइ ऐसी ग्रीवा भुज पानसो उदर अरु
पंकज सों पांइ, गति हंस ऐसी जासु है।
देखी है गुपाल एक गोपिका में देवता सी
सोनो सो शरीर सब सोंधे कैसो वासु है ॥५॥

माल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुख दैनी।
ताहि विलोकत आरसी लै कर आरस सो इक सारसनैनी।
केशव कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति को अति पैनी।
सूरज मंडल में शशि मंडल मध्य धसी जनु ताहि त्रिबैणी ॥६॥

लोचन ऐंचि लिये इत को मन की गति यद्यपि नेह नही है।
आनन आइ गये श्रम सीकर रोम उठे उर कंप गही है।
तासों कहा कहिये कहि केशव लाज समुद्र में बूड़ि रही है।
चित्रहु में हरि मित्रहिं देखति यों सकुची जनु बाँह गही है ॥७॥

कालिह की ग्वारि तौ आजहुँ तौन सम्हारति केशव कैं सहुँ देहै।
सीरी ह्वै जात, उठै कबहूँ जरि जीव रहै कै रही रुचि रेहै।
कोरि बिचार बिचारति है उपचारन के बरसै सखि मेहै।
कान्ह बुरो जिन मानौ तिहारी बिलोकन में विष बीस बिसे है ॥८॥

सखि सोहत गोप सभा महँ गोविन्द बैठे हुते द्युति को धरि कै।
जनु केशव पूरण चन्द लसै चित चारु चकोरन को हरि कै।
तिन को उलटी करि आन दियो किहुँ नीरज नीर नये भरि कै।
कहि काहे तें नेकु निहारि मनोहरि फेरि दियो कलिका करि कै ॥९॥

लाड़िली लीली कलोरी लुरी कहुँ लाल लुके कहाँ आँग लगाइकै।
आजु तौ केशव कैसहुँ लेरुबै लागन देत न कैसेहू आइ कै।
बेगि चलौ चलि आइ बुलावन दौरि अकेलि यों हौं अकुलाइकै।
भूलेहु गोकुल गाँउ में गोविन्द कीजै गरूर न गाइ चराइकै ॥१०॥

फूल न दिखाउ शूल फूलत है हरि बिन,
दूरि करि माला बाला व्यालसी लगति है।
चँवर चलाउ जिन बीजन हलाउ मति,
केशव सुगन्ध वायु बाइ सी लगति है।

चंदन चढ़ाउ जिन तापसी चढ़ति तन,
कुंकुम न लाउ अंग आग सी लगति है।
बार बार बरजति बाबरी है वारौं प्रान,
बीरी ना खवाउ बीर विष सी लगति है॥११॥

प्रेम भय भूप रूप सचिव सकोच शोच
विरह विनोद पील पेलियत पचि कै।
तरल तुरंग अविलोकनि अनन्त गति
रथ मनोरथ रहे प्यादे गुन गचिकै॥
दुहूँ ओर परी जोर घोर घनी केशौदास
होइ जीत कौन की को हारे जिय लचिकै।
देखत तुम्हें गुपाल तिहि काल उहि बाल
उर सतरंज कैसी बाजी राखि रचि कै॥१२॥

केशव चौंकति सी चितवै क्षिति पाँ धर कै तरकै तकि छाँही।
बूझिये और कहे मुख और सु और की और भई क्षण माहीं।
डीठि लगी किधौं बाइ लगी मन भूलि परचो कै करयौ कछु काहीं।
घूँघट की घट की पट की हरि आजु कछू सुधि राधिकै नाहीं॥१३॥

बैन तज्यौं उन बीन तें बौल्यों न बोलि विलोकति बुद्धि भगी है।
वै न सुनै समुझै न तु बातहि प्रेत लग्यौ किधौं प्रीति जगी है।
केशव वे तुहि तोहि रटैं रट तोहि इतै उन हीं की लगी है।
वे भषै पान न, पानी न तू, सु तौ कान्ह ठगे कि तू कान्ह ठगी है॥१४॥

बूझत ही वह गोपी गुपालहि आजु कहू हँसि कै गुण गाथहिं।
ऐसे में काहू को नाम सखी कहि केसौ धौं आइगयो ब्रजनाथहिं।
खाति खवावत ही जु बिरी सु रही मुख की मुख हाथ की हाथहिं।
आतुर ह्वै उन आँखिन ते अंसुआ निकसे अखरानि के साथहिं॥१५॥

हरित हरित हार हेरत हियो हरत,
हारो हों हरिननैनी हरि न कहूँ लहों।
वनमाली ब्रज पर बरषत वनमाली,
वनमाली दूर दुख केशव कैसे सहों।

हृदय कमल नैन देखि के कमल नैन,
होहूँगी कमल नैनि और हौं कहा कहों।
आप घने घनश्याम घन ही से होत घन--
श्याम के दिवस घनश्याम बिन क्यों रहों ॥१६॥

आयेते आवैगी आँखिन आगे ही डोलिहै मानहु मोल लई है।
सोवै न सोवन देय न यों तब सो इनमें उन साथ दई है।
मेरिये भूलि कहा कहों केशव सौति कहूँ ते सहेली भई है।
स्वारथ ही हितु है सब के परदेश गये हरि नींद गई है ॥१७॥

भौंरिनि ज्यों भाँवत रहत बन वीथिकान,
हंसिनि ज्यों मृदुल मृणालिका वहति हैं।
पीउ पीउ रटत रहत चित चातकी ज्यों,
चन्द चितैं चकई ज्यों चुप ह्वै रहति हैं।
हिरनी ज्यो हेरति न केशरी के कानन को,
केका सुनि व्याली ज्यौं बिलान हीं कहति है।
केशव कुँवर कान्ह विरह तिहारे ऐसी,
सूरतिन राधिका की मूरति गहति हैं ॥१८॥

दीरघ दरीन बसै केशोदास केशरी ज्यों,
केशरी को देखे बन करी ज्यों कँपत है।
वासर की संपदा चकोर ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चंदही ते चौगुनो चँपत है।
केका सुनि व्याल ज्यों बिलात जात घनश्याम,
घननि की घोरनि जवासे त्यों तपत है।
भौंर ज्यों भँवत वन योगी ज्यों जगत निशि,
चातक ज्यों श्याम नाम तेरोई जपत है ॥१९॥

थोरी सी सुदेश वेष दीरघ नयन केश,
गौरी जू सी गोरी भोरी भवजू की सारी सी।
साँचे की सी ढारी अति सूक्षम सुधारि कढ़ी,
केशोदास अंग अंग भाँइके उतारी सी।

सोंधे कैसी सोंधी देह सुधा सों सुधारी,
पाँउ धारी देवलोक तें कि सिन्धु ते उधारी सी ।
आजु यासों बोलि चालि हँसि खेलि लेहु लाल,
कालि्ह ऐसी ग्वारि लाउँ काम की कुमारी सी ।।२०।।

जहीं जहीं दुरै तहीं जौन्ह ऐसी जगमगै,
कैसे हूं जु केशव दुराइ ल्याउँ रंग की ।
पवन को पंथ अलि अलिन के पीछे आली,
अलिनी ज्यों लागी रहैं जिन्हें साध संग की ।
निपट अमिल तऊ तुम्हें मिलिबै की जक,
कैसे कै मिलाऊँ गति मोपै न विहंग की ।
इक तो दुसह दुख देति हुती दुति दूजे,
बीस बिसे बिस बास भई वाके अंग की ।।२१।।

मैन ऐसो मन तन मृदुल मृणालिका के,
सूत ऐसो सुरधुनि मनहि हरति है ।
दारों कैसी बीज दंतपाँति से अरुण ओंठ,
केशोदास देखे दृग आनन्द भरति है ।
एरी मेरी तेरी मोहिं भावत भलाई ताते,
बूझत हौं तोहिं उर बूझत डरति है ।
माखन सी जीभ, मुख कंज सो कुँवरि कहूँ,
काठ सी कठेठी बात कैसे निकरति है ।।२२।।

आपुन हूजै दुखी दुख जाके हौ ताहि कहा कबहूँ दुख दीजै ।
जा बिन और सुहाइ न केशव ताहि सुहाइ सु तो सब कीजै ।
भाग बड़ो जु रची तुमसों वह तो बिझकाइ कहो कहँ लीजै ।
जो रिसियाइ तो जैये मनावन तातो है दूध सिराइ न पीजै ।।२३।।

वा मृगनैनी ज्यों और नहीं जु लगावत हौं मुँह ऐसे न हूजै ।
सोने सी जो कहूँ पीतर होहि तो केशव कैसहूँ हाथ न छूजै ।
आपु गिरा गुन जौ सिखवै तऊ काकन कोकिल ज्यों कल कूजै ।
सुन्दर श्याम विचार करौ कछु आम कि साध न आमिली पूजै ।।२४।।

ऐसेहि क्यों चुप ह्वै रहिहौं सखि हौं सहिहौं सतराहट सौलों।
क्यों सरिहै मिलिबे बिन तोहिं तऊ मिलिहै मिलिये दिन जौलों।
केशव कोरि करे उपचार मिले को कहा मिलिहै सुख तौलों।
देखिये अंगन आरसी लै मिलिहौ पिय सों मन ही मन कौलों॥२५॥

सिखै हारी सखी डरपाइ हारी कादंबिनी,
दामिनी दिखाई हारी दिशि अधिरात की।
झुकि झुकि हारी रति, मारि मारि हारयो मार,
हारी झकझोरति त्रिविध गति वात की।
दई निरदई दई वाहि ऐसी काहे मति,
जारत जु ऐन रैन दाह ऐसी गात की।
कैसेहूँ न माने हो मनाइ हारी केशोराय,
बोलि हारी कोकिला, बुलाइ हारी चातकी॥२६॥

केशोदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाष,
बारिदै री बावरी न बारि हिये होरी सी।
राधा हरि केरी प्रीति सबतें अधिक जानि,
रति रतिनाथ हू में देखी रति थोरी सी।
तिनहूँ में भेद न भवानि हूँ पै पारयो जाइ,
भारति की भारती हैं कहिबे को भोरी सी।
एकै गति एकै मति एकै प्राण एकै मन,
देखिबे को देह द्वै, है नैनन की जोरी सी॥२७॥

मेघ ज्यों गँभीर वाणी सुनत सखा शिखीन,
सुख, अरि हृदय जवासे ज्यों जरत हैं।
जाके भुजदंड भुवलोक के अभय ध्वज,
देखि देखि दुर्जन भुजंग ज्यों डरत हैं।
तोरिबे को गढ़तरु होत हैं शिला सरूप,
राखिबे को द्वारन किवारे ज्यों अरत हैं।
भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै युग युग,
केशोदास जाके राज राज सो करत हैं॥२८॥

राघव की चतुरंग चमू चपि धूरि उठी जलहू थल छाई।
मानो प्रताप हुतासन धूम सु केशव दास अकासन भाई।
मेटि के पंच प्रभूत किधौं विधि रेनुमयी नवरीति चलाई।
दुःख निवेदन को भुवभार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई ॥२९॥

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सब काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को।
बिपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुष को।
दूरि कै कलंक अंक भव सीस ससि सम,
राखत हैं केशोदास दास के बपुष को।
साँकरे की साँकरन सनमुख होत तोरै,
दशमुख मुख जोवै गजमुख मुख को ॥३०॥

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय,
ऐसी मति उदित उदार कौन की भई।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध ऋषिराज तप वृद्ध,
कहि कहि हारे सब कहि न काहू लई।
भावी, भूत, वर्त्तमान जगत बखानत है,
केशोदास क्योंहू न बखानी काहू पै गई।
वर्णै पति चारि मुख, पूत वर्णै पाँचमुख,
नाती वर्णै षट्मुख तदपि नई नई ॥३१॥

राघव की चतुरंग चमू चय को गनै केशव राज समाजनि।
सूर तुरंगन के उरझें पग तुंग पताकनि के पट साजनि।
टूटि परें तिनते मुकता धरणी उपमा बरणी कविराजनि।
बिन्दु मनो मुख फेनन के किधौं राजसिरी स्रवै मंगल लाजनि ॥३२॥

सोभत सुबास हास सुधा सों सुधार्‌यो विधि,
विष को निवास जैसो तैसो मोहकारी है।
केशोदास पावन परम हंस गति तेरी,
पर हीय हरन प्रकृति कौन पारी है।

बारक बिलोकि बलवीर से बलीन कहँ,
करत बरहि बश, ऐसी बैस वारी हैं।
एरी मेरी सखी तेरी कैसे कै प्रतीत कीजै,
कृशनानुसारी दृग करणानुसारी हैं ॥३३॥

जो हौं कहौं 'रहिये' तो प्रभुता प्रगट होति,
'चलन' कहौं तो हित हानि, नाहिं सहनो।
'भावै सो करहु' तो उदास भाव प्राणनाथ,
'साथ लै चलहु' कैसे लोक लाज बहनो।
केशोराय की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चलेही बनत जोपै नाहीं राजी रहनो।
तैसिय सिखाओ सीख तुमही सुजान पिय,
तुमहिं चलत मोहि जैसो कछू कहनो ॥३४॥

एकै कहैं अमल कमल मुख सीता जू को,
एकै कहैं चन्द्र सम आनन्द को कंद री।
होय जो कमल तो रयनि में न सकुचै री,
चंद जो तो बासर न होय दुति मंद री।
बासर ही कमल, रजनि ही में चंद, मुख,
बारसहू रजनि बिराजैं जगबंद री।
देखे मुख भावें, अनदेखेई कमल चंद,
ताते मुख मुखै, सखि कमलै न चंद री ॥३५॥

जग जगमगत भगत जन रस बस,
भव भयहर कर, करत अचर चर।
कनक बसन तन, असन अनल बड़,
बटदल बसन, सजलथल थल कर।
अजर अमर अज बरद चरन धर,
परम धरम गन बरन शरन पर।
अमल कमल बर बदन, सदन जस,
हरन मदन मद, मदन-कदन-हर ॥३६॥

पाँयन को परिबो अपमान अनेक सों 'केशव' मान मनैबो ।
सीठी तमूर खवायबो खैबो विशेष चहूँ दिसि चौंकि चितैबो ।
चीर कुचीरन ऊपर पौढ़िबो पात हू के खरके भगि ऐबो ।
आँखिन मूँदि के सीखत राधिका कुंजन ते प्रति कुंजन जैबो ।।

पूरण कपूर पान खाए कैसी मुख बास,
अधर अरुण रुचि सुधा सों सुधारे हैं ।
चित्रित कपोल लोल लोचन मुकुर मैन,
अमर झलक झलकनि मोहि मारे हैं ।
भृकुटी कुटिल जैसी तैसी न किए हू होंहि,
आँजी ऐसी आँखें केशोराय हेरि हारे हैं ।
काहे को श्रृंगारि कैं बिगारति है मेरी आली,
तेरे अंग सहज श्रृंगार ही श्रृंगारे हैं ।।३८।।

बैठी सखीन की सोहैं सभा सब ही के जु नैनन साँझ बसै ।
बूझै ते बात बराइ कहै मन ही मन केशवदास हँसै ।
खेलति है इत खेल उतै पिय, चित्त खिलावत यों बिलसै ।
कोउ जानै नहीं दृग दौरे कबै, फित ह्वै हरि आनन छ्वै निकसै ।।३९।।

सौं हैं दिवाय दिवाय सखी इक बारक कानन आनि बसाये ।
जानै को केशव कानन ते फित ह्वै हरि नैननि माँझ सिधाये ।
लाज के साज धरेई रहे तब, नैनन लै मन ही सों मिलाये ।
कैसी करौं अब क्यों निकसैं री हरेई हरे हिय में हरि आये ।।

नाह लगे मुख सौति दहै दुख, नाहीं लगे दुख देह दहैगो ।
नाहीं अबै सुख देत हैं केशव नाह सदा सुख देत रहैगो ।
नाहीं ते नाहि री नाहि भलाई, भलो सब नाह हितै पै कहैगो ।
नाह सों नेह निबाहि बलाइ ल्यौं, नाहीं सो नेह कहा निबहैगो ।।४०।।

चपला न चमकत चमक हथ्यारन की,
बोलत न मोर बंदी सयन समाज के ।
जहाँ तहाँ गाजत न बाजत दमामे दीह,
देत न दिखाई दिनमणि लीने लाज के ।

चलि चलि चंद्रमुखी सामरे सखा पै बेगि,
शोषक जु केशौदास अरि सुख साज के।
चढ़ि चढ़ि पवन-तुरंगन गगन घन,
चाहत फिरत चंद योधा जमराज के ॥ ४२ ॥

आजु मिले वृषभानुकुमारिहि नन्दकुमार बियोग बितै कै।
रूप की राशि रस्यो रस केशव, हास विलासनि रोस रितै कै।
बागे के भीतर देखि हिये नख, नैन नवाइ रही सु इतै कै।
फूलहि में भ्रम भूलि मनो सकुचे सरसीरुह चंद चितै कै ॥ ४३॥

घेरो जनि मोहिं घर जान देहु घनस्याम,
घरिक में लागी उर देखिबी ज्यों दामिनी।
होइ कोऊ ऐसी-वैसी आवै इत-उत ह्वै कै,
वे ऊ वृषभानु जू की बेटी गज-गामिनी।
आवित को आयो अंत आवो बनि बलि जाउँ,
आवत है वै ऊ बनि आई अरु यामिनी।
घाम के डरन तुम कुंज गह्यो केशोदास,
भौंरन के डरन भवन गह्यो भामिनी ॥ ४४॥

रहीम

(सं० १६१३-१६८३)

अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना उन व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने भारतेतर देश की वंशपरम्परा में जन्म लेते हुए भी भारतीय संस्कारों को पूर्णतया आत्मसात् कर लिया था। उनका वास्तविक महत्त्व उनके पूर्णतया भिन्न दिशाओं में विकसित होने वाले राजनैतिक तथा साहित्यिक दोनों प्रकार के व्यक्तित्व की तुलना करने पर ही ज्ञात होता है। रीति परम्परा के आदि कवियों में उनका विशिष्ट स्थान है। वे कवि होने के साथ-साथ कवियों के आश्रयदाता भी थे।

रहीम का राजनैतिक जीवन अत्यन्त संघर्षपूर्ण रहा। अकबर के प्रसिद्ध विद्रोही बैरम खाँ के पुत्र होने पर भी उन्होंने अपनी योग्यता के बल से अकबर के महामंत्री तक का सर्वोपरि पद सहज ही प्राप्त कर लिया। मिरज़ा खाँ, मीरअर्ज़ आदि अनेक खिताबों के साथ उन्हें बड़े से बड़ा मनसब प्रदान किया गया। सं० १६३३ में गुजरात के सूबेदार रहे फिर अजमेर के अपने गुणों और अकबर के विशेष अनुग्रह से शाहज़ादे सलीम के शिक्षक एवं संरक्षक बनाये गये। गुजरात के युद्ध में विजयी होकर सं० १६४० में ख़ानख़ाना की उपाधि प्राप्त की। अकबर के साथ काश्मीर और काबुल गये। वहाँ से लौटने पर टोडरमल की मृत्यु के बाद वज़ीरे आज़म (सं० १६४६) नियुक्त हुए। मुल्तान, कंधार और सिंध की विजय का श्रेय भी रहीम को ही है। इस यश के परिणामस्वरूप अशान्ति मिटाने के लिए इन्हें दक्षिण भेजा गया। तब तक जहाँगीर का शासनकाल प्रारंभ हो गया और रहीम का दुर्भाग्य

उदित हुआ। विद्रोही ख़ुर्रम (शाहजहाँ) का साथ देने के कारण वे शाही कोप का भाजन बने और न केवल जागीर और मरातिब से वंचित किये गये वरन उन्हें महावत खाँ की कैद में भी रहना पड़ा जहाँ उनके पास तरबूज़ के नाम पर उन्हीं के बेटे का सिर काट कर भेजा गया था। संघर्ष के शान्त होने पर जहाँगीर ने छीना हुआ मंसब और पद पुनः प्रदान कर दिया जिस पर रहीम ने लिखा—

'दोबारः जिन्दगी दादः दोबारः ख़ानख़ानानी'।

भाग्योदय के इस द्वितीय काल में रहीम कन्नौज के अधिपति नियुक्त किये गये परन्तु उससे पूर्व ही उनका शरीरान्त हो गया।

अपने ऐश्वर्यकाल में रहीम ने अद्भुत सहृदयता एवं दानशीलता का परिचय दिया और आश्रित कवियों को अपार सम्पत्ति प्रदान की। कहते हैं गंग कवि को एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपया दे डाला था। तुलसीदास जी से इनका घनिष्ट पारस्परिक परिचय था। आचार्य केशवदास की 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' 'जिसमें उन्होंने ख़ानख़ाना को रामचन्द्र जी का 'तीर' तक कहा है, से लेकर मुंशी देवी प्रसाद जी के 'ख़ानख़ाना नामा' तक अनेक व्यक्तियों ने उनकी प्रशंसा में रचनाएँ की हैं। इसके विपरीत पराभवकाल में उनको अनेक कारणों से गहरी व्यथा का अनुभव हुआ जिसकी छाया उनकी रचनाओं में कई स्थानों पर मिलती है, यथा—

ये रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाँहि।
यारो यारी छाँड़िए वे रहीम अब नाँहि॥
चित्रकूट में वसि रहे 'रहिमन' अवध नरेस।
जापर विपदा परति है सो आवत यहि देस॥

रहीम कई भाषाओं के ज्ञाता थे। उन्होंने 'वाक़आत बाबरी' का अनुवाद तुर्की से फ़ारसी में किया था। दीवान फ़ारसी में उनकी फ़ारसी रचनाएँ संग्रहीत हैं। ज्योतिष संबंधी 'खेटकौतुकजातकम्' नामक स्वरचित ग्रन्थ में उन्होंने संस्कृत शब्दावली के साथ फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग किया है। भाषाओं के मिश्रण की यह प्रवृत्ति रहीम में विशेष रूप से मिलती है। 'मदनाष्टक' में ब्रजभाषा और खड़ी बोली का मिश्रण है। 'रहीम काव्य' के नाम से उनके रचे हुए अनेक संस्कृत श्लोक मिलते हैं। 'बरवै नायिकाभेद' अवधी में रचा गया है। रीति-काव्य में अवधी का प्रयोग रहीम ने ही किया है। बरवै छंद उनको विशेष प्रिय था। उन्होंने इस सत्य को स्वीकार भी किया है—

कवित कह्यो दोहा कह्यो, तुलै न छप्पय छंद।
विरच्यो यहै विचार कै, यह बरवै रस कंद ।।

मायाशंकर याज्ञिक की शोध से 'नगर शोभा' नामक एक स्वतन्त्र रचना तथा अन्य बरवै छंद प्राप्त हुए हैं। संभव है वे छंद किसी तीसरी रचना के हों क्योंकि उनमें मंगलाचरण के छंद भी हैं। 'शृंगार सोरठ' तथा 'रासपंचाध्यायी' भी आंशिक रूप में ही उपलब्ध हैं। अनुमानतः यह भी स्वतन्त्र रचनाएँ रही होंगी। दोहों की रचना रहीम ने सर्वाधिक की है जिनमें नीति के दोहे प्रधान हैं। हिन्दी नीतिकाव्य में रहीम का स्थान अक्षुण्ण है। कुछ लोगों की धारणा है कि इन्होंने 'रहीम सतसई' का निर्माण किया था परन्तु स्फुट दोहों के अतिरिक्त ऐसी कोई पूर्ण रचना प्राप्त नहीं होती। इन रचनाओं के अतिरिक्त रहीम रचित कवित्त, सवैया और पद भी मिलते हैं। जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने तत्कालीन सभी प्रचलित छंद-शैलियों में थोड़ी बहुत रचना की है।

छंद, रस और सौन्दर्य की दृष्टि से रहीम का 'बरवै नायिकाभेद' रीतिकाव्य परम्परा में अपना अद्वितीय स्थान रखता है। कवि ने नायिकाभेद के लक्षण नहीं दिये हैं परन्तु उदाहरणों में भेदों के क्रम का व्यवस्था के साथ अनुसरण किया है। यह भी एक विशेषता ही कही जा सकती है। 'नगरशोभा' में नायिकाओं का जाति-भेद से वर्णन है और विद्वानों का अनुमान है कि देव कवि ने अपने 'जातिविलास' की प्रेरणा कदाचित् रहीम के इसी काव्य से ली है।

संकलन

बन्दौ देवि सरदवा, पद कर जोरि ।
बरनत काव्य बरववा, लगइ न खोरि ।।१।।

लहरत लहर लहरिया, लहर बहार ।
मोतिन जरी किनरिया, बिथुरे बार ।।२।।

भोरहि बोलि कोइलिया, बढ़वति ताप ।
घरी एक घरि अलिया, रहु चुपचाप ।।३।।

सुनि धुनि कान्ह मुरलिया, रागन भेद ।
गइल न छाँड़ति गोरिया, गनति न खेद ।।४।।

तोरेसि नाक नथुनिया, मित हित नीक ।
कहेसि नाक पहिरावहु, चित दै सींक ।।५।।

बाहेर लै कै दियवा, बारन जाइ ।
सासु ननद ढिग पहुँचत, देति बुताइ ।।६।।

आज नयन के कोरवा औरै भाँति ।
नागर नेह नवेलियहिं, मूँदि न जाति ।।७।।

खीन मलिन बिख-भइया, औगुन तीन ।
मोहि कहि चंद-बदनिया, पिय मति हीन ।।८।।

का सौं कहउँ सँदेसवा, पिय परदेसु ।
लगेउ चैत नहिं फूलइ, तेहि बन टेसु ।।९।।

सखि सिख सीख नवेलिया, कीन्हेसि मान ।
पिय लखि कोप भवनवाँ, ठानेसि ठान ।।१०।।

सीस नवाइ नवेलिया, निचवइ जोइ ।
छिति खन छोर छिगुनिआँ, सुसुकति रोइ ।।११।।

मिलेउ न कन्त सहेटवा, लखेउ डेराइ ।
धनियाँ कमल बदनियाँ, गइ कुम्हिलाइ ।।१२।।

चली रैन अँधिअरिया, साहस गाढ़ि ।
पायेल केरि कँकरिया, डारेसि काढ़ि ॥१३॥

परिगा कान सखिअवा, पिय कर गौन ।
बैठी कनक पलँगिआ, होइ कै मौन ॥१४॥

पीतम इक सुमिरिनियाँ, मोहिं दइ जाहु ।
जेहि जपि तोर बिरहवा, करब निबाहु ॥१५॥

आवन सुनत तिरिअवा, उठि हरखाइ ।
तलफत मनहुँ मछरिया, जनु जल पाइ ॥१६॥

करत नहीं अपरधवा, सपनेहु पीउ ।
मान करन काँ सधवा, रहिगा जीउ ॥१७॥

खेलत जानेसि टोलिआ, नन्द किसोर ।
छुइ वृषभान कुअँरिया, होइगा चोर ॥१८॥

—बरवै नायिकाभेद से

रहिमन पुतरी स्याम मनहुं जलज मधुकर लसे ।
कै धौं सालिग्राम, रूपे के अरघा धरे ॥१९॥

पलटि चली मुसुकाय, दुति रहीम उपजाय अति ।
बाती सी उकसाय, मानो दीनी दीप की ॥२०॥

गई आगि उर लाय, आगि लेन आई जो तिय ।
लागी नाहिं बुझाय, भभकि भभकि बरि बरि उठै ॥२१॥

—शृंगार सोरठ से

सीखी है ऐसी रहीम कहा, इन नैन अनोखे धौं नेह की नाँधन ।
ओट भये रहते न बनै कहते न बनै बिरहानल दाधन ।
पुन्यन प्यारे सों भेंट भई ए पै भौन कुसंग मिल्यो अपराधन ।
स्याम सुधानिधि आनन को मरिए सखी सूधे चितैवे को साधन ॥२२॥

पट चाहे तन, पेट चाहत छदन, मन—
चाहत है धन, जेती सम्पदा सराहिबी ।
तेरोई कहाय कै, रहीम कहै दीनबन्धु,
आपुनी बिपति जाय, काके द्वार काहिबी ॥

पेट भर खायो चहै, उद्यम बनायो चहै,
कुटुम जियायो चहै, काढ़ि गुन लाहिबी ।
जीविका हमारी, जो पै औरन के कर डारी,
ब्रज के बिहारी, तौ तिहारी कहा साहिबी ।।२३।।

बड़ेन सो जान पहिचान, तो रहीम कहा,
जो पै करतार ही, न सुखदेनहार है ।
सीतहर सूरजसों प्रीति करी पंकज ने,
तऊ कंज-बनन को जारत तुषार है ।।
उदधि के बीच धस्यो, शंकर के सीस बस्यो,
तऊ न कलंक नस्यो, ससि में सदा रहे ।
बड़े रिझवार हैं, चकोर दरबार देख्यो,
सुधाधर यार ए पै चुगत अँगार है ।।२४।।

दीन चहै करतार जिन्हें सुख, कौन रहीम सकै तिहि टारे ।
उद्यम कोउ करो न करो, धन आवत है बिन ताके हँकारे ।
देव हसैं सब आपुस में बिधि के परपंच न कोउ निहारे ।
बेटा भयो बसुदेव के धाम औ दुंदुभी बाजत नन्द के द्वारे ।।२५।।

—फुटकर काव्य से

एकस्मिन्दिवसावसान समये, मैं था गया बाग में ।
काचित्तत्र कुरंगबालनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी ।
तां दृष्ट्वा नवयौवनां शशिमुखीं, मैं मोह में जा पड़ा ।
नो जीवामित्वया विना शृणु प्रिये, तू यार कैसे मिले ।।२६।।

—रहीम काव्य से

मैली एक धोबनियाँ, ऊजर गाँव,
भूलि कन्त बिन कलपति, लै लै नाँव ।।२७।।

बड़ि बड़ि आँखि बरनियाँ, हिय हरि लेत,
पतरी के अस डोब, करजवा देत ।।२८।।

अहिरिनि मन की गहिरी, उतर न देय,
नैना करे मथनियाँ, मन मथ लेय ।।२९।।

अचरज करत लुहरिया, पिय के पास।
जाहि छुवत बिन जिय के, लेय उसास ॥३०॥

—'*नगरशोभा*' से

कवित कह्यो दोहा कह्यो, तुलै न छप्पय छन्द।
विरच्यो यहै विचार कै, यह बरवै रसकंद ॥३१॥

हौं लखिहौं री सजनी, चौथ मयंक।
देखौं केहि बिधि हरि सों, लगै कलंक ॥३२॥

निरमोंही अति झूँठौ, साँवर गात।
चुभ्यौ रहत चित कौधौं, जानि न जात ॥३३॥

मी गुजरद ई दिलरा, बे दिलदार।
इक इक साअत हमचूँ, साल हजार ॥३४॥

कै गोयम अहवालम, पेश निगार।
तनहा नजर न आयद, दिल लाचार ॥३५॥

पथिक आय पनघटवा, कहत पियाव।
पैयाँ परों ननदिया, फेरि कहाव ॥३६॥

ढीलि आँखि जल अँचवत, तरुनि सुभाय।
धरि खसकाइ घइलना, मुरि मुसुकाय ॥३७॥

बालम अस मन मिलयउँ, जस पय पानि।
हंसिनि भइल सवतिया, लइ बिलगानि ॥३८॥

—'*रहीमरत्नावली*' से

चिंतामणि

(जन्म सं० १६६६,—कविताकाल, सं० १७०० के लगभग)

आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी का महत्त्व इस दृष्टि से विशेष माना जाता है कि उन्होंने केशवदास से भिन्न पथ का अनुसरण किया और अलंकारवादी भामह, दंडी आदि की परम्परा को छोड़ कर मम्मट और विश्वनाथ की परम्परा को अपनाया। चिंतामणि के पश्चात् रीतिकाल के अन्य अनेक आचार्यों ने भी इसी परम्परा को ग्रहण किया है किन्तु इसका सम्पूर्ण श्रेय चिंतामणि को है यह कहना कठिन है। इधर रीतिकाव्य के कतिपय मान्य विद्वानों ने कदाचित् ऐसा मानकर कि चिंतामणि के प्रभाव से ही आगे यह परम्परा चली उन्हें रीतिकाव्य का आदि आचार्य घोषित किया है।

विविध स्रोतों से उनके छः ग्रंथों का पता चलता है—१. काव्य-विवेक, २. कविकुलकल्पतरु, ३. काव्यप्रकाश, ४. पिंगल, ५. रामायण, ६. रस-मंजरी। इन ग्रंथों की विषयवस्तु देखने से ज्ञात होता है कि चिंतामणि वास्तव में आचार्यपद के अधिकारी हैं। मौलिकता तथा काव्य-सौष्ठव के लिए तो उनकी ख्याति विशेष नहीं है परन्तु काव्य-शास्त्र के सभी पक्षों को व्यवस्थित एवं सुस्पष्ट रूप में व्यक्त करने का महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय कार्य उन्होंने किया है। परम्परा से वे भूषण और मतिराम के भाई माने जाते हैं और उनका निवासस्थान तिकवाँपुर (कानपुर) तथा पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी बताया जाता है किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ विवाद भी उठ चुका है अतः इसे सर्वथा असंदिग्ध नहीं कहा जा

सकता। भिखारीदास ने अपने 'काव्यनिर्णय' में अन्य पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण करते समय चिंतामणि का नाम मतिराम और भूषण के साथ लिया है। यह इसलिए भी हो सकता है कि तीनों भाई थे और यह भी संभव है कि इसी उल्लेख को देखकर ऐसा प्रवाद चल पड़ा हो। अन्तर्साक्ष्य से ज्ञात होता है कि वे नागपुर के भोंसला राजा मकरंदशाह के दरबार में रहे थे और उन्हीं के लिए उन्होंने अपना 'पिंगल' अथवा 'छंदविचार' नामक ग्रंथ रचा। शाहजहाँ और जैनदीं अहमद की कृपा भी उन्हें उपलब्ध हुई ऐसा शिवसिंह सरोज में उल्लेख हुआ है।

संकलन

प्रेम्यौ चहै पिय को बिन ओट, बनै न कछू बिन घूँघट खोलै।
भावै न संग छुट्यौ पति कौ, सकुचै, न करै कछु काम कलोलै।
चाहति बात कह्यौ न कह्यौ, पर जात रह्यौ न रहै अनबोलै।
झूलत है मन प्रान पियारी कौ, लाज मनोज के बीच हिंडोलै ॥१॥

साँझ ते चन्द कलंक उयौ, मन मेरौ लै साथ रहे तुम न्यारे।
बैठि बची मनि-मन्दिर बीच, लगे तब दीप प्रकास अँध्यारे।
प्रातहि पाइ सुधामय पारनौ, नैक-चकोर छके मे सुखारे।
क्यों न अनूप कला प्रगटौ, अकलंक कलानिधि मोहन प्यारे ॥२॥

बोलत काहै न बोल सुनैं मधुरी बतियाँ मनमोहन भाखैं।
बोलै कहा, कछु चित्त मैं ह्वै दुख, पित्त बढ़ै, कटु लागतीं दाखैं।
ठाढ़े हैं लाल, बिलोकै न बाल क्यों, तेरी बिलोकनि को अभिलाखैं।
लाल भई बिन काजहि आजु ए, देखौं कहा, मेरी दूखती आँखैं ॥३॥

जावक रंजित भाल किए, मनभावन भामती-गेह सिधारे।
दूरि तें भौंह कमान चढ़ाइ कै, सुन्दरि नैन-कटाच्छ तें डारे।
आइकै बालम बांह गहीं ढिग, चन्दमुखी झुकिकै झझकारे।
चम्पक-माल सी कोमल बाल, सु लाल चमेली की माल सों मारे ॥४॥

जामैं कछू मन सोच-सँकोच न, आछिये सो तौ कछू लरिकाई।
आवत ही इन नैनन के रस, मोहन के बस को ललचाई।
देखे बिना कल नैंक नहीं, अरु देखै तौ गोकुल गाँम चबाई।
जामैं हँसे हूँ कलंक लगै, यह कौन धौं बैस बिसासिनि आई ॥५॥

द्वै दिन कौ पथ तीरथ न्हान कौ, लोग चल्यौ मिलकै सिगरौई।
सास बहू सों कह्यौ यों, रहौ घर, और रहै नहिं राखिए कोई।
सुन्दरि आनन्द सो उँमगी, जोइ चाहत ही जु भयौ अब सोई।
प्रेम सों पूरन दोऊ जने, घर आपु रही कै रह्यौ नँनदोई ॥६॥

एहो तुम हौ तौ, नैंक घरैं क्यों न रहौ,
देखौ 'चिंतामनि' बागन में कौप लहलही हैं।
तुमको धरम ह्वै है देव-अरचन काज,
सुन्दरि चमेली की कली कछूक चही हैं।
बाग में अँध्यारौ, डरु लागत हैं जातैं उत,
तातैं हौं कहति इहाँ लोग और नहीं हैं।
कैसें करि जाँउ फूल लैंन हौं अकेली, ह्याँ तौ
आछे-आछे फूलन की बेली फूल रही है ।।७।।

आपु ही पाँइन देत महाबर, बेनी गुहै और बैंनी डुलावै।
आपु ही बीरी बनाइ खवावै, अनेक बिलासन रीझि रिझावै।
तेरी सखी अरु आपने मित्र सों, तेरे ही प्रेम की बातैं चलावै।
तो सी त्रिलोक में को बड़भागिनि, जो तिय यों पिय को बस पावै ।।८।।

देखै न क्यों सुख मानि घनौ मन, जा सुखमान को सोर भयौ है।
साँवरौ सुन्दर जो सिगरो ब्रजनारिन को चितचोर भयौ है।
आपुने आइ अटा में भटू, घनघोर घटान कौ मोर भयौ है।
नन्द किसोर झरोखे की ओर सु तो मुख-चंद चकोर भयौ है ।।९।।

जामिनि कौ पहिलौ जब जाम, बितीत भयौ पिय गेह न आयौ।
लाजन बोलि सकै न सखीन सों, बाम को काम-हियौ अकुलायौ।
यों मन बीच बिचारि करै, उन कैंहू न मोहि वियोग दिखायौ।
जानति हौं न कहा गति है, मेरे प्रानन कौ पति कै बिलमायौ ।।१०।।

पेखत ही प्रगटी मन को 'मनि' बैंनी महा बिष नागिनि गाई।
ताप चढ़ाइ गयो निरखे सुरभी तरुनी मुख चंद ठगाई।
नील सरोरुह मैन के बानन नैननि सारि कै पीर जगाई।
आगि अँगार के रंगन अंगनि कैसी अनंग की आगि लगाई ।।११।।

चिंतामनि स्याम जू के सुन्दर बदन पर,
हम हैं बिकानी कौन यामैं छल छंदु है।
कहौ कुलकानि जाति कौन पै निवाही जोई,
देखतु है याही ताहि लाग्यो प्रेम फंदु है।

मधुर कपोलनि मधुर मुसक्यानि माई,
मधुर बिलोकनि मधुर मुख चंदु है।
जैसे सब फलनि अमृतमय चंद ऐसे,
निपट अनंदमय नंद जू को नंदु है ॥१२॥

बैन सुधा तुही सींचै विलासिनि मो मन मोद लतानि की क्यारी।
मोहि कहा कल होत कहूँ 'मनि' जो पल एक रहै जब न्यारी।
मेरियै नैन चकोर छके मृग लोचनी तो मुख चंद उज्यारी।
जो कुछ जानौ सुजाइ कहौ तुम मेरी हौ प्रानन तें अति प्यारी ॥१३॥

मन मान कियो वृषभान लली, अनतै अवलोकत लालन हैं।
उत आइ जुरी सखियाँ सिगरी पिय आयो सखी एक बीज कहे।
दृग मूँदि रहौ चितए जुपै मान लला हसि ते दृग मूदि रहे।
मुस्काइ कै राधिका आनंद सौं भुज माल सौं लाल लपेटि गहे ॥१४॥

स्वामि दरसन चंद सिंधु ते निकारी बुन्द,
मीन हम तपत महीतल में डारी हैं।
पल पल बीतत कलप कोटि हरि बिनु,
हहरि हहरि हाइ हाइ करि हारी हैं।
चिंतामनि बिहँसि बिलोकि चितचोर की वै,
चलनि चितौनि बिसरत न बिसारी हैं।
सदाई अनंद अरविन्द नैन इन्दु मुख,
कब ही गोबिन्द सुधि करत हमारी है ॥१५॥

सरद तें जल की त्यौं दिन ते कमल की, ज्यों
घन ते त्यों थल की निपट सरसाई है।
घन ते सावन की ज्यों, आब ते रतन की, ज्यों
गुन तें सुजन की ज्यों परम सुहाई है।
चिंतामनि कहै आछे अच्छरन छंद की ज्यों,
निसागम चन्द की ज्यों दृग सुखदाई है।
नग तें ज्यों कंचन बसंत तें ज्यों बन की, यों
जोबन तें तन की निकाई अधिकाई है ॥१६॥

ग्रीषम में वापी कूप सरवर सूखे सब,
जल नदी झिरना ते आवतु नगर में।
जहाँ जात आवत लगत काँट झारन के,
हौं न जैहों, हौं ही पानी पीवति हौं घर में।
अति दूर ही तें भरी गागरि लै आवति हौं,
छूटत पसीना कँपैं अंग थर थर में।
कहति हौं पुनि सासु ननँद झुकै न मोपै,
जाऊँगी तौ आऊँगी न भरि दुपहर में॥१७॥

बेसरि बारहिं बार उतारत, केसरि अंग लगावन लागी।
आई हैं नैननि चंचलता, दृग अंचल बाम छिपावन लागी।
दूलह के अवलोकन को, वा अटानि झरोखन आवन लागी।
द्यौस द्वै तीनक ते बतियाँ मन-भावन की मन भावन लागी॥१८॥

बैस की उठौन ठौन रूप की अनूप, कान्ह,
अंग अंग और कछु ओप उलहति है।
चिंतामनि चंचला विलास को रसाल नैन,
मदन के मद और आभा उमहति है।
कुंदन की बेली सी नबेली अलबेली बाल,
केतिक गरब की सों गौरता गहति है।
उझकि झरोखे तुम्हें चाहिबे कौ चंदमुखी,
द्यौसहू में चंद्रिका पसारति रहति है॥१९॥

अवलोकनि मैं पलकैं न लगैं,
पलकौ अवलोकि बिना ललकै।
पति के परिपूरन प्रेम पगी,
मन और सुभाव लगै न लकै।
तिय की बिहसौं ही विलोकनि में,
मनि आनँद आँखिन यों झलकै।
रसवंत कबित्तन कौ रस ज्यों,
अखरान के ऊपर ह्वै छलकै॥२०॥

तुही धन तुही प्रान तोही में हरी को मन,
तेरे ही रिझाइबे की रीति में प्रवीन हैं।
चिंतामनि चिंता नित उन्हें लगी तेरी रहै,
तेरे ही बिरह खिन खिन होत खीन हैं।
ठीक जु न कीजै ठकुरायनि इतैक हठ,
छोड़ि दीजै, तेरे बृज ठाकुर अधीन हैं।
तू है पी के नैंन अरबिंदन की इंदिरा, औ
पी के नैन तेरे तन पानिप के मीन हैं ॥२१॥

कहाँ जागे रैन आए निपट उनींदे हौ जू,
सोइ रहौ प्यारे विछ्यौ आछो परजंक है।
खेलत हे चाँदनी में ग्वालन के संग कहूँ,
काहू ग्वाल ही को नाम लीजै कहा संक है।
यों ही भले मानसै लगावती कलंक है, वो
देख्यो कहूँ चिंतामनि रति हू को अंक है।
पीत रंग अंबर सो भयो नील रंग, लाल,
झूठी हौं गोपाल तुम्हें काहे को कलंक है ॥२२॥

सरद ससी तें अधससी ह्वै बची हौं, कवि
चिंतामनि तिमि हिमि सिसिर झमक तें।
मारत मरूकै बची बधिक बसंत हू तें,
पावक प्रचार बची, ग्रीषम तमक तें।
आयो पापी पावस ये प्रान अकुलान लाग्यौ,
भयौ री असान घोर घन के घमक तें।
ताप तें तचौंगी, जो पै अमिय अँचौंगी आली !
अब न बचौंगी चपलान की चमक तें ॥२३॥

—'*कविकुलकल्पतरु*' से

चिंतामणि, कच, कुच भार लंक लचकति,
सोहै तन तनक बनक छबि खान की।
चपल बिलास मद आलस बलित नैन,
ललित बिलोकनि लसनि मृदु बान की।

नाक मुकुताहल अधर रंग संग लीन्ही,
 रुचि संध्या राग नखतन के प्रभान की।
बदन कमल पर अलि ज्यौं, अलक लोल,
 अमल कपोलनि झलक मुसक्यान की ॥२४॥

इक आजु मैं कुंदन बेलि लखी मनि मंदिर की रुचि वृन्द भरै।
कुरबिन्दु को पल्लव इंदु तहाँ अरबिंदन ते मकरंद झरै।
उत बुंदन के मुकुता गन ह्वै फल सुन्दर द्वै पर आनि धरै।
लखि यों दुति कंद अनन्द कला नँदनंद सिला द्रव रूप धरै ॥२५॥

राति रहे 'मनि' लाल कहूँ रमि ह्याँ दुख बाल बियोग लहे हैं।
आये धरै अरुनोदय होत सरोष तिया इमि बैन कहे हैं।
लाल भये दृग कोरन आनि कै यों अँसुवा नव बूँद रहे हैं।
चोंचन चापि मनों सिथिलै बिबि खंजन दाड़िम बीज गहे हैं ॥२६॥

—'*काव्यविवेक*' से

हंसन के छौना स्वच्छ सोहत बिछौना बीच,
 होत गति मोतिन की जोति जोन्ह जामिनी।
सत्य कैसी ताग सीता पूरन सुहाग भरी,
 चली जयमाल लै मराल मंद गामिनी।
जोई उरबसी सोई मूरति प्रतच्छ लसी,
 चिंतामनि देखि हँसी संकर की भामिनी।
मानो सर्द चन्द, चन्द मध्य अरबिन्द,
 अरविन्द मध्य विद्रुम विदारि कढ़ी दामिनी ॥२७॥

—'*रामायण*' से

मतिराम

(सं० १६६०-१७५०)

मतिराम सम्पूर्ण ब्रजभाषा-काव्य के मधुरतम कवियों में से हैं। स्वाभाविक शब्दयोजना तथा सरस एवं रमणीय कोमल भाव-निरूपण उनकी कविता की प्रमुख विशेषता है। बिहारी और केशव की रचनाओं के बाद जिस एक ग्रंथ को सर्वाधिक ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त हुई वह मतिराम का 'रसराज' है जिसकी रचना कवि ने सं० १७१९ में किसी आश्रयदाता के लिए न करके स्वतन्त्र रूप में की। यों उनका सारा जीवन राजाश्रय में ही व्यतीत हुआ। आगरे में जहाँगीर की इच्छा से 'फूलमंजरी' नामक साठ दोहों की एक रचना का निर्माण किया। श्रीनगर के फ़तेहसिंह बुंदेला के लिए 'छंदसार पिंगल' रचा। इसी प्रकार कुमायूँ के राजा उद्योतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचंद के लिए सं० १७४७ में 'अलंकारपंचाशिका' रची गयी। इससे पूर्व भोगराज नाम के एक गुणी राजा के लिए 'बिहारी सतसई' की तरह इन्होंने 'मतिराम सतसई' लिखी। बिहारी और मतिराम के दोहों में अनेक स्थलों पर भाव-सादृश्य मिलता है। दोनों कवि प्रायः समकालीन थे अतएव किस पर किसका प्रभाव है यह निर्धारित करना कठिन है फिर भी मतिराम के बहुत से दोहे बिहारी के समानान्तर लिखे गये प्रतीत होते हैं। संभव है बिहारी सतसई ने ही उन्हें सतसई लिखने की प्रेरणा दी हो। उत्कृष्टता में उनके बहुत से दोहे बिहारी के दोहों के समकक्ष रक्खे जा सकते हैं। 'रसराज' के पश्चात् उनका अन्य प्रमुखतम ग्रंथ है 'ललितललाम' जो अलंकारग्रंथ है और बूँदी के महाराज भावसिंह के निमित्त

रचा गया। इसमें अनेक उदाहरण रसराज के रख लिये गये हैं जिससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना उसके पश्चात् हुई होगी या साथ-साथ। भूषण रचित 'शिवराजभूषण' और 'ललितललाम' के लक्षणों और उदाहरणों में भी पर्याप्त सादृश्य मिलता है जिससे इस धारणा की पुष्टि होती है कि दोनों भाई थे और तिकवाँपुर (कानपुर) के निवासी कश्यपगोत्री ब्राह्मण थे। कृष्णबिहारी मिश्र ने मतिराम ग्रंथावली की भूमिका में चिंतामणि, भूषण और मतिराम के बंधुत्व को सैयद गुलाम अली द्वारा लिखित 'तज़किरा सर्वआज़ाद हिंद' के आधार पर प्रमाणित किया है जो विश्वसनीय प्रतीत होता है। उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त मतिराम की दो छोटी रचनाएँ 'साहित्यसार' तथा 'लक्षण श्रृंगार' और उपलब्ध होती हैं जो विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

काव्यशास्त्र को समृद्ध बनाने में मतिराम ने कोई मौलिक योग नहीं दिया। अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह उनका महत्त्व भी कवि के रूप में ही है फिर भी अपने रसराज में उन्होंने दो एक स्थान पर परम्परा से भिन्न पथ अपनाया है जिसका उल्लेख आवश्यक है जैसे गणिका नायिका का वर्णन उन्होंने अन्य नायिकाओं की तरह भेदों सहित किया है। स्वाधीनपतिका के रूप में भी उसका वर्णन किया है। नायकों के भेद भी मतिराम ने समाविष्ट कर लिये हैं जिनका आधार नाट्यशास्त्र है। संचारीभावों की चर्चा उन्होंने नहीं की और न उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत षड्ऋतु-वर्णन ही लिखा है। वे श्रृंगार को रसराज मानते थे और उसी का वर्णन उन्होंने आन्तरिक मनोयोग से किया है।

न तो उनका झुकाव देव और बिहारी की तरह कलात्मक पद-रचना एवं वर्णमैत्री की ओर विशेष रहा और न केशव की तरह उन्होंने दुरूहता को प्रश्रय दिया। इन सबसे भिन्न अकृत्रिम और सहज रसमयता के साथ उन्होंने मानवीय प्रेम के विविध रूपों के मनोहारी चित्र प्रस्तुत किये हैं जिनमें पारिवारिकता तथा मानवीयता विशेष रूप से प्राप्त होती है। मतिराम का सौन्दर्यबोध अत्यन्त परिष्कृत था जिसका उदाहरण उनकी अति प्रसिद्ध पंक्ति 'ज्यों ज्यों निहारिये नेरें ह्वै नैनन त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई' में मिलता है। ललितललाम में उनके वीररसात्मक वर्णन भी ओजस्वी एवं आकर्षक बन पड़े हैं। गज-वर्णन भूषण की तरह उनका भी प्रिय विषय था। इस सम्बन्ध में दोनों की प्रतिस्पर्धा की कथाएँ भी सुनी जाती हैं।

देव के अतिरिक्त मतिराम ही ऐसे कवि हैं जिनके लक्षण ग्रंथों में इतने अधिक उत्कृष्ट उदाहरण एक साथ मिलते हैं।

संकलन

कुंदन कौ रंगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई ।।१।।

कोऊ नहीं बरजै मतिराम रहो तितही जितही मन भायो।
काहे कौं सौहें हजार करौ, तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमें दुख, यों ही कहा रसवाद बढ़ायो।
मान रहोई नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मानैं मनायो ।।२।।

क्यों इन आँखिन सौं निरसंक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै।
नेकु निहारें कलंक लगै इहि गाँव बसे कहौ कैसे के जीजै।
होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै वनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरारस लीजै ।।३।।

आई है निपट साँझ गैयाँ गई घर-माँझ,
ह्वाँ सो दौरि आई मेरो कह्यो कान्ह कीजिए।
हौं तो हौं अकेली और दूसरो न देखियत,
बन की अँधेरी में अधिक भय भीजिए।
कवि मतिराम मनमोहन सौं पुनि-पुनि,
राधिका कहत बात साँचो यै पतीजिए।
कब की हौं हेरति न हेरे हरि पावति हौं,
बछरा हिरानौ सो हिराय नैंक दीजिए ।।४।।

बैठी तिया गुरु लोगन मैं, रति तैं अति सुन्दर रूप बिसेखी।
आयो तहाँ मतिराम सुजान, मनोभव सौं बढ़ि कांति उरेखी।
लोचन रूप पियो ही चहैं अरु लाजनि जात नहीं छबि पेखी।
नैन नमाय रही हिय-माल मैं, लाल की मूरति लाल मैं देखी ।।५।।

आई हौं पायँ दिवाय महावर, कुंजन तें करिकैं सुख-सैनी।
साँवरे आजु सँवारयो है अंजन, नैनन कौ लखि लाजति ऐनी।
बात के बूझत ही मतिराम कहा करिए भट्ट भौंह तनैनी।
मूँदी न राखत प्रीति भट्ट, यह गूँदी गुपाल के हाथ की बैनी ।।६।।

सकल सिंगार साज संग लै सहेलिन कौं,
सुंदरि मिलन चली आनन्द के कंद कौं।
कवि मतिराम मग करति मनोरथनि,
पेख्यो परजंक पै न प्यारे नंदनंद कौं।
नेह ते लगी है देह दाहन दहत गेह,
बाग को बिलोकि द्रुम बेलिन के बृन्द कौं।
चंद को हँसत तब आयो मुखचंद अब,
चंद लाग्यो हँसन तिया के मुखचंद कौं ।।७।।

जमुना के तीर बहै सीतल समीर तहाँ,
मधुकर करत मधुर मंद सोर हैं।
कवि मतिराम तहाँ छबि सौं छबीली बैठी,
अंगन तें फैलत सुगंध के झकोर हैं।
पीतम बिहारी की निहारिबे को बाट ऐसी,
चहूँ ओर दीरघ दृगन करी दौर हैं।
एक ओर मीन मनो, एक ओर कंज-पुंज,
एक ओर खंजन, चकोर एक ओर हैं ।।८।।

अंगन में चंदन चढ़ाय घनसार सेत
सारी छीर-फेन की सी आभा उफनाति है।
राजत रुचिर रुचि मोतिन के आभरन,
कुसुम कलित केस सोभा सरसाति है।
कवि मतिराम प्रानप्यारे सौं मिलन जात,
करिकैं मनोरथनि मृदु मुसकाति है।
होति न लखाई निसि-चंद की उज्यारी मुख,
चंद की उज्यारी तन छाँहौं छिपि जाति है ।।९।।

जा दिन तैं चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता दिन तैं वाके पियराई तन छाई है।
कहै मतिराम छोड़े भूषन, बसन, पान,
सखिन सौं खेलनि, हँसनि बिसराई है।
आई ऋतु सुरभि, सुहाई प्रीति वाके चित्त,
ऐसे में चलौ तो लाल रावरी बड़ाई है।
सोवत न रैन-दिन, रोवत रहति बाल,
बूझे तें कहति मायके की सुधि आई है ॥१०॥

मोहन लला को सुन्यो चलनि बिदेस, भयो
बाल मोहिनी को चित निपट उचाट मैं।
परी तलावेली तन-मन मैं छबीली राखै
छिति पर छिनकु, छिनकु पाँव खाट मैं।
प्रीतम नयन-कुवलयन कौ चंद घरी,
एक मैं चलेगो मतिराम जिहि बाट मैं।
नागरि नवेली रूप आगरि अकेली रीती
गागरि लै ठाढ़ी भई बाट ही के घाट मैं ॥११॥

प्रानपियारो मिल्यो सपने मैं, परी जब नैंसुक नींद निहोरैं।
कंत को आगम त्यौं ही जगाय, कह्यो सखी बोल पियूष निचोरैं।
यौं मतिराम भयो हिय मैं सुख बाल के बालम सौं दृग जोरैं।
जैसे मिहीं पट मैं चटकीलो चढ़ै रंग तीसरी बार के बोरैं ॥१२॥

नागर बिदेस में बिताय बहु द्यौस आयो,
नागरी के हिय मैं हुलासन की खान की।
कवि 'मतिराम' अंक भरत मयंक-मुखी,
नेह सरसाय मोही मति सुखदान की।
सुबरन बोलि कैं बतावति है सुबरन,
हीरन जतावति है छबि मुसकान की।
आँखिन तैं आनन्द के आँसू उमगाय प्यारी,
प्यारे को दिखावति सुरति मुकतान की ॥१३॥

गुच्छनि के अवतंस लसैं सिर, पच्छन अच्छ किरीट बनायो।
पल्लव लाल समेत छरी कर-पल्लव सौं मतिराम सुहायो।
गुंजनि के उर मंजुल हार, सुकुंजनि तें कढ़ि बाहर आयो।
आज कौ रूप लखैं नंदलाल कौ, आजुहि नैननि को फल पायो ॥१४॥

सुंदरि सरस सब अंगन सिंगार साजे,
सहज सुभाव निसि नेह कछु कै गई।
कीने 'मतिराम' बिहसौहैं से कपोल गोल,
बोलन अमोल इतनोई दुख दै गई।
मेरे ललचौंहैं मुख फेरि के लजौंहैं, लल-
चौंहैं चारु चखनि चितै कै सो चली गई।
निपट निकट व्है कैं कपट छुवाय अंग,
लाय की सी लपट लपेटि मनु लै गई ॥१५॥

दूसरे की बात सुनि परत न ऐसी जहाँ,
कोकिल कपोतन की धुनि सरसाति है।
छाई रहे जहाँ द्रुम बेलिन सौं मिलि,
'मतिराम' अलि-कुलन अँध्यारी अधिकाति है।
नखत से फूलि रहे फूलन के पुंज घन-
कुंजन में होति जहाँ दिन ही में राति है।
ता बन की बाट कोऊ संग न सहेली साथ,
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है ॥१६॥

गौने के द्यौस सिंगारन को 'मतिराम' सहेलिन को गनु आयौ।
कंचन के बिछुवा पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ।
पीतम स्रौन समीप सदा बजै यौं कहि कै पहिले पहिरायौ।
कामिनि कौल चलावनि कौं कर ऊँचो कियौ, पै चल्यौ न चलायौ ॥१७॥

जा दिन तें देखे 'मतिराम' तुम ता दिन तें
बढ़ी रहै मुसकानि वाके जियराई पर।
भावत न भोजन, बनावत न आभरन,
हेतु न करत सुधानिधि सियराई पर।

चलो उठि देखौ बड़े भाग हैं तिहारे अब,
राखो धरि राधिकै कन्हाई हियराई पर।
दूनी दुति छाई देह आई दुबराई पिय,
राई लौनु वारिए तिया की पियराई पर ॥१८॥

चरन धरैं न भूमि बिहरैं तहाँई, जहाँ
फूले-फूले फूलनि बिछायौ परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं,
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है।
कवि 'मतिराम' देखि वातायन बीच आयो,
आतप मलीन होत बदन मयंक है।
कैसें वह बाल लाल बाहिर बिजन आवै,
बिजन बयारि लागैं लचकत लंक है ॥१९॥

जा दिन तें छबि सौं मुसक्यात कहूँ निरखे नंदलाल बिलासी।
ता दिन तें मन ही मन में 'मतिराम' पियैं मुसक्यानि सुधा सी।
नैकु निमेष न लागत नैन, चकी चितवै तिय देव-तिया सी।
चंदमुखी न हलै न चलै निरबात निवास मैं दीप सिखा सी ॥२०॥

मानहु आयो है राज कछू, चढ़ि बैठेहो ऐसैं पलास के खोढ़े।
गूँज गरे, सिर मोर पखा 'मतिराम' हों गाय चरावत चोढ़े।
मोतिन को मेरो तोर्यौ हरा, गहि हाथन सौं रहे चूनरी पोढ़े।
ऐसें ही डोलत छैल भए तुम्हैं लाज न आवत कामरी ओढ़े ॥२१॥

सकल सहेलिन के पीछे-पीछे डोलति है,
मंद-मंद गौनु आजु हिय को हरत है।
सनमुख होत, 'मतिराम' सुख होत, जबै
पौन लागैं घूँघट को पट उघरत है।
कालिंदी के तट बंसीबट के निकट
नंदलाल कौ सँकोचन तें चाह्यो न परत है।
तनु तो तिया को बर भाँवरैं भरत
मनु, साँवरे बदन पर भाँवरैं भरत है ॥२२॥

दोऊ अनन्द सौं आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी कौं बूझत और तिया को अचानक नांउँ लियो रसिकाई।
आयो उनै मुँहु मैं हँसी, कोपि, प्रिया सुर-चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहाँसु गयो उड़ि हंस की नाँई।।२३।।

घुरवानि की धावनि मानो अनंग की तुंग धुजा फहरान लगी।
नभमंडल व्है छितिमंडल छ्वै छनदा की छटा छहरान लगी।
'मतिराम' समीर लगे लतिका, बिरही बनिता थहरान लगी।
परदेस मैं पीव सँदेस न पायौ, पयोद-घटा घहरान लगी।।२४।।

मोर-पखा 'मतिराम' किरीट, मनोहर मूरति सौं मनु लैगो।
कुंडल डोलनि, गोल कपोलनि, बोल सनेह के बीज-से बैगो।
लाल बिलोचनि-कौलनि सौं मुसकाइ इतै अरुझाइ चितैगो।
एक घरी घन से तन सौं अँखियान घनो घनसार सो दैगो।।२५।।

मोर-पखा 'मतिराम' किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि मैं छबि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं? मीठी लगै अँखियान लुनाई।।२६।।

जा छिन तें 'मतिराम' कहै मुसकात कहूँ निरख्यौ नंदलालहि।
ता छिन तें छिन-ही-छिन छीन बिथा बहु बाढ़ी वियोग की बालहि।
पोछति है कर सौं किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहि।
भोरी भई है मयंकमुखी, भुज भेटति है भरि अंक तमालहि।।२७।।

सूँघै न सुवास रहै राग-रंग तैं उदास,
भूलि गई सुरति सकल खान-पान की।
कवि 'मतिराम' इकटक अनमिष नैन,
बूझै न कहति बात समुझै न आन की।
थोरी सी हँसनि मैं ठगौरी तैंने डारी स्याम,
बौरी कीनी गोरी तैं किसोरी वृषभान की।
तब तैं बिहारी! वह भई है पखान की सी
जब मैं निहारी रुचि मोर के पखान की।।२८।।

—रसराज से

अक्षयवट बालक उदर ज्यों संसार समाय।
सकल जगत पानिप रह्यौ बूँदी में ठहराय ॥२९॥

बानी को बसन कैधौं बात के बिलास डोलै,
कैधौं मुखचंद चारु-चंद्रिका प्रकास है,
कवि 'मतिराम' कैधौं काम को सुजस कै,
पराग-पुंज प्रफुलित सुमन सुबास है।
नाक नथुनी के गजमोतिन की आभा कैधौं,
देहवंत प्रगटित हिए को हुलास है।
सीरे करिबे कौं पियनैन घनसार कैधौं,
बाल के बदन बिलसत मृदु हास है ॥३०॥

सुन्दरिबदनि राधे सोभा को सदन तेरो,
बदन बनायो चारिबदन बनाय कै।
ताकी रुचि लैन कौं उदित भयो रैनपति,
मूढ़मति राख्यो निज कर बगराय कै।
'मतिराम' कहै निसिचर चोर जानि याहि,
दीनी है सजाइ कमलासन रिसाय कै।
रातौं दिन फेरै अमरालय के आस-पास
मुख में कलंक मिसि कारिख लगाय कै ॥३१॥

सजल जलद जिमि झलकत मदजल,
छिति-तल हलत चलत मंद गति मैं।
कहै 'मतिराम' बल बिक्रम बिहद सुनि,
गरजनि परै दिगवारन बिपति मैं।
सत्ता के सपूत भाऊ तेरे दिए हलकनि,
बरनी उँचाई कविराजन की मति मैं।
मधुकरकुल करनीनि के कपोलनि तैं,
उड़ि-उड़ि पियत अमिय उड़पति मैं ॥३२॥

जूथपति पैठ्यो पानी पोषत प्रबल मद,
कलभ करेनुकनि लीने संग सुख ते।
ग्राह गह्यौ गाढ़े बैर पीछले के बाढ़े भयो,
बलहीन बिकल करन दीह दुख ते।

कहैं 'मतिराम' सुमिरत ही समीप लखे,
ऐसी करतूति भई साहिब सुरुख ते।
दोऊ बातें छूटीं गजराज की बराबर ही,
पाँव ग्राह-मुख ते पुकार निज मुख ते।।३३।।

बारि के बिहार बरबारनि के बोरिबे कौं
बारिचर बिरची इलाज जय काज की।
कहैं 'मतिराम' बलवंत जल-जंतु जानि,
दूर भई हिम्मत कुरद सिरताज की।
असरन-सरन के चरन-सरन तके,
त्यौं ही दीनबन्धु निज नाम की सुलाज की।
धाए रति मान अति आतुर गुपाल, मिली
बीच ब्रजराज कौं गराज गजराज की।।३४।।

महाबीर सत्रुसाल-नंद राव भावसिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय से।
कहै मतिराम तेरे तेज पुंज लिए गुन,
मारुत औ मारतंड मंडल विलोय से।
उड़त नवत टूटि फूटि मिटि फाटि जात,
बिकल सुखात बैरी दुखन समोय से।
तूल से तिनूका से तरोवर से तोयद से,
तारा से तिमिर से तमीपति से तोय से।।३५।।

निसि दिन श्रौननि पियूष सों पियत रहैं,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुरग्राम को।
तरनि-तनूजा-तीर बन कुंज बीथिन मैं
जहाँ-तहाँ देखति हैं रूप छबि धाम को।
कवि मतिराम होत हाँतो न हिए ते नैंक,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधो तुम कहत वियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो वियोग होय स्याम को।।३६।।

—ललितललाम से

ग्रीष्म हूँ रितु में भरी बुहूँ कूल पैराउ।
खारे जल की बहति है नदी तिहारे गाँउ ।।३७।।

पानिप पूर पयोधि में रूप जाल बगराइ।
नैन मीन ए नागरनि बरबट बाँधत आइ ।।३८।।

दिपै देह दीपति, गयौ दीप बयारि बुझाइ।
अंचल ओट किए तऊ चली नबेली जाइ ।।३९।।

होत दसगुनो अंकु है दिएँ एक ज्यों बिंदु।
दिएँ दिठौना यों बढ़ी आनन आभा इंदु ।।४०।।

सुधा मधुर तेरो अधर, सुन्दर सुमन सुगंध।
पीव जीव कौ बंध यह बंधजीव को बंध ।।४१।।

बार बार वा गेह सों बारि बारि लै जाति।
काहे तें बिन बात ही बाती आजु बुझाति ।।४२।।

नैन जोरि मुख मोरि हँसि नैंसुक नेह जनाइ।
आगि लैन आई, हियें मेरे गई लगाइ ।।४३।।

पिय-आगम सुनि बाल तन बाढ़े हरख बिलास।
प्रथम बूँद बारिद उठैं ज्यों बसुमती सुबास ।।४४।।

नर नारी सब जपत हैं घर-घर हरि को नाउँ।
मेरे मुख धोखें कढ़त, परत गाज ब्रज गाउँ ।।४५।।

भौंह बीच तिल तनक से सोहत सुखमा संचि।
दियौ डिठौना रीझि सों, मानहुँ बिरचि बिरंचि ।।४६।।

बासन को पानिप घट्यो तन पानिप की आस।
मिटी पथिक की वदन तें, लगी दृगनि में प्यास ।।४७।।

नंदलाल के रूप पर रीझि परी एक बारि।
अधमूँदी अँखियनि दई मूँदी प्रीति उघारि ।।४८।।

बिन देखे दुख के चलें, देखें सुख के जाहि।
कहो लाल उन दृगनि के अँसुवा क्यों ठहराहि ।।४९।।

राधिक के दृग खेल में मूँदे नंदकुमार।
करनि लगी दृग-कोर सो भई छेदि उर पार ।।५०।।

सेत बसन में यों लगै उघरत गोरे गात।
उड़ै आगि ऊपर लगी ज्यों विभूति अवदात॥५१॥

पिय मिलाप के हेत तिय सजे उछाह सिंगार।
दृग कमलनि के द्वार में बाँधे वंदनवार॥५२॥

बरनत साँच असंग कै, तुमकों बेद गुपाल।
हिए हमारे बसत हो, पीर न पावत लाल॥५३॥

हँसत बाल के बदन में यों छबि कछू अतूल।
फूली चंपक बेलि तें झरत चमेली फूल॥५४॥

भयो सिंधु ते बिधु सुकवि बरनत सुमति बिचार।
उपज्यौ तो मुख इंदु तें प्रेम-पयोधि अपार॥५५॥

मन यद्यपि अनुरूप है, तऊ न छूटति संक।
टूटि परै जिन भार तें निपट पातरी लंक॥५६॥

सरद चंद की चाँदिनी को कहिए प्रतिकूल।
सरद चंद की चाँदिनी कोक हिए प्रतिकूल॥५७॥

तरुनि अरुनि एड़ीनि के किरन समूह उदोति।
बेनी मंडन मुकत के पुंज गुंज दुति होति॥५८॥

अँसुवनि के परवाह मैं अति बूढ़िबें डराति।
कहा करै नैनानि कों, नींद नहीं नियराति॥५९॥

—मतिराम सतसई से

भूषण

(सं० १६७०-१७७२)

भूषण रीतिकाल के एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने उस समय की सामाजिक नैतिक दशा के प्रति जागरूकता दिखाते हुए विलासिता एवं स्वार्थपूर्ण राजप्रशंसा का स्पष्ट विरोध किया है। जिस प्रकार तुलसी ने 'प्राकृतजन गुनगान' से दूषित वाणी को 'रामचरित सर' में स्नान करा कर पवित्र करने का संकल्प किया था, कुछ वैसा ही संकल्प भूषण ने भी किया—

भूषण जे कलि के कविराजन राजन के गुनगाइ नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर न्हाइ पवित्र भई पुनि बानी ॥

यद्यपि उनके अनेक आश्रयदाता रहे किन्तु 'साहू' छत्रसाल और शिवाजी इन तीन के प्रति ही उनकी गाढ़ आस्था रही। शिवाजी में उन्होंने अपनी नैतिक तथा राजनैतिक चेतना का आदर्श प्रत्यक्ष रूप में पाया और उनके चरित को ही प्रधानतया अपने काव्य का विषय बनाया। एक प्रकार से उन्होंने रीतिकालीन काव्य परिपाटी और व्यक्तिगत आदर्श के बीच समन्वय स्थापित करना चाहा। 'शिवराजभूषण' उनकी इसी मनोवृत्ति का परिणाम है। वे एक सफल विद्रोही कवि की तरह परम्परा के निर्जीव अंशों का सम्पूर्ण परित्याग नहीं कर सके। परम्परा से समझौता करने का फल यह हुआ कि अलंकारों के कृत्रिम विधान में फँस कर उनकी कविता अपनी स्वाभाविक ओजस्विता को अंशतः खो बैठी। तथापि उनके द्वारा रचित श्रेष्ठ मुक्तकों की संख्या उनकी श्रेष्ठ कवित्व शक्ति

को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। छत्रसाल-दशक और शिवा-बावनी के मुक्तकों की प्रकृति मूलतः शिवराजभूषण के उदाहरणों से भिन्न नहीं है पर अलंकार ग्रंथ के बंधन से मुक्त होने के कारण उनमें रस-प्रवाह अधिक तीव्र प्रतीत होता है। वीरता के चारों रूपों में भूषण को युद्धवीर तथा दानवीर रूप विशेष प्रिय थे। यों शिवाजी को उन्होंने धर्मवीर के रूप में भी चित्रित किया है। शिवाजी की सेना का प्रयाण, औरंगजेब के पक्ष में विशेषतः स्त्रियों की दुर्दशा, शत्रुओं पर शिवाजी के शौर्य का आतंक और तज्जनित भय तथा हिन्दूधर्म की विजय यही उनकी कविता के मुख्य विषय रहे। वीर के साथ रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रस का भी चित्रण भूषण के काव्य में मिलता है। अपने समय की लगभग सभी प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख उन्होंने किया है। भारतवर्ष का भौगोलिक ज्ञान भी उनको पर्याप्त था। अपने जीवन में वे स्वयं भी एक योद्धा सिपाही रहे और उन्होंने उत्तर-दक्षिण की कई बार यात्राएँ कीं। औरंगजेब के दरबार में वे, अपने भाई चिंतामणि के आग्रह पर गये किन्तु वहाँ उनकी स्पष्टवादिता ने उन्हें नहीं रहने दिया। शिवाजी से उन्हें विपुल सम्पत्ति और हार्दिक सम्मान मिला। प्रसिद्ध है कि 'इन्द्र जिमि जंभ पर' वाले एक छंद के लिए इन्हें बावन गाँव, बावन लाख मुद्राएँ और बावन हाथी आदि क्या कुछ नहीं मिला। यह सब केवल कल्पना प्रतीत होने लगता है जब भगीरथप्रसाद दीक्षित जैसे व्यक्ति अपने भूषण विमर्श में भूषण और शिवाजी की समकालीनता पर ही संदेह उपस्थित कर देते हैं। दीक्षितजी की स्थापना प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती क्योंकि मराठी के 'नवनीत' नामक पत्र में संत तुकाराम का शिवाजी को लिखित एक पत्र प्रकाशिक हुआ, जिसमें स्पष्टतया शिवाजी के दरबारी व्यक्तियों में 'भूषण पंडित राय विद्यावन' का उल्लेख किया गया है। तथापि भूषण की वास्तविक जीवनी अभी गंभीर शोध का विषय है इसमें सन्देह नहीं।

रीतिकालीन आचार्य की दृष्टि से भूषण का महत्त्व नाममात्र को ही है क्योंकि उनके तथाकथित 'भूषणउल्लास' और 'दूषणउल्लास' तो प्राप्त हैं नहीं, रीतिग्रंथ के रूप में केवल शिवराजभूषण रह जाता है जिसमें किसी प्रकार का मौलिक अलंकार निरूपण नहीं मिलता। पाँच शब्दालंकारों समेत केवल १०० अर्थालंकारों का निरूपण हुआ है जिनमें अनेक के लक्षण, उदाहरण अथवा दोनों दोषपूर्ण एवं अस्पष्ट हैं। कुछ के लक्षण उनके भाई मतिराम की कृति 'ललितललाम' के लक्षणों की अनुकृति जैसे प्रतीत होते हैं।

'सामान्य विशेष' तथा 'भाविक छवि' नाम के जो दो नये अलंकार शिवराज-भूषण में मिलते हैं वे भी विचार करने पर महत्त्वहीन सिद्ध होते हैं। वस्तुतः भूषण

ने अलंकार ग्रन्थ की रचना केवल परिपाटी का अनुसरण करने के लिए की थी और उसके पीछे कोई मौलिक प्रेरणा नहीं थी। इसीलिए आचार्यत्व के क्षेत्र में मौलिक कृतित्व भी नहीं मिलता।

भाषा की दृष्टि से भूषण का काव्य महत्त्वपूर्ण है। जिस ब्रजभाषा के सहज गुण कोमलता तथा मधुरता ही रहे हैं उसको उन्होंने सफलता के साथ ओजस्विता और पौरुष प्रदान किया। अवधी, बुंदेली और फारसी शब्दावली का मिश्रण स्थान स्थान पर मिलता है। कहीं कहीं पूरे का पूरा छंद खड़ी बोली में लिखा हुआ लगता है। कृत्रिम रूप से अपभ्रंश का आभास देने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है। कदाचित उस काल के वीर रस के कवियों में ऐसी परिपाटी प्रचलित रही होगी क्योंकि ब्रजभाषा की वीररस की कविता बहुत कुछ अपभ्रंश की अनुवर्तिनी है।

उनके पूर्वोक्त तीन ग्रंथों 'छत्रशाल दशक', 'शिवाबावनी' और 'शिवराजभूषण' के अतिरिक्त साठ-पैंसठ स्फुट छंद भी मिलते हैं जिनमें आठ-दस शृंगार विषयक भी हैं। अपने शृंगार के छंदों में भी भूषण ने युद्ध का रूपक अधिक ग्रहण किया है जो उनकी मूल प्रकृति का परिचायक है।

इधर भूषण विषयक 'नयी खोज' का दावा करते हुए किसी 'कवि भूषण' उपाधिधारी मुरलीधर नामक कवि के 'अलंकार प्रकाश' को मात्र उल्लासबद्ध होने के कारण भूषण की रचना (भूषणउल्लास) बताया गया है।[1] मुरलीधर द्वारा दिये गये आत्मचरित सम्बन्धी उल्लेख से भूषण की जीवनी का कुछ मुख्य बातों की संगति न मिलने से उक्त मान्यता संदिग्ध प्रतीत होती है। भूषण का वास्तविक नाम अब भी अज्ञात ही है। 'कवि भूषण' जिसका संक्षिप्त रूप 'भूषण' है, वास्तव में कवि की उपाधि है जो उसे चित्रकूट-नरेश सोलंकी 'हृदयरामसुत रुद्र' ने प्रदान की थी।[2] 'शिवराजभूषण' के आरम्भ में भूषण ने अपने विषय में जो कुछ लिखा है अब तक वही उनके विषय में सबसे अधिक प्रामाणिक सिद्ध होता है।

१—दृष्टव्य, अमृतपत्रिका, रविवार विशेषांक, २७ नवम्बर १९५५ में प्रकाशि लेख 'महाकवि भूषण के सम्बन्ध में नयी खोज'।

२—कुल सुलंक चितकूट पति साहस सील समुद्र।
कवि भूषन पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र ॥२८॥

—शिवराज भूषण

संकलन

बिकट अपार भव पंथ के चले को स्रम
हरन करन बिजना से ब्रह्म ध्याइये।
यहि लोक परलोक सुफल करन कोक
नद से चरन हिए आनि कै जुड़ाइए।
अलि कुल कलित कपोल, ध्यान ललति,
अनंद रूप सरित मैं भूषन अन्हाइए।
पाप तरु भंजन बिघन गढ़ गंजन
जगत मनरंजन द्विरदमुख गाइए ।।१।।

जै जयंति जै आदि सकति जै कालि कपर्दिनि।
जै मधुकैटभ छलनि देवि जै महिष बिमर्दिनि।
जै चमुंड जै चंड मुंड भंडासुर खंडिनि।
जै सुरक्त जै रक्तबीज बिड्डाल बिहंडिनि।
जै जै निसुंभ सुंभद्दलनि भनि भूषन जै जै भननि।
सरजा समत्थ सिवराज कहँ देहि बिजै जै जग-जननि ।।२।।

पावक तुल्य अमीतन को भयो, मीतन को भयो धाम सुधा को।
आनँद भो गहिरो समुदै कुमुदावलि तारन को बहुधा को।
भूतल माहिं बली सिवराज भो भूषन भाखत शत्रु मुधा को।
बंदन तेज त्यों चंदन कीरति सोंधे सिंगार बधू बसुधा को ।।३।।

चंदन मैं नाग, मद भर्यो इंद्र नाग, विष
भरो सेसनाग कहै उपमा अबस को।
भोर ठहरात न कपूर बहरात, मेघ
सरद उड़ात बात लागे दिसि दस को।
शंभु नील ग्रीव, भौंर पुंडरीक ही बसत
सरजा सिवा जी सन भूषन सरस को।
छीरधि मैं पंक, कलानिधि मैं कलंक, याते
रूप एक टंक ए लहैं न तव जस को ।।४।।

इंद्र जिम जंभ पर बाड़व सुअंभ पर
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है।
पौन बारिबाह पर संभु रतिनाह पर
ज्यों सहसबाह पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृगझुंड पर
भूषन बितुंड प र जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है ।।५।।

साहि तनै सिवराज भूषन सुजस तव
बिगिर कलंक चंद उर आनियतु है।
पंचानन एक ही बदन गनि तोहि गजा-
नन गजबदन बिना बखानियतु है।
एक सीस ही सहससीस कला करिबे को
दुहूँ दृग सों सहसदृग मानियतु है।
दुहूँ कर सों सहसकर मानियतु तोहि
दुहूँ बाहु सों सहसबाहु जानियतु है ।।६।।

तुम सिवराज ब्रजराज अवतार आजु
तुमही जगत काज पोषत भरत हौ।
तुम्हैं छोड़ि यातै काहि बिनती सुनाऊँ मैं
तुम्हारे गुन गाऊँ तुम ढीले क्यों परत हौ।
भूषन भनत वहि कुल मैं नयो गुनाह
नाहक समुझि यह चित्त मैं धरत हौ।
और बाँभनन देखि करत सुदामा सुधि
मोहिं देखि काहे सुधि भृगु की करत हौ।।७।।

चमकती चपला न, फेरत फिरंगै भट
इंद्र को न चाप रूप बैरख समाज को।
धाए धुरवा न, छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न बाजिबो है दुंदुभि दराज को।

भौंसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहें,
पिया भजौ, देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न, गज घटनि सनाह साजे
भूषण भनत आयो सेन सिवराज को।।८।।

दुरजनदार भजि भजि बेसम्हार चढ़ीं
उत्तर पहार डरि सिवजी नरिंद ते।
भूषन भनत बिन भूषन बसन, साधे
भूखन पियासन हैं नाहन को निंदते।
बालक अयाने बाट बीच ही बिलाने कुम्हि
लाने मुख कोमल अमल अरबिंद ते।
दृगजल कज्जल कलित बढ़्यो कढ़्यो मानो
दूजा सोत तरनितूनूजा को कलिंद ते।।९।।

बासव से बिसरत बिक्रम की कहा चली,
बिक्रम लखत बीर बखत बुलंद के।
जागे तेज बृंद सिवा जी नरिंद मसनंद
माल मकरंद कुलचंद साहिनंद के।
भूषन भनत देस देस बैरि नारिन में
होत अचरज घर घर दुख दंद के।
कनकलतानि इंदु, इंदु माहिं अरबिंद,
झरैं अरबिंदन तैं बुंद मकरंद के।।१०।।

उह्लस अपार तव दुंदुभी धुकार संग
लंघे पारावार बाल बृन्द रिपुगन के।
तेरे चतुरंग के तुरंगन के अंग रज
साथ ही उड़ात रजपुंज हैं परन के।
दच्छिन के नाथ सिवराज! तेरे हाथ चढ़ैं
धनुष के साथ गढ़ कोट दुरजन के।
भूषन असीसैं, तोहिं करत कसीसैं पुनि
बानन के साथ छूटैं प्रान तुरकन के।।११।।

मंगन मनोरथ के प्रथमहिं दाता तोहिं
कामधेनु कामतरु सो गनाइयतु है।
याते तेरे गुन सब गाय को सकत कबि,
बुद्धि अनुसार कछु तऊ गाइयतु है।
भूषन भनत साहि तनै सिवराज निज
बखत बढ़ाय करि तोहि ध्याइयतु है।
दीनता कोडारि औ अधीनता बिडारि दीह
दारिद को मारि तेरे द्वार आइयतु है।।१२।

गुनन सों इनहूँ को बाँधि लाइयतु पुनि
गुनन सों उनहूँ को बाँधि लाइयतु है।
पाय गहि इनहूँ को रोज ध्याइयतु अरु
पाय गहि उनहूँ को रोज ध्याइयतु है।
भूषन भनत महराज सिवराज रस
रोस तो हिये मैं एक भाँति पाइयतु है।
दोहाई कहे ते कबि लोग ज्याइयतु अरु
दोहाई कहे ते अरि लोग ज्याइयतु है।।१३।।

सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके
भू पर भरत नाम भाई नीति चारु है।
भूषन भनत कुल सूर कुल भूषन हैं
दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है।
अरि लंक तोर जोर जाके संग बान रहैं
सिंधुर हैं बाँधे जाके दल को न पारु है।
ते गहि कै भेंटे जौन राकस मरद जाने
सरजा सिवाजी रामही को अवतारु है।।१४।।

पीरी पीरी हुन्न तुम देत हौ मँगाय हमैं
सुबरन हम सों परखि करि लेत हौ।
एक पलही मैं लाख रूखन सों लेत लोग
तुम राजा ह्वै कै लाख दीबे को सचेत हौ।

भूषन भनत महराज सिवराज बड़े
दानी दुनी ऊपर कहाए केहि हेत हौ ?
रीझि हँसि हाथी हमें सब कोऊ देतकहा
रीझि हँसि हाथी एक तुमहिये देत हौ ॥१५॥

तू तो रातो दिन जग जागत रहत वेऊ
जागत रहत रातौ दिन बनरत हैं।
भूषन भनत तू बिराजै रज भरो वेऊ
रज भरे देहिन दरी मैं बिचरत हैं।
तू तो सूर गन को बिदारि बिहरत सूर
मंडलै बिदारि वेऊ सुरलोक रत हैं।
काहे ते सिवाजी गाजी तेरोई सुजसु होत
तोसों अरिबर सरिबरि सी करत हैं ॥१६॥

श्री सरजा सिव तो जस सेत सों होत हैं बैरिन के मुँह कारे।
भूषन तेरे अरुन्न प्रताप सफेद लखे कुनबा नृप सारे।
साहि तनै तब कोप कृसानु ते बैरि गरे सब पानिप वारे।
एक अचंभव होत बड़ो तिन ओंठ गहे अरि जात न जारे ॥१७॥

ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक में
जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं।
सुनत नगारन अगार तजि अरिन की
दारगन भाजत न बार परखत हैं।
छूटे बार बार छूटे बारन ते लाल देखि
भूषन सुकवि बरनत हरखत हैं।
क्यों न उतपात होहिं बैरिन के झुंडन में
कारे घन उमड़ि अँगारे बरखत हैं ॥१८॥

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम युधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के संग सोहानी।
भूषन यों कलि के कबिराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥१९॥

यों सिर पै छहरावत छार हैं जाते उठैं असमान बगूरे।
भूषन भूधरऊ धरकैं जिनके धुनि धक्कन यों बल रूरे।
ते सरजा सिवराज दिए कविराजन को गजराज गरूरे।
सुंडन सों पहिले जिन सोखि कै फेरि महामद सों नद पूरे ॥२०॥

इंद्र निज हेरत फिरत गजइंद्र अरु
इंद्र को अनुज हेरै दुगधनदीस को।
भूषन भनत सुरसरिता को हंस हेरै
बिधि हेरै हंस को चकोर रजनीस को।
साहि तनै सिवराज करनी करी है तैं
जु होत है अचंभो देव कोटियौ तैंतीस को।
पावत न हेरे तेरे जस में हिराने निज
गिरि को गिरीस हेरैं गिरिजा गिरीस को ॥२१॥

साहि तनै सिवराज ऐसे देत गजराज
जिन्हें पाय होत कविराज बे फिकिर हैं।
झूलत झलमलात झूलै जरबाफन की
जकरे जंजीर जोर करत किरिरि हैं।
भूषन भँवर भननात घननात घंट
पग झननात मनो घन रहे घिरि हैं।
जिनकी गरज सुने दिग्गज बे आब होत
मद ही के आब गड़काब होत गिरि हैं ॥२२॥

आजु यहि समै महाराज सिवराज तुही
जगदेव जनक जजाति अंबरीक सो।
भूषन भनत तेरे दान जल जलधि मैं
गुनिन को दारिद गयो बहि खरीक सो।
चंद कर किंजलक चाँदनी पराग उड़
बृन्द मकरंद बुंद पुंज केसरीक सो।
कुंद सम कयलास नाकगंग नाल, तेरे
जस पुंडरीक को अकास चंचरीक सो ॥२३॥

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि
सरजना सिवाजी जंग जीतन चलत हैं।
भूषन भनत नाद बिहद नगारन के
नदी नद मद गब्बरन के रलत हैं।
ऐल फैल खैल मैल खलक में गैल गैल
गजन की ठेल पेल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत, जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।।२४।।

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के
नाहीं ठहराने राव राने देस देस के।
नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के
भौन को भजाने अलि छूटे लट केश के।
दल के वरारे हुते कमठ करारे फूटे
केरा कैसे पात बिहराने फन सेस के।।२५।।

बाजि गजराज सिवराज सैन साजतहि
दिली दिलगीर दसा दीरघ दुखन की।
तनियाँ न तिलक सुथनियाँ पगनियाँ न
घामै घुमराती छाँड़ि सेजियाँ सुखन की।
भूषन भनत पतिबाँह बँहियाँ न तेऊ
छँहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन की।
बालियाँ बिथुरि जिमि आलियाँ नलिन पर
लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की।।२६।।

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहन वारी ऊँचे
घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंद मूल भोग करें कंद मूल भोग करें,
तीनि बेर खाती सो तो तीनि बेर खाती हैं।

भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग
बिजन डुलातीं तेब बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं ॥२७॥

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग
ताहि खरो कियो छै हजारिन के नियरे।
जानि गैर मिसिल गुसीले गुसा धरि उर
कीन्ही ना सलाम न बचन बोले सियरे।
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे।
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भये
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे ॥२८॥

भुज भुजगेस की ह्वै संगिनी भुजंगिनी सी
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन बीच धसि जाति मीन
पैरि पार जात परबाह ज्यों जलन के।
रैया राय चंपति को छत्रसाल महाराज
भूषन सकत को बखानियों बलन कें।
पच्छी पर छीने ऐसे परे पर छीने बीर
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के ॥२९॥

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै भानु कैसी
फारे तम तोम से गयंदन के जाल को।
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी
रुद्रहि रिझावै दै दै मुंडन कें माल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करबाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥३०॥

नैन जुग नैनन सों प्रथमै लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरैं नाहिं टेरे हैं।
अड़ि-अड़ि पिलि-पिलि लड़े हैं उरोज बीर,
देखो लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं।
पिय को चखायो स्वाद कैसो रति-संगर को,
भये अंग अंगनि ते केते मुठभेरे हैं।
पाछे परे बारन को बाँधि कहै आलिन सों,
'भूषन' सुभट ये ही पाछे परे मेरे हैं ॥३१॥

मेचक कवच साजि बाहन बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाजि ,रहे दीरघ बदन के।
'भूषन' भनत समसेर सोई दामिनी है,
हेतु नर कामिनी के मान के कदन के।
पैदल बलाका धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर, सूने ही सदन के।
ना करु निरादर पिया सों मिलि सादर, ये
आए वीर बादर बहादर मदन के ॥३२॥

सुनै हूजै बेसुख, सुने बिन रह्यो न जाय,
याही ते बिकल सी बिताती दिनराती हैं।
भूषन सुकवि देखि बावरो विचार काज,
भूलिबे के मिस सास नंद अनखाती हैं।
सोई गति जानै जाके भिदी होय कानै स
जेती कढ़ै तानै तेती छेदि छेदि जाती हैं।
हूक पाँसुरी मैं, क्यों भरौं न आँसु री मैं, थोरे छेद
बासुरी मैं, घने छेद किए छाती हैं ॥३३॥

कारो जल जमुना को काल सो लगत आली,
छाइ रह्यो मानों यह विष काली नाग को।
बैरिन भई है कारी कोयल निगोड़ी यह,
तैसो ही भँवर कारो बासी बन बाग को।

भूषन भनत कारे कान्ह को वियोग हिये,
सबै दुखदायी जो करैया अनुराग को।
कारो घन घेरि घेरि मारयो अब चाहत हैं,
एते पर करति भरोसो कारे काग को ॥३४॥

देव

(जन्म सं० १७३०—अवसान सं० १८२४ के लगभग)

देव निश्चित रूप से रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। भाव-सौन्दर्य तथा रचना-कौशल दोनों को समन्वित रूप से दृष्टि में रखते हुए उस युग में उनका स्थान अन्यतम सिद्ध होता है। रीतिकालीन कवियों में एकमात्र वही ऐसे कवि हैं जिनके साहित्यिक गौरव को सूर-तुलसी के समकक्ष प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गयी। यही नहीं देव के कुछ भावुक भक्तों ने 'सूर-सूर तुलसी-ससी' वाली उक्ति को ध्यान में रख कर उनकी तुलना आकाश से करके उन्हें सूर-तुलसी से भी अधिक उत्कृष्ट घोषित किया। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित छंद रोचक और दृष्टव्य है—

> सूर सूर तुलसी सुधाकर नछत्र केसौ,
> सेस कविराजन को जुगनू गनाय कै।
> कोऊ परिपूरन भगति दिखरायो, अब—
> काव्य-रीति मोसन सुनहु चित लाइकै।
> देव नभ मंडल समान हैं कवीन मध्य,
> जामैं भानु सितभानु तारागन आयकै।
> उदै होत अथवत चारो ओर भ्रमत पै,
> जाको ओर छोर नाहिं परत लखाइ कै॥

इस अतिशयतापूर्ण दृष्टिकोण से 'मिश्रबंधु' इतना प्रभावित हुए कि देव का स्थान-निर्धारण उनके लिए एक समस्या बन गयी और वे सूर, तुलसी और देव इन तीनों में किसी को 'न्यूनाधिक' कहने में असमर्थ हो गये। 'हिन्दी नवरत्न'

में उन्होंने लिखा है कि 'सिवा इन दोनों महात्माओं के और किसी तृतीय कवि की समानता देव जी से कदापि नहीं की जा सकती । शेष कवियों से और देव जी से बहुत बड़ा अन्तर है । (पृ० २१६) जिन मिश्रबंधुओं की दृष्टि से विद्यापति, मीराँ और जायसी जैसे कवि नव-रत्नों का निश्चय करते समय उपेक्षित हो गये। उनके मत का मूल्य स्वतः स्पष्ट है किन्तु इस सबसे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि देव के काव्य में ऐसे कुछ तत्व अवश्य हैं जो उन्हें रीतिकाल के अन्य कवियों से पृथक् कर देते हैं। देव के विशेषज्ञ डॉ० नगेन्द्र ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है और 'अनुभूति की सचाई', 'आत्मद्रव' 'आत्मनिलय' 'भावगांभीर्य', 'रसार्द्रता', 'गीति-तत्व' तथा 'शैलीगत कान्ति ' एवं 'औज्ज्वल्य' आदि को उनकी ऐसी विशेषताएँ स्वीकार किया है जिनके कारण वे पृथक् प्रतीत होते हैं। वास्तव में देव के काव्य में रीति-परम्परा की सारी सीमाएँ होते हुए भी एक ऐसी अन्तर्दृष्टि मिलती है जो जीवन को समग्र रूप में देखती हुई भावनाओं को उदात्त धरातल पर स्थापित करती है। उनकी कल्पना विशद, सुकुमार, नयी रूपयोजनाओं से युक्त और कहीं कहीं विराटता का स्पर्श करती हुई सी प्रतीत होती है। देव के हृदय में अपने युग की परिस्थितियों से सूक्ष्म असंतोष की भावना विकसित होती रही जो वैभव-विलास की तीव्र प्रतिक्रिया से संयुक्त होकर विराग के रूप में व्यक्त हुई। व्यक्ति-चेतना और आत्मसम्मान भी उनमें औरों की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है। सारा जीवन अनस्थिरता और भ्रमणशीलता में बिता कर देव ने कुछ अनुभव के ऐसे कण संचित किये जिनसे उनका संवेदनशील व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। अनुभूति की ऐसी गहराई और अन्तर्दृष्टि रीतिकाल के किसी भी दूसरे कवि में दुर्लभ है। उनका सौन्दर्य-बोध भी औरों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत था। देव और बिहारी की कला का तुलनात्मक अध्ययन आलोचकों ने तरह-तरह से किया किन्तु बिहारी का सूक्ष्म भाव-निरूपण, रूप-चित्रण उक्ति-वैचित्र्य शब्द-शिल्प तथा चमत्कारिक वर्णन सभी कुछ देव की उक्त विशेषताओं के समक्ष तेज-हीन हो उठता है। आचार्य शुक्ल ने देव के काव्य में शब्दाडंबर, अतिअनुप्रास-प्रियता अर्थ को आच्छन्न कर लेने वाली कृत्रिम अक्षर-मैत्री आदि अनेक दोष दिखाये हैं जो बहुत कुछ यथार्थ हैं किन्तु उन्होंने उनकी मौलिक काव्य-शक्ति, प्रगल्भता तथा प्रतिभासम्पन्नता की प्रशंसा भी की है। शुक्लजी ने आचार्य के रूप में देव का कोई विशेष स्थान नहीं माना है जबकि डॉ० भगीरथ मिश्र ने उस दिशा में भी देव की तर्क-संगत व्यवस्थित एवं स्पष्ट वस्तु-निरूपण-प्रणाली, मनोवैज्ञानिक रसविवेचन, नवीन क्रम से युक्त विषय-विभाजन तथा कुछ अंशों में चिंतन की मौलिकता की

सराहना की है। देव उन आचार्यों में गिने जाते हैं जिन्होंने काव्य के सभी अंगों पर विचार किया है। भावविलास, भवानीविलास, सुजानविनोद, कुशलविलास, रसविलास, सुखसागरतरंग, काव्यरसायन और शब्दरसायन इत्यादि उनके अनेक रीतिग्रंथ उपलब्ध होते हैं। वे रसवादी थे। उनके रस-विवेचन पर केशव की 'रसिकप्रिया' का प्रभाव परिलक्षित होता है। संस्कृत के मौलिक ग्रंथों का अध्ययन करके देव ने अपनी मान्यताओं को पुष्ट किया है और कहीं-कहीं स्वतन्त्र-पथ का अनुसरण भी किया है। रस-व्यवस्था और नायिका-भेद में विशेष रूप से। नायिकाओं का वर्गीकरण उन्होंने देश-जाति आदि कई नवीन आधारों पर किया है। तो भी उनका वास्तविक महत्व आचार्य के रूप में न होकर कवि के रूप में ही माना जाता है। उदाहरण के छंदों में जितने अधिक उत्कृष्ट छंद उनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं उतने अन्य कवियों में नहीं मिलते। अपने कुछ विशिष्ट उत्कृष्ट छंदों को वे प्रायः अनेक ग्रंथों में समाविष्ट कर देते थे। उनके ग्रंथों की अधिक संख्या का एक यह भी कारण बताया जाता है।

देव कवि का जन्म मैनपुरी ज़िले में कुसमरा नामक स्थान पर एक ब्राह्मण घर में हुआ था जहाँ उनके वंश के लोग अब भी रहते हैं जिनके पास देव के हस्त-लिखित ग्रंथों के कुछ अंश उपलब्ध होते हैं। अपने कुल का परिचय देव ने निम्न-लिखित दोहे में दिया है

कास्यप गोत्र द्विवेदि कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में भये देव रमनीय॥

किंवदन्तियों के अनुसार उन्होंने काशी में जाकर शिक्षा ग्रहण की। इटावा में रह कर १६ वर्ष की आयु में उन्होंने भावविलास (सं० १७४६) की रचना की और वहीं अष्टयाम भी रचा। औरंगजेब के पुत्र साहित्य-रसिक आजमशाह ने इन ग्रंथों की सराहना की किन्तु उनके राजाश्रय में देव अधिक रह न सके। देव के दूसरे आश्रयदाता थे भवानीदत्त वैश्य जिनके नाम पर 'भवानीविलास' की रचना हुई। उनके यहाँ भी वे स्थित न हो सके। कानपुर के समीप फफूँद नामक स्थान के एक राजा कुशल सिंह के दरबार में पहुँचे और वहीं रहकर 'कुशलविलास' लिखा। सर्वाधिक गुणग्राहकता देव को अपने अन्य आश्रयदाता 'भोगीलाल' में मिली जिनकी उन्होंने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है—

भूलि गयो भोज बल विक्रम बिसरि गये
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं

....

भोगी लाल भप लाख पाखर लेवैया जिन
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं ।

भोगीलाल के यहाँ से भी किसी कारण देव का सम्बन्ध विच्छेद हो गया। बाद में इटावा के समीप के एक राजा उद्योतसिंह के लिए 'प्रेमचंद्रिका' फिर दिल्ली के किसी सुजान सिंह के नाम पर 'सुजानविनोद' का निर्माण किया। एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे आश्रयदाता की खोज ने देव को खिन्न और विरक्त बना दिया। 'नरिन्द' का ध्यान छोड़ कर वे 'गुविंद' की ओर उन्मुख हुए और 'विषय के संग' जाने वाले मन की भर्त्सना करते हुए उसे 'राधावरविरद के वारिधि' में डुबोने की कल्पना करने लगे। 'शब्दरसायन', 'वैराग्य शतक', 'देवमायाप्रपंच' (नाटक) आदि की रचना उन्होंने स्वतन्त्र रूप में की और उन्हें किसी को समर्पित नहीं किया।

महमदी राज्य में पिहानी के अकबर अली खाँ उनके अन्तिम आश्रयदाता थे जो काव्य में विशेष रुचि रखते थे। अति वृद्धावस्था में कदाचित आर्थिक कष्ट के कारण ही देव राजाश्रय खोजते उन तक पहुँचे होंगे।

अपने तारुण्यकाल में संभवतः आश्रयहीनता की दशा में उन्होंने सारे देश का भ्रमण कर डाला जो उनके विचरणशील स्वभाव का भी परिचय देता है। जाति-विलास और रसविलास में उन्होंने विविध देश और जाति की स्त्रियों का सूक्ष्म एवं सजीव रूप में वर्णन किया है। यह देव की एक विशेषता मानी जाती है। इससे उनकी विलासी प्रकृति व्यक्त होती है। कवि की दृष्टि इस प्रकार के स्त्री-चित्रण में प्रायः बाह्य विशेषताओं तक ही सीमित रही है। किसी गंभीर सत्य अथवा आन्तरिक सामंजस्य को खोजने का प्रयास उसने नहीं किया।

जैसा कहा गया है कि विरक्ति उत्पन्न होने पर देव भक्ति की ओर उन्मुख हुए किन्तु उन्होंने किस सम्प्रदाय में दीक्षा ली यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। निम्बार्क माधुरी में वे निम्बार्कमतानुयायी बताये गये हैं। मिश्र-बंधुओं ने उन्हें हितहरिवंश के बारह प्रमुख शिष्यों में गिना है। भारतेन्दु द्वारा संग्रहीत 'सुंदरी सिंदूर,' जो देव के ही छंदों का संकलन है, की भूमिका में भी वे राधावल्लभीय कहे गये हैं।

देव के लिखे हुए ७२ या ५२ ग्रंथ बताये जाते हैं किन्तु उनमें से आधे के लगभग ही उपलब्ध हो पाये हैं, प्रकाशित तो और भी कम हैं। रागरत्नाकर नामक उनकी एक रचना रागों पर भी मिलती है जिससे उनकी संगीत विषयक रुचि प्रकट होती है। इधर उनका एक नया ग्रंथ 'सुमिलविनोद' मिला है।

संकलन

हेरे हंस सारस सरोजन सरोवर में,
कोकन के ओकन ससोक सुख दैनी के।
सारचो सुक मोरन चितै पिक चकोरन,
बुलावै ब्याल बालन उन्हारि बर बैनी के।
ब्याकुल भये री बलबीर कुलकानि तजि,
हानि न गिनत अनहोनी किधौं होनी के।
रोकें मृग मारग बिलोकै मृगराज मृग,
मेद-मृग खोजत है भेद मृगनैनी के ॥१॥

आई हुती अन्हवावन नाइनि सोंधे लिये कर सूधे सुभाइनि।
कंचुकी छोरि उतै उबटैबे को ईंगुर से अंग की सुख दाइनि।
देव स्वरूप की रासि निहारति पाँय ते सीस लौं सीस ते पाँइनि।
ह्वै रही ठौरही ठाढ़ी ठगी सी हँसै कर ठोढ़ी धरै ठकुराइनि ॥२॥

हैं उपजे रज बीजहिं ते, बिनसे हू सबै छिति छार कै छाँड़े।
एक से देखु कछू न बिसेखु ज्यों एकै उन्हार कुम्हार के भाँड़े।
ता पर ऊँच औ नीच बिचारि बृथा बकि बाद बढ़ावत चाँड़े।
बेदनि मूँद, कियो इन दूँदु कि सूदु, अपावन पावन पाँड़े ॥३॥

पीछे परबीनै बीनै संग की सहेली, आगे—
भार डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि।
मोरै मुख मोरनि त्यों चौंकति चकोरनि, त्यों—
भौरनि की भीर भीरु देखै मुख मोरि-मोरि।
एक कर आली कर ऊपर ही धरे, हरे—
हरे पग धरै देव चलै चित चोरि-चोरि;
दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन, राज-
हंसनि चुनावति मुकुत माल तोरि-तोरि ॥४॥

कुल की सी करनी कुलीन की सी कोमलता,
सील की सी सम्पत्ति सुशील की सी कामिनी।
दान को सो आदरु उदारताई सूर की सी,
गुनी की लुनाई गुनमंती गजगामिनी।
ग्रीषम को सलिल सिसिर को सों घाम 'देव'
हेंउत हसंती जलदागम की दामिनी।
पून्यो को सो चाँद, परभात को सो सूरज,
सरद को सो बासरु बसन्त की सी जामिनी ॥५॥

देव नभ मन्दिर में बैठार्यो पुहुम पीठ,
सिगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल फल फूल दल,
सहित सुगन्धत चढ़ावन चहत हौं।
अमित अनन्त धूप दीपक-अखंड जोति,
जल-थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर कामना न मेरे और,
आठौ जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं ॥६॥

फटिक सिलानि सों सुधार्यो सुधा-मन्दिर,
उदधि दधि कौ-सो अधिकाई उमगै अमंद।
बाहेर ते भीतर लौं भीति न देखैए 'देव';
दूध को सो फेनु फैलो आँगन फरसबंद।
तारा सी तरुनि तामें ठाढ़ी झिलमिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरन्द।
आरसी-से अंबर में आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चंद ॥७॥

बँसुरी सुनि देखन दौरि चली, जमुना जल के मिस बेगि तवै।
'कवि देव' सखी के सकोचन सों करि ऊठ सु औसर को बितवै।
वृषभान कुमारि मुरारि की ओर, बिलोचन कोरनि सों चितवै।
चलिबे को घरै न करै मन नेंक, घरै फिरि फेरि भरै रितवै ॥८॥

लखि सासहि हास छिपाइ रहै ननदी लखि जी उपजावति भीतिहि।
सौतिन त्यौं सतराइ चितौति जिठानिन ज्यौं जिय ठानति प्रीतिहि।
दासिन हू सों उदास न देव बढ़ावति प्यारे सों प्रेम प्रतीतिहि।
धाय सों पूछति बातैं बिनै की सखीन सों सीखै सुहाग की रीतिहि।।९।।

कुंजन के कोरे मन केलि रस बोरे लाल,
तालन के खोरे बाल आवति है नित को।
अमिय निचोरे कल बोलनि निहोरे नेक,
सखिन के डोरे देव डोले जित तित को।
थोरे थोरे जोबन विथोरे देत रूप रासि,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेति हित को।
तोरे लेति रति दुति मोरे लेति मति गति,
जोरे लेति लोक लाज चोरे लेति चित को।।१०।।

सुघर सुनार रूप सुबरण चोर दृग,
कोर हरि लेत रव राखत न राई सी।
ये हो बलबीर कीसो बलवीर कैसो काम,
आखिर अहीर पीर जानौं न पराई सी।
घर घरिया मैं घुरी जारी मैं उघरि आई,
फैली जाति फूलन ही फिरति गुराई सी।
देव जू सुहाग रँगि आँचन तचाई,
सोऽब रंच न सिराति तची कंचन-सराई सी।।११।।

मंजुल मंजरी पंजरी सी ह्वै मनोज के ओज सम्हारति चीर न।
भूख न प्यास न नींद परै परी प्रेम-अजीरन के जुर जीरन।
'देव' घरी-पल जात घुरो अँसुवान के नीर उसास समीरन।
आहन जाति, अहीर अहे तुम्हैं कान्ह कहा कहौं काहू की पीर न।।१२।।

आई बरसाने ते बोलाई वृषभानु सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक चकवानि के चुकाये चक चोटनि सों,
चौंकत चकोर चकचौंधी सी चकै गई।

नन्दजू के नन्दन के नैननि अनन्दमयी,
नन्दजू के मन्दिरनि चन्दमयी छै गई ।
कुंजनि कलिनमयी गुंजनि अलिनमयी,
गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई ॥१३॥

'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यौ।
कंचुकी में चुपरचो करि चोवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यौ ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ ॥१४॥

सूझत न गात बीत आई अधरात अरु,
सोये सब गुरुजन जानि कै बगर के ।
छिपि कै छबीली अभिसार को किवार खोले,
खुलिगे खजाने चारु चन्दन अगर के ।
'देव' कहै भौंर गुंज आये कुंज कुंजन तें,
पूछि पूछि पीछे परे पाहरू डगर के ।
देवता कि दामिनी मसाल किधौं जोति-जाल,
झगरे मचत जागे सगरे नगर के ॥१५॥

जननी के अंक पर्यंक ते निसंक धाय,
'देव' वा मयंक मुख चखन चकोर ही ।
भटकी गलीन हू न अटकी अलीन चितै ,
चटकी कलीन चंचरीक चित चोर ही ।
नन्दजू की नन्दिनी दबोई नन्दनन्दन की,
बरजो न माने कर जोरै बर जोर ही ।
धोवन दे बदन, बिलोवन दे दधि राधे,
सोवन दे श्यामहि जगावै जनि भोर ही ॥१६॥

—*प्रेमचंद्रिका से*

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गये एक संग मैं ।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चित भंग मैं ।

आँखिन में तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जम्बु रस बुंद जमुना जल तरंग में।
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग में ॥१७॥

वारै कोटि इंदु अरबिन्द रसबिन्द पर,
मानै न मलिन्द बिन्दु सम कै सुधासरो।
मलै मल्ली मालती कदम्ब कचनार चम्पा,
चंपेहू न चाहै चित चरन टिकासरो।
पदुमिनि तू ही षटपदु को परम पदु,
'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो।
रस, रिस, रास, रोस आसरो सरन बिसे--
बीसो बिसबास रोकि राख्यो निसि बासरो ॥१८॥

देखे अनदेखे दुखदानि भये सुखदानि,
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो।
पानी, पान, भोजन, सुजन गुरजन भूले,
'देव' दुरजन लोग लरत खरे परो।
लागो कौन पाप, पल एकौ न परति कल,
दूर गयो गेह, नयो नेह नियरे परो,
होतो जो अजान, तौ न जानतो इतीक विथा,
मेरे जिय जान तेरो जानिबो गरे परो ॥१९॥

कोमल कोमलता दल दाम कि, कामिनि काम कमान गनाई।
सो दुख दूखि परो तन सूखि मरैं कि जियैं सु परै न जनाई।
मोहन मित्र चितेरे विचित्र कि चित्रन देव चरित्र तनाई।
सेज पै ज्यों रँगरेज मनोज सलोनी सी सोने की बेलि बनाई ॥२०॥

नंद घरै वृषभान के भौन ते जान कह्यो हरि देव सुहाँसुनि।
ताही घरी ते छरी पल लाज धरी के घरी उघरी बतियाँ सुनि।
प्रात अरंभ की खंभ लगी निरदंभ निरंभ सम्हारै न साँसुनि।
ठाढ़ी बड़े खन की बरसैं बड़री अँखियान बड़े बड़े आँसुनि ॥२१॥

धुर ते मधुर मधु-रस हू बिधुर करै,
मधु-रस बेधि उर गुरु रस फूली है ।
ध्रुव-प्रह्लाद-उर हुव अहलाद, जासों,
प्रभुता त्रिलोक हूँ की तिल-सम तूली है ।
बेदम-से बेद-मतवारे मतवारे परे,
मोहैं मुनि - देव 'देव' सूली-उर सूली है ।
प्यालो भरि दै री मेरी सुरति-कलारी, तेरी,
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है ॥२२॥

सूनौ कै परम पदु, ऊनौ कै अनंत मदु,
दूनौ कै नदीस-नदु इंदिरा फुरै परी ।
महिमा मुनीसन की, संपत्ति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि, ब्रज-बीथी बिथुरै परी ।
भादौं की अँधेरी अधराति, मथुरा के पथ
आई मनोरथ, 'देव' देवकी दुरै परी ।
पारावार पूरन, अपार, परब्रह्म रासि ,
जसुदा के कोरे एक बारक कुरै परी ॥२३॥

बरुनी बघम्बर में, गूदरी पलक दोऊ,
कोये राते बसन भगौहैं भेष रखियाँ ।
बूड़ी जल ही में, दिन जामिनि हूँ जागैं भौंहैं,
धूम सिर छायौ बिरहानल बिलखियाँ ।
अँसुवा फटिक-माल, लाल डोरे सेली पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ ।
दीजिये दरस 'देव' कीजिये सँयोगिनी ये,
जोगिनी ह्वै बैठी हैं बियोगिनी की अँखियाँ ॥२४॥

जब तें कुंवर-कान्ह रावरी कला-निधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी ।
तब ही तें 'देव' देखो, देवता सी हँसति सी ,
खीझति सी, रीझति सी, रूसति रिसानी सी ।

छोही सी, छली सी, छोनि लीन्ही सी, छकी सी छीन;
जकी सी, टकी सी, लागि थकी थहरानी सी।
बींधी सी, बँधी सी, विष बूड़ी सी, विमोहित सी;
बैठी वह बकत, बिलोकत बिकानी सी ॥२५॥

पाँयनि नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिन के धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चंचल मन्द हँसी मुखचंद जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव सहाई॥२६॥

मूरति जो मन मोहन की मन-मोहनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
'देव' गुपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी॥
नीके झरोखनि झाँकि सकै नहिं, नैनन लाज-घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी सी ॥२७॥

धार मैं धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न अँधेरी।
री अँगराय गिरी गहिरी, गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी।
'देव' कछू अपनो बसु ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गई पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥२८॥

ओझिल ह्वै आई, झुकि उझकी झरोका, रूप
झरसी झलकि गई, झलकनि झाँई की।
पैने, अनियारे पै सहज कजरारे चख,
चोट सी लगाई चितवनि चंचलाई की।
कौन जाने को ही उड़ि लागी दीठि मोही उर,
रहै अवरोही 'देव' निधि ही निकाई की।
अब लगि आँखिनि की पूतरी-कसौटिन मैं
लागी रहै लीक वाकी सोने सी गुराई की॥२९॥

राज पौरिया को रूप राधे को बनाय लाईं,
गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि मैं।
टेरि कह्यो कान्ह सों—चलो हो, कंस चाहे तुम्हें,
काके कहे लूटत सुने हो दधिदानि मैं।

संग के न जाने गये, डगरि डराने 'देव',
स्याम ससवाने से पकरि करे पानि में।
छूटि गयो छल सो छबीली की बिलोकनि में;
ढीली भई भौंहें वा लजीली मुसकानि में ॥३०॥

माखन सों मन दूध सों जोबन, है दधि सों अधिकौ उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाँछि, समेत सुधा, वसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै, कवि 'देव', बुझावत बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ॥३१॥

सखी के सकोच गुरु सोच मृग-लोचनि,
रिसानी पिय सों, जु उन नेकु हँसि छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गये, यहि,
सिसिकि-सिसिकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
को जानै री बीर बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय-हाय करि पछिताय न कछू सोहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात ॥३२॥

डार द्रुम-पालन, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झिंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी-कीर बतरावै 'देव',
कोकिल हलावै-हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारो करै राई नोन,
कंजकली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ॥३३॥

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे, हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।

चलन न देतों 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधावर-बिरद के बारिध में बोरतो ॥३४॥

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन-अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, बर लोकन में,
लीन्हो मैं अलीक लोक-लीकन तें न्यारी हौं।
तन जाहि, मन जाहि, देव गुरुजन जाहि,
जीव किन जाहि, टेक टरति न टारी हौं।
बृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीतपटवारी वाहि मूरति पै वारी हौं ॥३५॥

सुनि कै धुनि चातक मोरनि की चहुँ ओरन कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में सखि रागत राग अचूकनि सों।
कवि 'देव' घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर की झूकनि सों ॥३६॥

झहरि झहरि झीनी बूँदनि परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मोसौं "चलो झूलिबे कौं आजु",
फूली न समानी भई ऐसी हौं मगन मैं।
चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँखि खोल देखौं तो न घन है, न घनस्याम,
छाईं बेई बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन में ॥३७॥

कान्हमई वृषभान सुता भई प्रीति नई उनई जिय जैसी।
जानै को 'देव' बिकानी सी डोलै लगै गुरु लोगनि देखे अनैसी ॥
ज्यों-ज्यों सखी बहरावति बातन त्यों-त्यों बकै वह बावरी ऐसी।
राधिका प्यारी हमारी सौं तू कहि कालिह की बेनु बजाई मैं कैसी ॥३८॥

राधिका कान्ह को ध्यान करै तव कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को पाती लिखै लिखि राधे को ध्यावै।
'राधे' ह्वै जाय घरीक में 'देव' सु प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपुने आपुही में उरझै सुरझै बिरुझै समुझै समुझावै ॥३७॥

हौं ही ब्रज बृन्दाबन, मोही में बसत सदा,
जमुना-तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहूँ ओर सुन्दर, सघन बन देखियत
कुंजनि में सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसी-बट तट नटनागर नटत मो में,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक-बनक ताल ताननि की,
तनक तनक तामें झनक चुरीन की ॥४०॥

लाल बिना बिरहाकुल बाल बियोग की ज्वाल भई झुरि झूरी।
पानी सों, पौन सों, प्रेम कहानी सों, पान ज्यौं प्रानन पोषत हूरी।
'देव' जू आजु मिलाप की औधि सु बीतत देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग करे परीं चारिक चूरी ॥४१॥

फूल से फैलि परे सब अंग दूकूलन में दुति दौरि दुरी है।
आँसुन के जल-पूर में पैरति साँसन सों सनि लाज लुरी है।
'देव' जू देखिये दौरि दसा ब्रज पौरि बिथा की कथा बिथुरी है।
हेम की बेलि भयी हिम-रासि घरीक में घाम सों जाति घुरी है ॥४२॥

सासन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
'देव' जिये मिलिबेई की आस कि आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ॥४३॥

बारे बड़े उमड़े सब जैबे को, हौं न तुम्हैं पठवौं बलिहारी।
मेरे तौ जीवन 'देव' यही धनु, या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी।
जानै न रीति अथाइन की, नित गाइन में बन-भूमि निहारी।
याहि कोऊ पहिचानै कहा, कछु जानै कहा मेरो कुंजबिहारी ॥४४॥

आओ ओट रावटी झरोखे झाँकि देखौ 'देव',
देखिबे को दाउँ फेरि दूजे द्योस नाहिनै।
लहलहे अंग रंगमहल के संगन में,
ठाढ़ी वह बाल लाल पगन उपाहिनै।
लोने मुख लचनि, नचनि नैन-कोरनि की,
उरति न और ठौर सुरति सराहिनै।
बाम कर बार हार अंचल सम्हारो करै,
कैयो छन्द कंदुक उछारै कर दाहिनै॥४५॥

एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरों न 'देव' चराचर में।
जासों मन राँचै तासों तनु-मनु राँचै,
रुचि भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर में।
पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर में।
प्रेम सो कहत कोऊ ठाकुर न ऐंठौ सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे तौ पैठो प्रेम घर में॥४६॥

रीझि रीझि, रहसि रहसि, हँसि-हँसि उठै,
साँसैं भरि, आँसू भरि, कहत दई दई।
चौंकि चौंकि, चकि चकि, उचकि उचकि 'देव'
जकि जकि, बकि बकि, परत बई बई।
दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधिका मै,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई॥४७॥

जाके न काम न क्रोध-विरोध, न लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहौ।
मोह न जाहि रहै जग-बाहिर, मोल जवाहिर तौ अति चाहौ।
बानी पुनीत ज्यों देव धुनी, रस आरद सारद के गुन गाहौ।
सील-ससी, सविता-छविता, कबिताहि रचै, कबि ताहि सराहौ॥४८॥

'देव' सबै सुखदायक संपति, संपति कौ सुख दंपति जोरी।
दंपति दीपति, प्रेम-प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह-निचोरी।
प्रीति तहाँ गुन-रीति-बिचार, बिचार की बानी सुधा रस बोरी।
बानी को सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी ।।४९।।

धाये फिरौ ब्रज में, वधाये नित नंद जू के,
गोपिन सधाये नचौ गोपन की भीर में।
देव मति मूढ़े तुम्हें ढूँढ़े, कहाँ पावै, चढ़े
पारथ के रथ, पैठे जमुना के नीर में।
आँकुस ह्वै दौरि हरनाकुस को फारचो उर,
साथी न पुकारचो, हते हाथी हिय तीर में।
बिदुर की भाजी, बेर भीलनी के खाय,
बिप्र चाउर चबाय, दुरे द्रोपदी के चीर में ।।५०।।

लागत समीर लंक लहकै समूल अंग
फूल से दुकूलन सुगंध बियुरो परै।
इन्दु सो बिदन मंद हाँसी सुधा-बिन्दु,
अरबिन्दु ज्यों मुदित मकरन्दन मुरो परै।
ललित लिलार श्रम झलक अलक भार,
मग में धरत पग जावक घुरो परै।
देव मनि नूपुर, पदुम पद दू पर ह्वै,
भू पर अनूप रूप रंग निचुरो परै ।।५१।।

कोयन ज्योति चहैं चपला सुर-चाप सुभू रुचि कज्जल काँदौ।
बुंद बड़े बरसैं अँसुवाँ हिरदै न बसै निरदै पति जादौ।
देव समीर नहीं दुनिये धुनिये सुनिये कलकंठ निनादौ।
तारे खुले न घिरी बरुनी घन नैन भए दोउ सावन भादौ ।।५२।।

आँसुन के सलिल सिरावती न छाती जो,
उसास लागि कामागि भसम हो तो ही ततो।
केसरि कुसुम हू तें कोंरी जो न होती, तौ
किसोरी सों कुसुमसर कौनी भाँति जीततो।

'देव' जू सराहिये हमारो न्याउ ह्वयाँऊ करि,
नाहित अहित चेत करतो जो चीततो ।
कोकिला के टेरत निकरि जातो जीव,
जो तिहारे गुन गनत उधेरत न बीततो ।।५३।।

पीछे तिरीछे कटाछन सों इतवै चितवै री लला ललचौहैं ।
चौगुनो रंग चवायनि के चित, चाह चढ़े हैं चबाउ मचौहैं ।
जोबन आयो न पाप लग्यो कवि देव रहैं गुरु लोग रिसौहैं ।
जी में लजैये जु जैयें कहूँ, तित पैये कलंक चितैये जु सौंहै ।।५४।।

'देव' जुपै चित चाहिये नाह तौ नेह निबाहिये देह मर्यो परै ।
त्यों समुझाय सुझाइये राह अमारग जो पग धोखे धरचो परै ।
नीके में फीके ह्वै आँसू भरौ कत ऊँची उसास गरे क्यों भरचो परै ।
रावरो रूप पियो अँखियान भरचो सु भरचो उबरचो सु ढरचो परै ।।५५।।

अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि अंगनि ओप मनो उफनी ।
कवि देव हिये सियरानी सबै सियरानी को देखि सुहाग सनी ।
बर धामन बाम चढ़ी, बरसैं मुसुकानि सुधा घनसार घनी ।
सखियान के आनन इंदुन तें अँखियान की बन्दनवार तनी ।।५६।।

गुरुजन जामन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि,
मथ्यो न बिबेक रई देव जो बनायगो ।
माखन मुकुति कहाँ छाँड्यो न भुगुति जहाँ,
नेह बिनु सिगरे सवाद खेह नायगो ।
बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ-भाँड़े,
तच्यो कोप-आँच पच्यो मदन सिरायगो ।
पायो न सिरावन सलिल छिमा-छीटन सों,
दूध सो जनम बिन जाने उफनायगो ।।५७।।

'देव' घनस्याम-रस बरस्यो अखंड धार,
पूरन अपार प्रेम पूर नहि सहि परचौ ।
विषै बन्धु बूड़े, मद-मोह-सुत दबे देखि,
अहंकार मीत मरि, मुरझि महि परचौ ।

आसा त्रिसना-सी बहू-बेटी लै निकसि भाजी,
माया मेहरी पै देहरी पै नहि रहि पर्‌यौ ।
गयौ नहिं हेरो, लयौ बन में बसेरो नेह,
नदी के किनारे मन-मंदिर ढहि परचौ ॥५८॥

नाक, भू, पताल, नाक सूची तें निकसि आये,
चौदहौ भुवन भूखे, भुनगा कौं भयो हेत ।
चीटी-अंड-भंड में समान्यौ ब्रह्मंड सब,
सपत समुद्र बारि बुन्द में हिलोरें लेत ।
मिलि गयौ मूल थूल, सूच्छम समूल कुल,
पंचभूतगन अनुकन में कियौ निकेत ।
आप ही ते आप ही सुमति सिखराई 'देव'
नखसिख राई में सुमेरु दिखराई देत ॥५९॥

विद्रुम और बँधूक जपा गुललाला गुलाब की आभा लजावति ।
देव जू कंज खिले टटके हटके भटके खटके गिरा गावति ।
पाँव धरै अलि ठौर जहाँ तेहि ओर तें रंग की धार सी धावति ।
मानो मजीठ की माठ ढुरी एक ओर तें चाँदनी बोरति आवति ॥६०॥

खेलत फाग खिलार खरे अनुराग भरे बड़ भाग कन्हाई ।
एक ही भौन में दोहुन देखि के 'देव' करी इक चातुरताई ।
लाल गुलाल सों लीन्ही मुठी भरि बाल की भाल की ओर चलाई ।
वा द्रिग मूँदि उतै चितई इन भेंटी इतै बृषभान की जाई ॥६१॥

देव न देखति हौं दुति दूसरो देखे हैं जा दिन तें ब्रजभूप मैं ।
पूरि रही री वहै पुर कानन आनन ध्यानन ओप अनूप मैं ।
ये अँखियाँ सखियाँ हैं हमारी सो जाइ मिलीं जलबूँद ज्यों कूप मैं ।
कोर करो नहिं पाइयै केहूँ समाइ गयीं ब्रजराज के रूप मैं ॥६२॥

नीलपट तनु पै घटान सी घुमाय राखौं,
दंत की चमक सों छटा सी बिचरति हौं ।
हीरन की किरनै लगाइ राखौं जुगनू सी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सों ढरति हौं ।

कीच अँसुवान की मचाऊँ कवि 'देव' कहै,
पीतम विदेस को सिधारिबो हरति हौं ।
इन्द्र कैसो धनु साजि बेसरि कसति आजु,
रहु रे वसंत तोहि पावस करति हौं ।।६३।।

देव जो बाहिर ही बिहरै तौ समीर अमी रस बिन्दु लै जैहै ।
भीतर भौन बसै बसुधा ह्वै सुधा मुख सूँघि फनिंदु लै जैहै ।
जैये कहूँ इहिं राखि गुविंद कै इंदुमुखी लखि इंदु लै जैहै ।
राखिहौ जो अरविंद हू में मकरंद मिलै तौ मलिंदु लै जैहै ।।६४।।

को बचिहै यह वैरी बसंत पै आवत जो बन आगि लगावत ।
बौरत ही करि डारत बौरी, भरे विष बैरी रसाल कहावत ।
होत करेजन की किरचैं कवि देव जू कोकिल वैन सुनावत ।
बीर की सौं बलवीर बिना उड़ि जायँगे प्रान अबीर उड़ावत ।।६५।।

बड़ोई प्रताप, बड़ोई सुहाग, बड़ोई प्रभाव सुभाविक राखैं ।
बड़ी गुनमान बड़ीयै सुजान सरूप निधान पुरानन भाखैं ।
बड़े बड़े देव अदेवन की घरनी मुख देखन को अभिलाखैं ।
बड़ी दिलदार, बड़े बड़े हार, बड़े बड़े बार बड़ी बड़ी आँखैं ।।६६।।

रसलीन

(सं० १७५६—१८०७)

'अंगदर्पण' और 'रस प्रबोध' के रचयिता सैयद गुलामनबी 'रसलीन' बिलग्रामी, रसखान और रहीम की तरह उन मुसलमान कवियों में हैं जिन्होंने हिन्दी-काव्य को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। बिलग्राम जो हरदोई ज़िले का एक कस्बा है, १३वीं शती विक्रमी से ही सैयदवंश की एक शाखा, जैदी हसनी उल हुसेनी, का अधिकृत निवासस्थान रहा है और इसने उर्दू-फारसी परम्परा के अनेक कवियों तथा विद्वानों को जन्म दिया है। उर्दू के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सर्वे आज़ाद' के रचयिता मीर गुलाम अली आज़ाद इसी वंश के थे और रसलीन के समकालीन भी थे। उनकी उक्त कृति से रसलीन के सम्बंध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। रसलीन सैयद बाकर के पुत्र तथा तुफैल मोहम्मद के शिष्य थे। कवि के साथ वे योद्धा भी थे और शाही सेना की ओर से रुहेलों और वंगशो के विरुद्ध युद्ध करते हुए एटा के समीपवर्ती 'रामचेतौनी' नामक स्थान पर सन् १७५० में वीरगति को प्राप्त हुए।

रसलीन को हिन्दी-काव्य रचने की प्रेरणा कदाचित् अपने सम्बन्धी मीर अब्दुल जलील से मिली थी जो स्वयं कवि थे। फारसी-अरबी के साथ संभवतः वे संस्कृत के भी ज्ञाता थे। संस्कृत के विषय में उनकी धारणा "आवै कहै सुरबानी जबै तब भाखा कहा मुख ते कोउ भाखै।" उनके प्रगाढ़ संस्कृत प्रेम की द्योतक प्रतीत होती है। अपनी हिन्दी की रचनाएँ भी वे फारसी-अरबी लिपि में ही लिखते थे और इसके लिए उन्होंने कतिपय स्वतन्त्र लिपिचिह्न भी आविष्कृत किये थे।

उनकी प्रवृत्ति संगीत की ओर भी थी। इस दिशा में संभवतः वे 'नादचंद्रिका' और 'मधनायक शृंगार' के निर्माता प्रसिद्ध संगीतज्ञ सैयद निजामुद्दीन मधनायक बिलग्रामी से प्रभावित हुए थे। रसलीन का विशेष निवास शाहजहानाबाद (दिल्ली) और इलाहाबाद रहा। इनके स्फुट छंदों के संग्रह 'कवित्त मुत्फरिक सैयद गुलाम-नबी रसलीन' में त्रिवेणी-स्तुति के छंद भी मिलते हैं। इस संग्रह की एक प्रति रसलीन के विशेष प्रेमी और उनके सम्बन्ध में शोधकर्ता श्री गोपालचन्द्र सिंह के पास है और दूसरी रामपुर राजकीय पुस्तकालय में। 'अंगदर्पण' रसलीन की शिखनख विषयक रचना है और 'रसप्रबोध' में रस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। रसलीन की ख्याति 'अमिय हलाहल मदभरे' से प्रारम्भ होने वाले दोहे, जिसे प्रायः बिहारीकृत माना जाता रहा, के रचयिता के रूप में विशेष रूप से हुई परन्तु उनके 'अंगदर्पण' की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों में वह दोहा कहीं प्राप्त नहीं होता।

संकलन

राधा-पद बाधाहरन साधा करि रसलीन।
अंग अगाधा लखन को कीनो मुकुर नवीन ॥१॥

सो पावै या जगत में सरस नेह को भाय।
जो तन मन तें तिलन लों बालन हाथ बिकाय ॥२॥

मैमद छबियन मुकुत लखि यह आयो जिय जागि।
ससि हित पीछे राहु के नखत रहें हैं लागि ॥३॥

चन्द्रमुखी जूरो चितै चित लीन्हो पहचानि।
सीस उठायो है तिमिर ससि को पीछे जानि ॥४॥

बारन निकट ललाट यों सोहत टीका साथ।
राहु गहत मनु चन्द पै राख्यो सुरपति हाथ ॥५॥

ऐंठे ही उतरत धनुष यह अचरज की बान।
ज्यों ज्यों ऐंठति भौं-धनुष त्यों त्यों चढ़त निदान ॥६॥

मुकुर बिमलता, चन्द दुति, कंज मृदुलता पाय।
जनम लेइ जो कंबु तें लहे कपोल सुभाय ॥७॥

सब जग पेरत तिलन को, को न थके इहि हेरि।
तुव कपोल के एक तिल डारयो सब जग पेरि ॥८॥

छाक छाक तुव नाक सों, यों पूछत सब गाँव।
किते निवासिन नासि के लह्यो नासिका नाँव ॥९॥

जो भा अधरन तरुनि के, सो भा धरत न कोय।
याही बिधि इनके परयो नाम अधर बिधि जोय ॥१०॥

लाल चलत जिहि ठौर वा बाल दसन की बात।
श्रवन सुनत ही सीप लों मुकुतन ते भरि जात ॥११॥

दसन झलक में अरुनता लखि आवत मन माँह।
परी रदन पर आय के अधर रंग की छाँह ॥१२॥

दरपन से वा कण्ठ सम कंचन दुति किमि होत।
ढुलरी जाके लगत ही जोति चौलरी होत ॥१३॥

कित दिखाइ कामिनि दई दामिनि को यह बाँह।
तरफरात सी तन फिरै फरफरात घन माँह ॥१४॥

क्यों वा तन सुकुमारतनि देखन पैयत नीठि।
दीठि परत यों तरफरति मानों लागी दीठि ॥१५॥

मुख छबि निरखि चकोर, अरु तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भँवर, होत नयन रसलीन ॥१६॥

ब्रज बानी सीखन रची यह रस लीन रसाल।
गुन सुबरन नग अरथ लहि हिय धरियो ज्यों माल ॥१७॥

अंग अंग को रूप सब यामें परत लखाय।
नाम अंग-दर्पन धरयो याही गुन तें ल्याय ॥१८॥

—'अंगदर्पण' से

तन सुबरन के कसन को, लसत पूतरी स्याम।
मनो नगीना फटिक में, जरी कसौटी काम ॥१९॥

को है माली चतुर जो, सरस सींचि रस-जाल।
या कंचन की बेल में, मुक्ति लगाये लाल ॥२०॥

पिय कुंडल को चिन्ह जो, परयो बाल की बाँह।
खिन चूमत खिन लखि रहत, खिन लावत उर माँह ॥२१॥

पिय मूरति मेरी सदा राखत दृगन बसाइ।
डरियत गोरी देह यह, मति कारी ह्वै जाइ ॥२२॥

मो पिय चख पच्छी नहीं, जो जल जल में जाहिं।
मीन रूप जामे परे सदा, रहैं तिहिं माहिं ॥२३॥

सखिन संग नवला गई, पिय को मिलन निकेत।
अरुन कमल सो मुख भयो, दिन हिम संक समेत ॥२४॥

अली मान-अहि के डसे, झारयो हरि करि नेह।
तऊ क्रोध-विष ना छुट्यो, अब छूटत है देह ॥२५॥

रक्त बूँद काजर भरे, यों रोवति दुरि बाल ॥२६॥
मनो निसानी वा दृगन, दई गुंज की माल ॥

पिय बिछुरन खिन यों तिया, चख अँसुवा गर आइ ।
मनु मधुकर मकरन्द को, उगलि गयो फिरि खाइ ॥२७॥

गवन समै पिय के कहति, यौं नैनन सों तीय ॥
रोवन के दिन बहुत हैं, निरखि लेहु खिन पीय ॥२८॥

करी देह जो चीकनी, हरि नित लाइ सनेह ।
बिरह अग्नि जरि खिनक मैं, होनि चहत अब खेह ॥२९॥

पिय आये आनंद जो भयो तिया उर आइ ।
घट मधि दीपक जोति लौं, कछु मुख तें दरसाइ ॥३०॥

आई वह पानिप भरी, रमनी आजु अन्हान ।
जिहि बूड़ति निकसति लखै, निकसत बूड़ै प्रान ॥३१॥

जिहि हित बिनै अकोर दै, करत हुते कर जोरि ।
तासों लाल कठोर ह्वै, कहा रह्यो मुख मोरि ॥३२॥

पिय चितवत तिय मुरि गई, कुल हित पट मुख लाइ ।
अमी चकोरन के पियत, घन लीनी ससि छाइ ॥३३॥

पिय लषि यौं तिय, दृगन दै अंजन आँसू डारि ।
ज्यौं ससि निरखि चकोर वै बुझी चिनगिनी डारि ॥३४॥

सखि री बिछुरन सिसिर की, ह्वै लहलही तुरन्त ।
बेलि रूप प्रफुलित भई, लहि बसन्त को कन्त ॥३५॥

लाल एक दृग अग्नि ते जारि दियो सिव मैन ।
करि ल्याए मो दहन को, तुम द्वै पावक नैन ॥३६॥

पिय बिनु तिय दृग जल निकसि, यों पुतरीन बिलात ।
ज्यौं कमलन तें रस झरत, मधुकर पीवत जात ॥३७॥

पिय छीटत यौं तियन कर लहि जल केलि अनंद ।
मनो कमल चहुँ ओर तें मुकतनि छोरत छंद ॥३८॥

'रसप्रबोध' से

दास

(काव्यकाल सं० १८०० के लगभग)

यद्यपि शुक्ल जी ने दास के कवि रूप को ही अपने इतिहास में प्रमुख माना है और उनकी रचना को कला-पक्ष में 'संयत' तथा भाव-पक्ष में 'रंजनकारिणी' कहा है तथापि दास की ख्याति अधिकांश में आचार्य रूप में ही रही है और वही उचित भी है। वे रीतिकाल के अन्तिमवर्ग के श्रेष्ठतम आचार्य थे। मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में दास को ही उत्तरालंकृत काल का प्रमुख आचार्य माना है। इधर डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी अपने काव्य-शास्त्र के इतिहास में दास के कृतित्व का सूक्ष्म परिचय देते हुए उनकी विद्वत्ता, परम्परा-ज्ञान, विवेचनगत वैज्ञानिकता, पूर्णता एवं स्पष्टता की मुक्तभाव से सराहना की है और कुछ स्थलों पर उनकी मौलिकता को भी स्वीकार किया है।

दास का पूरा नाम भिखारीदास था और वे प्रतापगढ़ निवासी श्रीवास्तव कायस्थ थे। अपना विस्तृत वंशपरिचय उन्होंने अपने सर्वप्रमुख ग्रंथ 'काव्यनिर्णय' में दिया है जो स्थानीय अरबर राज्य के सोमवंशी राजा पृथ्वीपति सिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में सं० १८०३ में लिखा गया था। काव्यनिर्णय के अतिरिक्त उनके अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं यथा—रससारांश (सं० १७९१), छंदोर्णवपिंगल (सं० १७९९), शृंगारनिर्णय (सं० १८०७), नामप्रकाश (कोश) (सं० १७९५), विष्णुपुराण भाषा, छंद-प्रकाश, शतरंज-शतिका तथा अमर-प्रकाश (कोश)। भिखारीदास का 'काव्यनिर्णय' हिन्दी काव्य-शास्त्र के उत्कृष्ट एवं मुख्यतम ग्रंथों में से है। दास ने इसका निर्माण मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और जयदेव के 'चन्द्रालोक'

के आधार पर किया है और अपने से पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्य-कवियों केशव, चिंतामणि, सूरति, श्रीपति आदि से भी सामग्री संकलित की है। काव्य सम्बन्धी प्रायः सभी ज्ञातव्य वस्तुओं का समावेश इसमें मिलता है। अलंकारों के वर्गीकरण और तुक-निर्णय को दास ने नितान्त मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है और ब्रजभाषा के स्वरूप को पहली बार व्यापक पृष्ठभूमि में स्पष्ट किया है, जैसा किसी प्राचीन लेखक ने नहीं किया। ब्रजभाषा लेखन के लिए ब्रज-वास आवश्यक ही हो ऐसा वे नहीं मानते और अपने मत की पुष्टि में उन्होंने सूर, केशव, बिहारी, रहीम, मतिराम आदि अनेक कवियों के नाम गिनाये हैं। तुलसी और गंग को दास ने सुकवियों का 'सरदार' माना है क्योंकि इनके काव्य में विविध प्रकार की भाषाओं का मिश्रण मिलता है। ब्रजभाषा को वे सबसे अधिक काव्योपयुक्त भाषा मानते थे विशेषकर तब जब उसमें संस्कृत और फारसी का पुट भी दे दिया गया हो। एक प्रकार से वे मिश्रित भाषा के समर्थक थे। किसी कवि के लिए दास के अनुसार तीन वस्तुएँ अनिवार्य होती हैं। एक जन्मजात काव्य प्रतिभा, सुकवियों द्वारा काव्यरीति का ज्ञान और लोक-व्यवहार का व्यापक परिचय। सफल कविता के उनकी दृष्टि में इन तीनों का समन्वय होना आवश्यक है।

उत्तर-रीतिकाल की एक सामान्य प्रवृत्ति तथा दास में व्यक्तिगत आत्म-विश्वास की कमी के उदाहरण स्वरूप उनकी सुप्रसिद्ध पंक्ति 'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' प्रायः उद्धृत की जाती है किन्तु जिस प्रसंग में यह बात कही गयी है उसको देखते हुए यह एक सहज विनयपूर्ण कथन ही प्रतीत होता है जो कवि के रूप में न कहा जाकर भक्त के रूप में कहा गया है।

संकलन

एक रदन द्वै मातु, त्रिचख चौबाहु पंच कर।
षट आनन वर बन्धु, सेव्य सप्तार्चि भाल धर।
अष्टसिद्धि नवनिद्धि, दानि दसदिसि जस विस्तर।
रुद्र गियारह सुबद, द्वादसादित्य ओज वर।
जो त्रिदस वृन्द वन्दित चरन, चौदह विद्यन्ह आदि गुर।
तेहि दास पंचदसहूँ तिथिन्ह, धरिय षोड़सो ध्यान उर॥१॥

मोसम जे ह्वै हैं ते विसेष सुख पैहैं पुनि,
हिन्दूपति साहेब के नीके मन मानो है।
एते पर तोष रसराज रसलीन वासु-
देव से प्रवीन पूरे कविन्ह बखानो है।
तातें यह उद्यम अकारथ न जैहै सब,
भाँति ठहरैहै भलो हौं हूँ अनुमानो है।
आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई नत,
राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है॥२॥

आजु वहि गोपी की न गोपी रही हाल कछु,
हाल वनमाल के हिंडोरे मन झूलिगो।
अँखिया मुखाम्बुज में भौंर ह्वै समानो भई,
बानी गद्‌गद कंठ कदम सों फूलिगो।
जा मग सिधारे नंदनंद ब्रज स्वामी दास,
जिनकी गुलामी मकरध्वज कबूलि गो।
वाही मग लागो नेह घट में गँभीर भारी,
नीर भरिबे को घट घाटहि में भूलिगो॥३॥

नैनन को तरसैये कहाँ लौं कहाँ लौं हियो विरहागि में तैये।
एक घरी न कहूँ कल पैये कहाँ लगि प्राननि को कलपैये।
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहू के घर जैये।
मान घटे तें कहा घटिहै जु पै प्रानपियारे को देखन पैये॥४॥

ऊधो तहाँई चलो लै हमैं जहँ कूबरी कान्ह बसैं इक ठोरी।
देखिय दास अघाइ अघाइ तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूवरी सों कछु पाइये मन्त्र लगाइये कान्ह सों प्रेम की डोरी।
कूबर भक्ति बढ़ाइये बृन्द चढ़ाइये चंदन बंदन रोरी॥५॥

दास के ईस जबै जस रावरो गावती देववधू मृदुतानन।
जातो कलंक मयंक को मूँदि औ घाम तें काहू सतावतो भान न।
सीरो लगै सुनि चौंकि चितै दिगदन्ति तकैं तिरछो दृग आनन।
सेत सरोज लगै कै सुभाय घुमाय कै सूँड़ मलै दुहुं कानन॥६॥

देखे दुरजन संग गुरुजन संकनि सों,
हियो अकुलात दृग होत न तुखित हैं।
अनदेखे हू ते मुसुकानि बतरानि मृदु,
बानिऐ तिहारी दुखदानि बिमुखित हैं।
दास धनि ते हैं जे बियोगही में दुख पावैं,
देखे प्रान पी के होति जिय में सुखित हैं।
हमैं तो तिहारे नेह एकहू न सुख लाहु,
देखेहु दुखित अनदेखेहू दुखित हैं॥७॥

कढ़ि के निसंक पैठि जाति झुंड झुंडन में,
लोगन को देखि दास आनँद पगति है।
दौरि दौरि जाहि ताहि लाल करि डारति है,
अंग लगि कंठ लगिबे को उमगति है।
चमक झमकवारी ठमक जमकवारी,
दमक तमकवारी जाहिर जगति है।
राम असि रावरे की रन में नरन में
निलज्ज बनिता सी होरी खेलन लगति है॥८॥

अरबिंद प्रफुल्लित देखि कै भौंर अचानक जाइ अरैं पै अरैं।
बनमाल थली लखि के मृगसावक दौरि बिहार करैं पै करैं।
सरसी ढिग पाइ कै व्याकुल मीन हुलास सों कूदि परैं पै परैं।
अवलोकि गुपाल को दास जू ये अँखियाँ तजि लाज ढरैं पै ढरैं॥९॥

जूगनू भानु के आगे भली बिधि आपनी जोतिन्ह को गुन गैहै।
माखियो जाइ खगाधिप सों उड़िबे की बड़ी बड़ी बात चलैहै।
दास जबै तुकजोरनहार कबिन्द उदारन की सरि पैहै।
तौ करतारहु सों औ कुम्हार सों एक दिना झगरो बनि ऐहै ॥१०॥

आनन है अरबिन्द न फूले अलीगन भूले कहा मड़रात हौ।
कीर तुम्हैं कहा बाय लगी भ्रम बिम्ब के ओंठन को ललचात हौ।
दास जू ब्याली न बेनी बनाव है पापी कलापी कहा इतरात हौ।
बोलती बाल न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ ॥११॥

अब तो बिहारी के वे बानक गये री तेरी,
तनदुति केसरि को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी स्वातिबुन्दन को चातक भो,
स्वासन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो।
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो री,
जियरो मदन तीर गन को तुनीर भो।
एरी बेगि करिकै मिलाप थिर थापु नत,
आप अब चाहत अतन को सरीर भो ॥१२॥

कल कंचन सों वह अंग कहाँ औ कहाँ यह मेघन सों तनु कारो।
कहाँ कौंल कली बिकसी वह होइ कहाँ तुम सोइ रहो गहि डारो।
नित दास जू ल्यावहि ल्याउ कहौ कछु आपनो वाको न बीच बिचारो।
वह कोमल गोरी किसोरी कहाँ औ कहाँ गिरिधारन पानि तिहारो ॥१३॥

जेहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो तेहि देखत मोह में आय गई।
न चितौनि चलाय सकी, उनहीं की चितौनि के घाय अघाय गई।
वृषभानलली की दसा यह दास जू देत ठगौरी ठगाय गयी।
बरसाने गई दधि बेचन को तहँ आपुही आपु बिकाय गई ॥१४॥

आक औ कनकपात तुम जो चबात हौ तो,
षट रस व्यंजन न केहूँ भाँति लटिगो।
भूषन वसन कीन्हों व्याल गजखाल को तो,
साल सुबरन को न धारिबो उलटिगो।

दास के दयाल हौ सुरीति ही उचित तुम्हैं,
लीन्हीं जौ कुरीति तौ तिहारो ठाट ठटिगो।
ह्वै के जगदीस कीन्हों बाहन वृषभ को तौ,
कहा सिव साहेब गयन्दन्ह को घटिगो ॥१५॥

भाल में जाके कलानिधि है वह साहेब ताप हमारो हरैगो।
अंग में जाके विभूति भरी वहै भौन में सम्पति भूरि भरैगो॥
घातक है जु मनोभव को मन पातक वाही के जारे जरैगो।
दास जो सीस पै गंग धरे रहैं ताकी कृपा कहु को न तरैगो ॥१६॥

सोभा सुकेसी की केसन में है तिलोत्तमा की तिल बीच निसानी।
उर्बसी ही में बसी मुख की अनुहारि सो इन्दिरा में पहिचानी।
जानु को रंभा सुजान सुजान है दास जू बानी में बानी समानी।
एती छबीलिन सों छबि छीनि कै एक रची विधि राधिका रानी ॥१७॥

प्रेम तिहारे तें प्रानपिया सब चेत की बात अचेत ह्वै मेटति।
पायो तिहारो लिख्यो कछु सो छिनही छिन बाँचत खोलि लपेटति।
छैल जू सैल तिहारी सुनै तेहि गैल की धूरि लै नैन घुरेटति।
रावरे अंग को रंग बिचारि तमाल की डार भुजा भरि भेंटति ॥१८॥

कौन सिंगार है मोरपखा यह लाल छुटे कच कांति की जोटी।
गुंज के माल कहा यह तो अनुराग गरे पर्‌यो लै निज खोटी।
दास बड़ी बड़ी बातें कहा करौ आपने अंग की देखो करोटी।
जानो नहीं यह कंचन से तिय के तन के कसिबे की कसोटी ॥१९॥

होत मृगादिक तें बड़े बारन बारन बृन्द पहारन हेरे।
सिंधु में केते पहार परे धरती में बिलोकिये सिंधु घनेरे।
लोकनि में धरती यों किती हरिबोदर में बहु लोक बसेरे।
ते हरि दास बसे इन नैनन एते बड़े दृग राधिका तेरे ॥२०॥

न्यारो न होत बफारो ज्यों धूम में धूम ज्यों जात घनै घन में हिलि।
दास उसास रलै जिमि पौन में पौन ज्यों पैठत आँधिन में पिलि।
कौन जुदो करै लौन ज्यों नीर में नीर ज्यों छीर में जात खरो खिलि।
त्यों मति मेरी मिली मन मेरे में मो मन गो मनमोहन सों मिलि ॥२१॥

कंज संकोचि गड़े रहैं कीच में, मीनन बोरि दियो दह नीरनि।
दास कहै मृग हू को उदास कै, बास दियो है अरण्य गँभीरनि।
आपुस में उपमा उपमेय ह्वै, नैन ए निन्दत हैं कवि धीरनि।
खंजन हूँ को उड़ाइ दियो हलुके करि डारे अनंग के तीरनि।।२२।।

चैत की चाँदनी क्षीरनि सों दिगमंडल मानों पखारन लागी।
तापर सीरी बयारी कपूर की धूरि सी लैलै बगारन लागी।
भौंरन की अवली करि गान पियूष सों कान में डारन लागी।
भावती भावते ओर चितै सहजै ही में भूमि निहारन लागी।।२३।।

सखि तैहूँ हुती निसि देखत ही जिन पै वै भई हीं निछावरियाँ।
तिन पानि गह्यो हुतो मेरो तबै सब गाय उठीं ब्रज गाँवरियाँ।
अँसुवा भरि आवत मेरे अजौं सुमिरे उनकी पग पाँवरियाँ।
कहि को हैं हमारे वे कौन लगैं जिनके संग खेली हौं भाँवरियाँ।।२४।।

दीपक-जोति मलीनी भई मनि भूषन जोति की आतुरियाँ हैं।
दास न कौल कली बिकसी निज, मेरी गई मिलि आँगुरियाँ हैं।
सीरी लगै मुकतावलि तेऊ कपूर की धूरिन सो पुरियाँ हैं।
पौढ़े रहौ पट ओढ़े इती निसि बोलैं नहीं चिरियाँ, चुरियाँ हैं।।२५।।

सिखनख फूलन के भूषन बिभूषित कै
बाँधि लीनो बलया बिगत कीनी बजनी।
तापर सँवार्‌यो सेत अंबर को डंबर
सिधारी स्याम सन्निधि निहारी कहूँ न जनी।
छीर के तरंग की प्रभा को गहि लीन्ही तिय
कीन्हीं छीर सिन्धु छिति कातिक की रजनी।
आनन प्रभा तें तन छाँह हू छिपाए जाति
भौंरन के भीर संग लाये जाति सजनी।।२६।।

जलधर ढारैं जलधारन की अँधिकारी
निपट अँधारी भारी भादव की जामिनी।
तामें स्याम बसन बिभूखन पहिर स्यामा
स्याम पै सिधारी प्यारी मत्तजगामिनी।

दास पौन लागे उपरैनी उड़ि उड़ि जाति
तापर न क्योंहूँ भाँति जानी जाति भामिनी।
चारु चटकीली छबि चमकि चमकि उठै
लोग कहैं दमकि दमकि उठै दामिनी ।।२७।।

बात चली वह है जब तें तब तें चले काम के तीर हजारन।
भूख औ प्यास चले मन तें अँसुआ चले नैनन तें सजि धारन।
दास चलीं करतें बलया रसना चली लंक तें लाग्यो अबार न।
प्रान के नाथ चले अनते तनतें नहिं प्रान चले किहि कारन ।।२८।।

साँझ के ऐबे की औधि दे आये बितावन चाहत याहू बिहानहिं।
कान्ह जू कैसे दया के निधान हौ जानो न काहू के प्रेम प्रमानहिं।
दास बड़ोई बिछोह कै मानती जात समीप के घाट नहानहिं।
कोस के बीच कियो तुम डेरो तो को सकै राखि पियारी के प्रानहिं ।।२९।।

आहट पाय गोपाल को बाल सनेह के गाँसनि सो गँसि जाती।
दौरि दरीची के सामुहें ह्वै दृग जोरि सो भौंहन में हँसि जाती।
दास जू जानत कोऊ कहूँ तन में मन में छबि में बसि जाती।
प्यारे की तारे कसौटिन में अपनी छबि कंचन सी कसि जाती ।।३०।।

बाग के बगर अनुराग रली देखति ही
सुखमा सलोनी सुमनावलि अछेह की।
द्वार लगि जाती फेरि ईठि ठहराती बोलै
औरनि रिसाती माती आसव अदेह की।
दास अब नीके ऊभि भरति उसाँसु री सु
बाँसुरी की धुनि प्रति पाँसुरी में बेह की।
ग्राँसी गाँसी नेह की बिसानी झर मेह की
रही न सुधि तेह की न देह की न गेह की ।।३१।।

कहि कहि प्यारी अबै चढ़ती अटारिन पै
काहि अवलोक्यो यह कैसो भयो ढंग है।
औरै ओर तकति चकति उचकति दास
खरी सखि पास पै न जानै कोउ संग है।

थकि रही दीठि पग परत धरनि नीठि
रोमनि उमग भो बदलि गयो रंग है।
नैन छलकोहैं बर बैन बलकोहैं औ
कपोल फलकोहैं झलकोहैं भये अंग हैं ॥३२॥

आली दौरि दरस दरस लेहि लेरी इन्दु-
बदनी अटा में नँदनन्द भूमि थल में।
देखादेखी होतही सकुच छूटी दुहुन की
दोऊ दुहूँ हाथनि बिकाने एक पल में।
दुहूँ हिय दास खरी अरी मैन सर गाँसी
परी दिढ़ प्रेम फाँसी दुहुँन के गल में।
राधे नैन पैरत गोबिन्द तन पानिप में
पैरत गोविन्द नैन राधे रूप जल में ॥३३॥

जाति में होति सुजाति कुजाति न काननि फोरि करी अधसाँसी।
केवल कान्ह की आस जियों जग दास करो किन कोटिन हाँसी।
नारि कुलीन कुलीननि सें रमै में उनमें चह्यो एकन आँसी।
गोकुलनाथ के हाथ बिकानी हौं वे कुलहीन तौ हौं कुलनासी ॥३४॥

क्यों चलि फेरि बचायो न क्योहूँ कहा बलि बैठे बिचारो बिचारनि।
धीर न कोऊ धरै बलबीर चढ्यो बृजनीर पहार पगारनि।
दास जू राख्यो बड़े बरखा जिहि छाँह में गोकुल गाइ गुआरनि।
छैल जू सैल सो बूड़यो चहै अब भावती के अँसुआन के धारनि ॥३५॥

आरज आइबो आली कह्यो, भजि सामुहें तें गई ओट में प्यारी।
एकहि एड़ी महावर दै श्रम तें दुहुँ फैली खरी अरुनारी।
दास न जानै धौं कौन है दीबो, चितै दुहुँ पाँइन नाइन हारी।
आप कह्यो अरी दाहिनै दै मोंहि जानि परै पग बाम है भारो ॥३६॥

आरसी को आँगन सुहायो मन भायो,
नहरन में भरायो जल उज्वल सुमन माल।
चाँदनी विचित्र लखि चाँदनी बिछौने पर,
दूरि कै सहेलिन को बिलसै अकेली बाल।

दास आसपास बहु भाँतिन बिराजैं धरे,
पन्ना पुखराज मोती मानिक पदिक लाल।
चन्द्र प्रतिबिम्ब तें न न्यारो होत मुख, औ
न तारे प्रतिबिम्बन तें न्यारो होत नगजाल ॥३७॥

बातें स्यामा स्याम की न कैसी अब आली,
स्यामस्यामा तकि भाजें स्यामा स्याम सों जकी रहै।
अब तो लखोई करें स्यामा को बदन स्याम,
स्याम के बदन लागी स्यामा की टकी रहै।
दास अब स्यामा के सुभाय मद छाकै स्याम,
स्यामा स्याम सोभन के आसव छकी रहै।
स्यामा के बिलोचन के हैं री स्याम तारे अरु,
स्यामा स्याम लोचन की लोहित लकीर है ॥३८॥

काहू कह्यो आइ कंसराय के मिलाइबे को,
लेन आयो कान्ह कोऊ मथुरा अलंग तैं।
त्यों ही कह्यो आली सो तो गयो वह अब,
दैव मिलै हम कहाँ ऐसो मूढ़ बिन ढंग तैं।
दास कहै ता समै सोहागिन को कर भयो,
बलयावलित दुहूँ बातन प्रसंग तैं।
आधिक दरकि गईं बिरह की छामता तैं,
आधिक तरकि गईं आनँद उमंग तैं ॥३९॥

पद्माकर

(सं० १८१०-१८९०)

पद्माकर रीतिकाल के अन्तिम आचार्य-कवि माने जाते हैं। एक आश्रयदाता की प्रशंसा में लिखे गये निम्न छंद में उन्होंने अपना परिचय स्वयं दिया है--

भट्ट तिलँगाने को बुँदेलखंड वासी, नृप,
सुजस प्रकासी पद्माकर सुनामा हौं।
जोरत कवित्त छंद छप्पय अनेक भाँति,
संस्कृत प्राकृत पढ़ो जु गुन ग्रामा हौं।
हय रथ पालकी गयंद गृह ग्राम चारु,
आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं।
मेरे जान मेरे तुम कान्ह हौ जगतसिंह,
तेरो जान तेरो वह विप्र मैं सुदामा हौं।।

यह आत्मपरिचय यथार्थ है। अपने समय के कवियों में पद्माकर ने वास्तव में सर्वोच्च ख्याति पायी। उनका प्रारंभिक विकास सागर और बाँदा में हुआ तथा देहावसान कानपुर में गंगातट पर। अपने जीवन-काल में उन्होंने सागरनरेश राघोबा अर्जुनसिंह, दतियानरेश महाराज पारीक्षत, रजधान के गोसाईं हिम्मत-बहादुर, सितारानरेश रघुनाथराव, सवाई महाराज प्रताप सिंह, जगत-सिंह तथा ग्वालियरनरेश दौलतराव सिंधिया प्रभृति अनेक आश्रयदाताओं के दरबार को राजकवि के रूप में सुशोभित किया और उनकी प्रशंसा में हिम्मत-बहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद तथा आलीजाप्रकाश जैसे कई ग्रंथों

की रचना की। दरबारदारी से पद्माकर की आत्मा को पूर्ण संतोष नहीं मिला क्योंकि जिस कवि को राजसी वेश-भूषा और लाव-लश्कर के कारण लोग भ्रांतिवश राजा समझ लेते थे और उसे 'हम कविराज हैं प्रताप महाराज के।' कह कर गर्वित स्वर में प्रतिवाद करना पड़ा था, उसी को चरखारीनरेश के द्वार से अपमानित होकर साभिमान 'तुम महाराज हौ तौ हम कविराज हैं।' कहते हुए वापस लौटना पड़ा। जीवन के अन्तिम दिनों में कवि को कुष्ट रोग ने भी पीड़ित किया और किंवदन्ती के अनुसार उसने 'गंगालहरी' लिख कर उससे मुक्ति पायी। इससे पूर्व रचित 'प्रबोध पचासा' जैसी कृति से प्रतीत होता है कि कवि में परलोकोन्मुखी वृत्ति पहले से जागरूक हो गयी थी। पद्माकर ने हितोपदेश का एक गद्यपद्यात्मक अनुवाद भी किया है। इन रचनाओं के अतिरिक्त भी कहा जाता है कि उन्होंने रामरसायन, अश्वमेधभाषा, अर्जुनरायसा तथा सवाईजयसिंह विरुदावली इत्यादि का निर्माण किया। कृतियों के देखने से कवि की बहुमुखी प्रतिभा और समृद्ध काव्य-शक्ति का अनुमान सहज ही हो जाता है।

पद्माकर उन कवियों में से हैं जिनके व्यक्तित्व में वीरकाव्य और रीतिकाव्य दोनों की परम्पराओं का संगम हुआ है। उनकी हिम्मतबहादुर बिरुदावली वीर-काव्यों की शैली में लिखी गयी रचना है जबकि पद्माभरण तथा जगद्विनोद आदि रीतिग्रंथ हैं। अनुप्रासों का आवेगमय प्रयोग, ओजस्विता से मिश्रित प्रसाद, भाषा की अपेक्षा भावों का अकृत्रिम प्रवाह, निरंकुश शब्दनिर्माण तथा रूढ़िग्रस्त वस्तु वर्णन उनकी कविता की प्रमुख विशेषताएँ कही जा सकती हैं। जहाँ भाषा और भाव सहज रूप में ढल सके हैं वहाँ पद्माकर की रचनाएँ असाधारण सौन्दर्य से भर गयी हैं और अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से भी अधिक आकर्षक प्रतीत होती हैं किन्तु उनके काव्य में साधारणता के तत्व भी कम नहीं मिलते। उनके समय तक आते-आते रीतिकाव्य की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होने लगी थीं फिर भी पद्माकर को अतिशय लोकप्रियता प्राप्त हुई जो उनकी काव्य-साधना की सफलता का उद्घोष करती है।

संकलन

जाहिरै जागति सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह बेनी।
त्यों 'पद्माकर' हीर के हारनि गंग तरंगन कों सुखदेनी।
पायन के रंग सों रंगि जाति सी भाँति ही भाँति सरस्वति सेनी।
पैरै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल में होति त्रिबेनी ॥१॥

आई खेलि होरी घरै नवलकिसोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगंधिनि झकोरै है।
कहै 'पदुमाकर' इकंत चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारन तें फंद बंद छोरै है।
घाँघरे की घूमनि सु ऊरुन दुबीचे दाबि,
आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि अधर दाबि दूनरि भई सी चापि,
चौवर पचौवर के चूनरि निचोरै है॥२॥

सोभित स्वकीया गन गुन गनती में तहाँ,
तेरे नाम ही की एक रेखा रेखियतु है।
कहै 'पदुमाकर' पगी यों पति प्रेम ही में,
पदुमिनि तो सी तिया तू ही पेखियतु है।
सुबरन रूप जैसो तैसो सील सौरभ है,
याही तें तिहारो तन धन्य लेखियतु है।
सोने में सुगंध न सुगंध में सुन्यो री सोनो,
सोनो औ सुगंध तो में दोनों देखियतु है॥३॥

खेद को भेद न कोऊ कहै अरु आँखिन हूँ अँसुवान को धारो।
त्यों 'पदुमाकर' देखती हौ तनकौ तन कंप न जात सँभारो।
ह्वै धौं कहा को कहा गयो यों दिन द्वैक ही तें कछु ख्याल हमारो।
कानन में बसी बाँसुरी की धुनि प्रानन में बस्यो बाँसुरीवारो॥४॥

पीतम के संग ही उमगि उड़ि जैबे कों,
न एती अंग-अंगनि परंद पखियाँ दई ।
कहै पदमाकर जे आरती उतारें चौंर ढ़ारें,
श्रम हारें पै न ऐसी सखियाँ दई ।
देखि दृग द्वै ही सों न नेक हू अघैये,
इन ऐसे झुकाझुक में झपाक भखियाँ दई ।
कीजै कहा राम स्याम-आनन बिलोकिबे कों,
बिरचि बिरंचि न अनंत अँखियाँ दई ।।५।।

भाल पै लाल गुलाल गुलाल सों गेरि गरे गजरा अलबेलो ।
यों बनि बानिक सों पद्माकर आये जु खेलन फाग तौ खेलौ ।
पै इक या छबि देखिबे के लिये मो बिनती कै न झोरिन झेलौ ।
रावरे रंग-रँगी अँखियान में ए बलबीर अबीर न मेलौ ।।६।।

गोकुल के कुल के, गली के गोप गाँवन के,
जौ लगि कछू-को-कछू भारत भनैं नहीं ।
कहै पदमाकर परोस-पिछवारन तैं,
द्वारन तें दौरि गुन-औगुन गनैं नहीं ।
तौ लौं चलि चातुर सहेली आइ कोऊ कहूँ,
नीके कै निचोरै ताहि करत मनै नहीं ।
हौं तौ स्याम-रंग में चुराइ चित चोराचोरी,
बोरत तौ बोर्‌यौ पै निचोरत बनै नहीं ।।७।।

जब लौं घर को धनी आवै घरै तब लौं तौ कहूँ चित देबौ करो ।
पदमाकर ये बछरा अपने बछरान के संग चरैबो करो ।
अरु औरन के घर तें हम सों तुम दूनी दुहावनी लेबौ करो ।
नित साँझ-सबेरे हमारी हहा हरि ! गैया भला दुहि जैबौ करो ।।८।।

आरस सों आरत सँभारत न सीस-पट,
गजब गुजारत गरीबन की धार पर ।
कहै पदमाकर सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर ।

छाजति छबीली छिति छहरि छरा को छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दिर के द्वार पर ।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरै,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर ॥९॥

हौं अलि आज बड़े तरके भरि कै घट गोरस कौं पग धारी ।
त्यों कब को धौं खर्‌यो री हुती पदमाकर मो हित मोहनिवारी ।
साँकरी खोरि में काँकरी की करि चोट चलो फिर लौटि निहारी ।
ता खिन तें इन आँखिन तें न कढ़्यो वह माखन चाखनहारी ॥१०॥

है नहिं माइको मेरी भटू यह सासुरो है सब की सहिबो करौ ।
त्यों पदमाकर पाइ सोहाग सदा सखियान हु कों चहिबो करौ ।
नेह-भरी बतियाँ कहि कै नित सौतिन की छतियाँ दहिबो करौ ।
चंदमुखी कहें होती दुखी तौ न कोऊ कहैगो सुखी रहिबो करौ ॥११॥

फागुन में का गुन बिचारि ना दिखाइ देत,
एती बार लाई उन कानन में नाइ आउ ।
कहै पदमाकर हितू जौ है हमारी,
तौ हमारे कहे बीर वहि धाम लगि धाइ आउ ।
जोरि जो धरी है बेदरद के दुआरे होरी,
मेरी बिरहागि की उलूकन लौं लाइ आउ ।
एरी इन नैनन के नीर में अबीर घोरि,
बोरि पिचकारी चित-चोर पै चलाइ आउ ॥१२॥

सजि ब्रज चंद पै चली यों मुखचंद जा को,
चंद चाँदनी को मुख मंद-सो करत जात ।
कहै पदमाकर त्यों सहज सुगंध ही के,
पुंज, वन-कुंजन में कंज-से भरत जात ।
धरति जहाँई-जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ-सी ढरत जात ।
हारन तें हीरे ढरें सारी के किनारन तें,
बारन तें मुकुता हजारन झरत जात ॥१३॥

सौ दिन को मारग तहाँ कौं बेगि माँगि बिदा,
प्यारी पदमाकर प्रभात राति बीते पर ।
सो सुनि पियारी पिय-गमन बराइबे कौं,
आँसुन अन्हाई बैठि आसन सु तीते पर ।
बालम बिदेस तुम जात हौ तौ जाउ पर
साँची कहि जाउ कब ऐहौ भौन-रीते पर ।
पहर के भीतर कै दो पहर भीतर ही,
तीसरे पहर कैधौं साँझ ही बितीते पर ॥१४॥

साँझ के सलोने घन सबुज सुरंगन सों,
कैसे कै अनंग अंग-अंगनि सताउतौ ।
कहै पदमाकर झकोर झिल्ली-सोरन को,
मोरन को महल न कोऊ मन ल्याउतौ ।
काहू बिरही की कही मानि लेतौ जो पै दई,
जग में दई तौ दयासागर कहाउतौ ।
पावस बनायो तौ न बिरह बनाउतौ,
जौ बिरह बनायो तौ न पावस बनाउतौ ॥१५॥

राधिका सों कहि आई जु तू सखि साँवरे की मृदु मूरति जैसी ।
ता छिन तें पदमाकर ताहि सुहात कछू न बिसूरति वैसी ।
मानहु नीर-भरी घन की घटा आँखिन में रही आनि उनै-सी ।
ऐसी भई सुनि कान्ह-कथा जु बिलोकहिगी तब होइगी कैसी ॥१६॥

ऐहै न फेरि गई जो निसा तनु-यौवन है घन की परछाहीं ।
त्यों पदमाकर क्यों न मिलै उठि यों निबहैगो न नेह सदा हीं ।
कौन सयान जो कान्ह सुज़ान सों ठानि गुमान रही मन माहीं ।
एक जु कंज-कली न खिली तौ कहा कहूँ भौंर कों ठौर है नाहीं ॥१७॥

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलिन-कलीन किलंकत है ।
कहै पदमाकर परागन में पौन हूँ में,
पानन में पिक में पलासन पगंत है ।

द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है ।
बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरो बसंत है ॥१८॥

और भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
और डौर झौरन में बौरन के ह्वै गये ।
कहै पदमाकर सु औरै भाँति गलियान,
छलिया छबीले छैल औरै छबि छ्वै गये ।
औरे भाँति बिहंग-समाज में आवाज होति,
ऐसे ऋतुराज के न आन दिन द्वै गये ।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग,
औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गये ॥१९॥

पात बिन कीन्हे ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं ।
कहै पदमाकर बिसासी या बसंत के,
सु ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं ।
ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भले
हरि सों, हमारे ह्याँ न फूले बन-कुंज हैं ।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अंगारन के पुंज हैं ॥२०॥

मल्लिकन मंजुल मलिंद मतवारे मिले,
मंद-मंद मारुत मुहीम मनसा की है ।
कहै पदमाकर त्यों नदन नदीन नित,
नागर नवेलिन की नजर नसा की है ।
दौरत दरेरौ देत दादुर सु दुंदे दीह,
दामिनी दमंकत दिसान में दसा की है ।
बहलनि बुंदनि बिलोकौ बगुलान बाग,
बंगलान बेलिन बहार बरसा की है ॥२१॥

चंचला चमाकैं चहूँ ओरन तें चाह-भरी,
चरजि गई तो फेरि चरजन लागी री।
कहै पदमाकर लवंगन की लोनी लता,
लरजि गई तो फेरि लरजन लागी री।
कैसे धरौं धीर बीर त्रिविध समीर तन,
तरजि गई तो फेरि तरजन लागी री।
घुमड़ि घमंड घटा घन की घनेरी अबै,
गरजि गई तो फेरि गरजन लागी री ॥२२॥

गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं चिक हैं चिरागन की माला हैं।
कहै पदमाकर त्यों गजक गिजा है सजी,
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं ॥२३॥

या अनुराग की फाग लखौं जहँ राँगती राग किसोर-किसोरी।
त्यों पदमाकर घाली धली फिरि लाल ही लाल गुलाल की झोरी।
जैसी कि तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि-रंग में बोरी।
गोरिन के रँग भीजिगो साँवरो साँवरे के रँग भीजिगै गोरी ॥२४॥

बछरै खरी प्यावै गऊ तिहि को पदमाकर को मन लावत है।
तिय जानि गिरैयाँ गही बनमाल सु ऐंचे लला इँच्यो आवत है।
उलटी करि दोहनी मोहनी की अँगुरी थन जानि के दावत है।
दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है ॥२५॥

फाग के भीर अभीरन में गहि गोबिंद लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीन पितंमर कंमर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिरि आइयौ खेलन होरी ॥२६॥

मोहि लखि सोवत बिथोरि गो सुबेनी बनी,
तोरि गो हिये को हरा छोरि गो सुगैया को।
कहै पदमाकर त्यों घोरि गो घनेरो दुख,
बोरि गो बिसासी आज लाज ही की नैया को।
अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास यहै,
सोवत खरी मैं परी जोवत जुन्हैया को।
बूझैंगी चवैया तब कैहौं कहा दैया, इत
पारि गो को मैया मेरी सेज पै कन्हैया को ।।२७।।

एकै संग धाये नंदलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगनि गये जु भरि आनँद मढ़ै नहीं।
धोइ-धोइ हारी पदमाकर तिहारी सौंह,
अब तौ उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसी करौं, कहाँ जाउँ, का सों कहौं, कौन
सुनै, कोऊ तौ निकासौ जा सौं दरद बढ़ै नहीं।
एरी मेरो बीर जैसे-तैसे इन आँखिन तें,
कढ़िगो अबीर पै अहीर तो कढ़ै नहीं ।।२८।।

दूर ही तें देखत बिथा मैं वा बियोगिनि की,
आई भले भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवैगी।
कहै पदमाकर सुनो हो घनस्याम, जाहि
चेतत कहूँ जो एक आहि कढ़ि आवैगी।
सर-सरितान कों न सूखत लगैगी देर,
एती कछू जुलमिनि ज्वाला बढ़ि आवैगी।
ता के तन-ताप की कहौं मैं कहा बात, मेरे
गातहि छुवौ तौ तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी ।।२९।।

आई संग आलिन के ननँद-पठाई नीठि,
सोहति सोहाई सीस ईंगुरी सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह-अँटकी।

ताही समै मोहन सु बाँसुरी बजाई,
ता में मधुर मलार गाई और बंसीवट की।
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की ॥३०॥

ए ब्रजचंद गोविंद गोपाल सुन्यो न क्यों केते कलाम किये मैं।
त्यों पदमाकर आनँद के नँद हौ नँदनंदन जानि लिये मैं।
माखनचोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिये मैं।
दूरि ही दौरि दुरे जो चहौ तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं ॥३१॥

चितै-चितै चारों ओर चौंकि-चौंकि परै, त्यों ही
जहाँ-तहाँ जब-तब खटकत पात हैं।
भाजन-सो चाहत, गँवार ग्वालिनी के कछू,
डरनि डराने-से उठाने रोम गात हैं।
कहै पदमाकर सु देखि दसा मोहन की,
सेष हु महेस हु सुरेस हु सिहात हैं।
एक पाय भीत एक पाय मीत-काँधे धरे,
एक हाथ छीको एक हाथ दधि खात हैं ॥३२॥

प्रानन के प्यारे तन-ताप के हरनहारे,
नंद के दुलारे ब्रजवारे उमहत हैं।
कहै पदमाकर उरूजे उर-अंतर यों,
अंतर चहें हूँ जे न अंतर चहत हैं।
नैननि बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं रोम-
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधो वै गोविन्द कोऊ और मथुरा में यहाँ,
मेरे तो गोविंद मोहिं-मोहिं में रहत हैं ॥३३॥

ए हो नन्दलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ जोरी जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तौ ये झकोरे लगें,
ओरे-लौं अचाक बिन घोरे घुरि जायगी।

सीरे उपचारन घनेरे घनसारन को,
देखत ही देखौ दामिनी-लौं दुरि जायगी ।
तौ ही लग चैन जौ लौं चेती है न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी ।।३४।।

बकसि बितुंड दये झुंडन के झुंड रिपु–
मुंडन की मालिका दई ज्यों त्रिपुरारी को ।
कहै पदमाकर करोरन को कोष दये,
षोड़स हूँ दीन्हें महादान अधिकारी को ।
ग्राम दये धाम दये अमित अराम दये,
अन्न-जल दीन्हें जगती के जीवधारी को ।
दाता जयसिंह दोय बात तौ न दीनी कहूँ,
बैरिन को पीठि और डीठि परनारी को ।।३५।।

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै, ताहि
तुरत लुटावत बिलंब उर धारै ना ।
कहै पदमाकर सुहेममय हाथिन के,
हलके हजारन के बितरि बिचारै ना ।
गंज-गज-बकस महीप रघुनाथराव,
याहि गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना ।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही,
गिरि तें गरें तें निज गोद तें उतारै ना ।।३६।।

कूरम पै कोल कोल हू पै सेष-कुंडली है,
कुंडली पै फबी फैल सुफन हजार की ।
कहै पदमाकर त्यों फन पै फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है छिति रजत-पहार की ।
रजत-पहार पर संभु सुरनायक हैं,
संभु पर ज्योति जटाजूट है अपार की ।
संभु-जटाजूटन पै चंद की छुटी है छटा,
चंद की छटान पै छटा है गंग-धार की ।।३७।।

करम को मूल तन तन-मूल जीव जग,
जीवन को मूल अति आनन्द को धरिवो।
कहै पदमाकर त्यों आनन्द को मूल राज,
राज-मूल केवल प्रजा को भौन भरिवो॥
प्रजा-मूल अन्न सब अन्नन को मूल मेघ,
मेघन को मूल एक जज्ञ अनुसरिबो।
जज्ञन को मूल धन, धन-मूल धर्म, अरु
धर्म-मूल गंगाजल-बिंदु पान करिवो॥३८॥

हौं तो पंचभूत तजिबे को तक्यौ तोहि पर,
तैं तो कर्‍यो मोहिं भलो भूतन को पति है।
कहै पदमाकर सु एक तन तारिबे में,
कीन्हें तन ग्यारह कहौ सो कौनि गति है।
मेरे भाग गंग बहै लिखी भागीरथी तुम्हैं,
कहिए कछुक तौ कितेक मेरी मति है।
एक भवसूल आयौं मेटिबे को तेरे कूल,
तोहि तौ त्रिसूल देत बार न लगति है॥३९॥

लोचन असम अंग भसम चिता को लाइ,
तीनों लोक नायक सो कैसे कै ठहरतो।
कहै पदमाकर बिलोकि इमि ढंग जाकै,
बेद हूँ पुरान गान कैसे अनुसरतो।
बाँधे जटाजूट बैठि परबत-कूट माँहि,
महाकालकूट कहौ कैसे कै ठहरतो।
पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगै, ऐसे
पूछतो को नंगै जो न गंगै सीस धरतो॥४०॥

लाइ भूमिलोक तें जसूस जबरई जाई,
जाहिर खबर करी पापिन के मित्र की।
कहै पदमाकर बिलोकि जम कहि कै,
बिचारौ तौ करम-गति ऐसे अपवित्र की।

जौं लौं लगे कागद बिचारन कछुक तौ लौं,
ता के कान परी धुनि गंगा के चरित्र की।
वा के सीस ही तें ऐसी गंगधार बही जामें,
बही-बही फिरी बही चित्र औ गुपित्र की ।।४१।।

धारत ही बन्यो ये ही मतो गुरु-लोगन को डर डारत ही बन्यो।
हारत ही बन्यो हेरि हियो, पदमाकर प्रेम पसारत ही बन्यो।
वारत ही बन्यो काज सबै अब यों मुखचंद उघारत ही बन्यो।
टारत ही बन्यो घूँघट को पट नंदकुमार निहारत ही बन्यो ।।४२।।

देखु पदमाकर गोबिंद की अमित छबि,
संकर समेत बिधि आनंद सों बाढ़ो है।
झिझिकत झूमत मुदित मुसुकात, गहि
अंचल को छोर दोऊ हाथन सों आढ़ो है।
पटकत पाँव होत पैंजनी झुनुक रंच,
नेक-नेक नैनन तें नीर-कन काढ़ो है।
आगे नंदरानी के तनिक पय पीवे काज,
तीनि लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है ।।४३।।

कैधौं रूप रासि में सिंगार रस अंकुरित,
कंकुरित कैधौं तम जड़ित जुन्हाई में।
कहै पदमाकर किधौं यों काम कारीगर,
नुकता दियो है हेम फरद सुहाई में।
कैधों अरविंद में मलिंदसुत सोयो आनि,
कैधों तिल सोहत कपोल की लुनाई में।
कैधौं पर्‌यो इंदु में कलिंदी जल बिंदु कैधौं,
गरक गुविंद भयो गोरी की गुराई में ।।४४।।

ऐसी न देखी सुनी सजनी घनी बाढ़ति है जो वियोग की बाधा।
त्यों 'पदमाकर' मोहन को तबते कल है न कहूँ पल आधा।
लाल गुलाल घलाघल में दृग ठोकर दै गई रूप अगाधा।
कैगई कैगई चेटक सो मन लैगई लैगई लैगई राधा ।।४५।।

आवत उसासी, दुख लगै और हाँसी सुनि,
दासी उर लाय कहौ को नहि दहा कियो ।
कहै 'पदमाकर' हमारे जान ऊधौ उन,
तात को न मात को न भ्रात को कहा कियो ।
कंकालिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी,
चेटकन चेरी ताके चित्त को चहा कियो ।
राधे की कहनि कहि दीजो तुम मोहन सों,
रसिक सिरोमणि कहाय ये कहा कियो ।।४६।।

ये इत घूँघट घालि चलैं उत वे जब बाँसुरी की धुनि खोलैं ।
त्यों 'पदमाकर' ये इतै गोरस लै निकसैं व चुकावत मोलैं ।
प्रेम के फंदे सु प्रीति की पैंठ में पैठत ही है दसा यह जो लैं ।
राधामई भई श्याम की सूरत श्याममई भई राधिका डोलैं ।।४७।।

वाही के रँगी है रँग वाही के पगी है मग,
वाही के लगी है सँग आनँद अगाधा को ।
कहै 'पदमाकर' न चाह तजि नेकु दृग,
तारन ते न्यारो कियो एक पल आधा को ।
ताहू पै गोपाल कछु ऐसे ख्याल खेलत हैं,
मान मोरिबे की देखिबे की करि साधा को ।
काहू पै चलाय चख प्रथम खिझावै,
फेरि बाँसुरी बजाय कै रिझाय लेत राधा को ।।४८।।

साहस हूँ न कहूँ दुख आपनो भाखे बनै न बनै बिनु भाखैं ।
त्यों 'पदमाकर' यों मग मैं रँग देखति हौं कब की रुख राखैं ।
वा विधि साँवरे रावरे की न मिलै मरजी न मजा न मजाखैं ।
बोलनि बानि विलोकनि प्रीति की वे मन वे न रही अब आँखैं ।।४९।।

गोकुल के कुल को तजि कै भजि कै बन वीथिन में बढ़ि जैये ।
त्यों 'पदमाकर' कुंज कछार विहार पहारन में चढ़ि जैये ।
हैं नँदनंद गोविंद जहाँ तहाँ नंद के मंदिर में मढ़ि जैये ।
यों चित चाहत एरी भटू मन मोहनै लैकै कहूँ कढ़ि जैये ।।५०।।

ब्रजमंडली देखि सबै पदुमाकर ह्वै रही यों चुपचाप री है।
मनमोहन की बहियाँ में छुटी उलटी यह बेनी दिखा परी है।
मकराकृत कुंडल की झलकें इतहूँ भुजमूल में छाप री है।
इनको उनतें जो लगीं अखियाँ कहिये कछू तौ हमें का परी है।।५१।।

मो बिन माई न खाय कछू 'पदमाकर' त्यों भई भाभी अचेत है।
बीरन आये लिवाइबे कों तिनकी मृदु वानिहू मानि न लेत है।
पीतम कों समुझावती क्यों नहीं ये सखी तू जु पै राखति हेत है।
और तो मोहि सबै सुख री दुख री यह मायके जान न देत है।।५२।।

हौं अलि आजु बड़े तरके भरिकै घट गोरस को पग धारो।
त्यों कबको धौं खरोइ हुतो 'पदुमाकर' मोहत मोहनी वारो।
साँकरी खोरि में काँकरि की करि चोट चल्यो फिरि लौटि निहारो।
ता खन ते इन आँखन ते न टर्‌यो वह माखन चाखन हारो।।५३।।

खेलिये फाग निसंक ह्वै आज मयंकमुखी कहैं भाग हमारो।
लेहु गुलाल दुहूँ कर में पिचकारिन रंग हिये महँ मारो।
भावै तुमै सो करो मोहिं लाल पै पाँय परौं जिन घूँघट टारो।
बीर की सौं हम देखिहैं कैसे अबीर तौ आँखें बचाय कै डारो।।५४।।

चंदकला चुनि चूनरी चारु, दई पहिराइ लगाइ सु रोरी।
बेंदी बिसाखा रची 'पदुमाकर', अंजन आँजि समाज करोरी।
लागी जबै ललिता पैहराँमन, स्याम कों कंचुकी केसरि-बोरी।
हेरि हरें मुसिकाइ रही, अँचरा मुख दै वृषभान किसोरी।।५५।।

घर ना सुहात ना सुहात बन बाहर हूँ,
बाग ना सुहात जे खुशाल खुशबोही सों।
कहै 'पदमाकर' घनेरे धन धाम त्यों ही,
चंद न सुहात चाँदनी हूँ जोग जोही सों।
साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछू,
व्यापी यह बात सो बखानत हौं तो ही सों।
राति ना सुहात ना सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों।।५६।।

मोहि तजि मोहनै मिल्यौ है मन मेरो दौरि
नैन हूँ मिलै हैं देखि देखि साँवरो शरीर।
कहै पदमाकर त्यौं कानमय कान भये,
हौं तौ रही जकि थकि भूली सो भ्रमी सी बीर।
ये तौ निरदई दई इनको दया न दई,
ऐसी दशा भई मेरी कैसे धरौं तन धीर।
हो तो मन हूँ के मन नैनन के नैन जो पै,
प्रानन के प्रान तो पै जानते पराई पीर।।५७।।

ईश की दुहाई शीशफूल तें लटकि लट,
लट तें लटकि लट कंध पै ठहरिगो।
कहै पदमाकर सुमंद चलि कंध हूँ तैं,
भूमि भ्रमि भाँई-सी भुजा में त्यों भभरिगो।
भाँई सी भुजा तें भ्रमि आयो गोरी गोरी बाँह,
गोरी बाँह हू तें चापि चूरिन में अरिगो।
हेरे हरें हरें हरी चूरिन तें चाहौं जौ लौं,
तौ लौं मन मेरो बौरि तेरे हाथ परिगो।।५८।।

'बोलति न काहे' एरी,' पूछे बिन बोलौं कहा',
पूछति हौं 'कहा भई भेद अधिकाई है'।
कहै पदमाकर 'सुमारग के गये आये',
'साँची कहु मों सो कहाँ आजु गई-आई है'।
'गई-आई हौं तो साँवरे के पास' 'कौन काज',
'तेरे काज ल्यावन सु तेरी हौं दुहाई है'।
'काहे ते न ल्याई फिरि मोहन बिहारी जू कों',
'कैसे बाको ल्याहूँ' 'जैसे वाको मन ल्याई है' ।।५९।।

लागत बसंत के सु पाती लिखी प्रीतम कों,
प्यारी परबीन है हमारी सुधि आनबी।
कहै पदमाकर इहाँ को यों हवाल,
बिरहानल को ज्वाल सो दवानल ते मानवी।

अब को उसासन को पूरो परगास सो तौ,
निपट उसास पौन हू ते पहिचानबी।
नैनन को ढंग सो अनंग पिचकारिन तें,
गातन को रंग पीरे पातन तें जानबी॥६०॥

बेनी प्रवीन

(काव्यकाल सं० १८७४ के लगभग)

ब्रजभाषा काव्य में बेनी प्रवीन की ख्याति का आधार उनका रीति परम्परा में लिखा हुआ 'नवरसतरंग' नामक ग्रंथ है। ग्रंथ के नाम से अनुमान होता है कि कवि ने सुप्रसिद्ध नौ रसों का सम्यक् निरूपण किया होगा परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। रीतिकाल के अन्य कवियों की तरह बेनी प्रवीन ने भी शृंगाररस को सर्वोपरि मानते हुए उसी का विस्तार नायक-नायिका-भेद के रूप में इस ग्रंथ में किया है। अन्य रसों का तो कुछ थोड़े से छंदों में उल्लेख मात्र मिलता है। इसी तरह रसभेद और भावभेद का भी संक्षेप में ही निरूपण हुआ है। दूती, अभिसारिका तथा ऋतु वर्णन के पद्य अधिक रसमय हैं। भाषागत प्रौढ़ता और भावगत सरसता की दृष्टि से वे मतिराम और पद्माकर के समकक्ष माने जाते हैं जो प्रायः उचित ही है।

बेनी प्रवीन लखनऊ निवासी वाजपेयी थे और उस समय के बादशाह गाजी-उद्दीन हैदर के दीवान के पुत्र 'ललनजी' के आश्रित थे। उन्हीं की आज्ञा से 'नवरस तरंग' का निर्माण हुआ। बाद में कवि कुछ समय के लिए विठूर निवासी पेशवा नाना राव के आश्रय में रहा जहाँ उसने 'नानाराव प्रकाश' के नाम से एक अलंकार-ग्रंथ की रचना की। 'शृंगार भूषण' नामक ग्रंथ उपर्युक्त दोनों ग्रंथों से पूर्व की अर्थात् प्रारंभिक रचना है। 'प्रवीन' कवि की उपाधि थी जो उन्हें दूसरे 'भंडौआ' रचने वाले बेनी कवि द्वारा प्राप्त हुई थी। बेनी प्रवीन का शरीरान्त आबू में हुआ। अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने काव्य साधना में ही व्यतीत किया और कुछ ऐसे मुक्तक रच गये जो ब्रजभाषा प्रेमियों को चिरस्मरणीय रहेंगे।

संकलन

उन चूनरी लै पहिरी उनकी, उन मोर पखान की लै कुलही।
उनके मुकतान की माल लसी, उनकी कटि पीत पटी उलही।
वह झाँझरी बेनी प्रवीन घनी, दुरि देखिबे को दृग हौं जु लही।
दिन दूलह स्याम बने दुलही, अलि दूलह राति बनी दुलही ॥१॥

मोर की पाखें किरीट बन्यौ कछू, लाखें लगाई न नन्द घनेरे।
गोविंद एतो गरूर करौ गुन, कौन से बेनी प्रवीन अनेरे।
पीत पिछौरी कसे कटि में, घटि जानति औरनि आपुन नेरे।
चाकर चेरे परे चरवाहे हैं, ऐसे हमारे बबा के घनेरे ॥२॥

मालिन ह्वै हरवा गुहि देत, चुरी पहिरावैं बने चुरिहेरी।
नायनि ह्वै निरवारत केस, हमेस करें बनि जोगिनि फेरी।
बेनी प्रवीन बनाइ बिरी बरईनि, बने रहैं राधिका केरी।
नन्दकिसोर सदा वृषभान की पौरि पै ठाढ़े बिकैं बने चेरी ॥३॥

तरिहौं दृगनीरहिं आइहौं तीर, मिलै न मिलै, चाहे नावटीऊ।
घसिहौं घनसार पटीर मिलै, मिलै बात कहौ न बनावटीऊ।
यह बेनी प्रवीन है भोरी महा, न कहै विरहानल आवटीऊ।
लगे सीर समीर लला इत चाहिये एक उसीर की रावटीऊ ॥४॥

वै परैं पायन प्रेम पगे हँसि कण्ठ लगाइ, कहौ अछड़ैती।
वै पढ़ि पण्डित हैं छल में तुम, भौंह चढ़ावन मोह पँड़ैती।
क्यों न बराबरी वेनी प्रवीन की, जामे कछू बढ़िहौ न चड़ैती।
वै तो लड़ैते बड़े नँद के, तुम हूँ तौ बड़ी वृषभान-लड़ैती ॥५॥

मूरति मोहनी मोहन की लिखि लाई जहाँ सखियान की भीरैं।
बेनीप्रवीन बिलोकत राधिका, चित्र लिखी सी गई तेहि तीरैं।
जानी किसोरी किसोर की रीझ, सराहती है गुन ग्वालि गँभीरैं।
चित्त चितेरी रही चकि सी जकि, एकते ह्वै गईं द्वै तसबीरैं ॥६॥

एड़िन मीड़ि पखारि दोऊ पग, जावक रंग रँगे मनमाने।
बेनी प्रवीन रची सुचि केस, सुगन्ध कपोलन लौं कर आने।
बावरी सी भई रीझि सखी लखि, ऐसे कछू चतुरायन ठाने।
मेरेई रूप धरे मनमोहन, तेरी सौं राधिका तैं नहिं जाने।।७।।

भोरहिं आवत नौलकिसोर, विलोकत ही ललना उठि दौरी।
बेनी प्रवीन दोऊ कर सो गहि, गाढ़े कै लागि गई लड़बौरी।
जानै कहा ये अजानै सबै मैं, देखाइ हौं सखियान को औरी।
साँवरो रंग लगे हरि रावरो, साँवरी ह्वै गई पीत पिछौरी।।८।।

भोर ही न्यौति गई ती तुम्हें वह, गोकुल गाँउ की ग्वालिनि गोरी।
आधिक राति लौं बेनी प्रवीन, कहा ढिग राखि कियो बरजोरी।
आवै हँसी हमैं देखत लालन, भाल मैं दीन्ही महावर घोरी।
एते बड़े ब्रजमंडल मैं न मिली कहूँ माँगेहू रंचक रोरी।।९।।

आवत बोली न बोल कछू तिय, बैठि रही मन मान महा करि।
प्रान पियारी प्रिया किन बोलति, बेनी प्रवीन विलोकि कह्यो हरि।
क्यों हम प्रान पियारी प्रिया पिय, यों कह्यौ चाहति धीर हिये धरि।
मीन से नैनन ते ढरके ये, नदीन के मानो प्रवाह रहे भरि।।१०।।

गेह ते सनेह, मैं सिधारी स्याम सारी सजि,
रजनि अँधेरी न सजनि कोऊ साथ मैं।
बैठी जाइ सुन्दरि सहेट पिय भेंट हेत,
मदन धनुष सर लीन्हे जहाँ हाथ मैं।
बहति समीर सीर सुरभि प्रवीन बेनी,
यह मृगनैनी की कहा लौं कहौं गाथ मैं।
तनु तिन कुंजनि मैं दृग मग पुंजनि मैं,
मनु गल गुंजनि मैं प्रान प्राननाथ मैं।।११।।

सोभा पाई कुंज भौन जहाँ जहाँ कीन्हों गौन,
सरस सुगन्ध पौन पाये मधुपनि है।
वीथिन विथोरे मुकुताहल मराल पाये,
आलिन दुसाल साल पाये अनगनि है।

रैनि पाई चाँदनी फटक सी चटक रुख,
सुख पाये पीतम प्रवीन बेनी धनि है।
बैन पाये सारिका पढ़न लागी कारिका सी,
आई अभिसारिका कि चारु चिन्तामनि है।।१२।।

गरजि घुमंडि लै सकल महि मंडि लै तू,
दंडि बिरहीन को उमंडि अब ऐंठैगो।
दादुर पपीहा पीह दारुन देखाइ दुख,
मोरन को सोर तन तोर करि पैठेगो।
चपला कृपान बुन्द बान से प्रवीन बेनी,
सीतल समीर प्रान अधिक असैठैगो।
जारी हौं बसन्त की लेथारी मारी ग्रीषम की
पावस कलंक सीस तेरे चढ़ि बैठेगो।।१३।

खेलनि हँसनि बिहसनि हू विसरि रही,
परि रही जरद निसरि रही पाँसुरी।
साँसनि भरति हहरति सी हरिन नैनी,
नैननि ते ढरत रहति नित आँसुरी।
ध्यान कीन्हें कानन प्रवीन बेनी कानन ह्वै,
तानन की उर में रही है गड़ि गाँसुरी।
साँवरी गई है परि बानरी सी होन चाहै,
जबते सुनी है सखी साँवरे की बाँसुरी।।१४।।

घनसार पटीर मिलै मिलै नीर चहै तन लावै न लावै चहै।
न बुझै विरहागिनि झारि झरीहू चहै घन लावै न लावै चहै।
हम टेरि सुनावतीं बेनी प्रवीन चहै मन लावै न लावै चहै।
अब आवै विदेस ते पीतम गेह चहै धन लावै न लावै चहै।।१५।।

आनि कढ़ो यहि गैल भटू महि मंडल मैं अलबेलो न औरु है।
देखत रीझि रहीं सिगरी मुख माधुरी को जू कछू नहीं छोरु है।
बेनी प्रवीन बड़े बड़े लोचन बाँकी चितौन चलाँकी को जोरु है।
साँची कहैं ब्रजकी जुवती यह नन्दलड़ैतो बड़ो चितचोरु है।।१६।।

सकल सिंगार साजि राजि कै प्रवीन बेनी,
आगमन जानि प्रिय प्रेम प्रतिपालिका।
दमकत रदन मदन की उमंग अंग,
केलि के सदन बैठी वदन विसालिका।
नग जगमगत जगत जोति जोवन की,
सारी जरतारी अंग तैसी संग आलिका।
झलक मलक झलकत झाँई झाँझरीन,
मानो मनि महल समानी दीपमालिका ॥१७॥

भ्रकुटी धनु, बेसरि मोर मनो, मनि मानिक इंदु वधू जितु है।
द्युति दामिनि कोर हरी बन बेलि घटा घन घूँघट सो हितु है।
उमँगी रस बेनीप्रवीन रसाल भयो अब चातक सो चितु है।
हित रावरे नौलकिसोर लला अबला भई पावस की रितु है ॥१८॥

मेरी गही उन चूनरी मोहन मैं हूँ गह्यो उनको तब फेंटा।
मेरो गह्यो उनहार झपेटि कै मैं हूँ गही बनमाल झपेटा ॥
आजु लौं बेनीप्रवीन सही जे भई सखियान मैं घाल समेटा।
मोसों कह्यो अरी कौन की बेटी है, मैं हूँ कह्यो तू है कौन को बेटा ॥१९॥

घेरी अँधेरी घनी बदरी अब आवन चाहत है अति पानी।
पौन की ऐसी झकोर चली मग, ह्वैहैं रहे कहूँ छप्परछानी।
प्रान लै धाई निकुंज अली तैं, भली भई आइ गयी सुखदानी।
बेलि के धोखे गह्यो इन मोंहि, तमाल के धोखे इन्हें लपिटानी ॥२०॥

मंजन कै दृग अंजन दै मृग, खंजन की गति देखत भूली।
बेनी प्रवीन अभूषन अम्बर, सो ओऊ अंगन कै अनुकूली।
राधे को आजु सिंगार्‌यो सखी, न तिलोक की कोऊ तिया समतूली।
सोने की बेलि सुगन्ध समूह, मनौ मुकुता मनि फूलनि फूली ॥२१॥

और अभरन अब काहे को सजैगी बीर,
एकही में बाढ़ी अंग अंग छबि तुन्द है।
देखि देखि सौतिन रतन जुत जोतिन के,
छोरि छोरि बैठी तोरि रेशम के फुन्द है।

तेरी नथुनी के नीके मुकुता प्रवीन बेनी,
सोभा के सदन ऐसे बदन निमुंद है।
सरद ससीते रसि वसि न सकत केहू,
च्वैही पर्यो चहत सुधा के बिवि बुंद है॥२२॥

व्याली सी विषम बेनी आलिन बनाई जिन,
तिन सौं प्रवीनबेनी लीजै कछु कह है।
और मेरी रानी मुखचंद की कहानी सुनौ,
दिन ही में कीन्हे रहैं चाँदनी पसरु है।
कैसे कढ़ि सकैं बढ़ि कोठरी की पौरि आगे,
लिखि दीन्हों करम विरंचि या ही घरु है।
तुम बन बागन बिहार करौ मेरी बीर,
हमैं महा मोरन चकोरन को डरु है॥२३॥

तीरथ नहान मेरे घर के गए हैं सब,
मेरे आइबे को हमैं काहू सो न कहने।
गाढ़ो परे ठाढ़ो ढिग देहै न बटोही तोहि,
लोग निरमोही ह्याँ परैगी बात सहने।
साजिये रसोई ह्याँ विरागिए प्रवीनबेनी,
लाजिए न माँगत कछू जो तुम्हैं चहने।
द्वारे राम साला है, पिछारे बन माला है,
हबेली परी आला हैं अकेली मोहि रहने॥२४॥

चुन्नी से वरन चाँदनी में चमकत चक,
चौंधत चकोर चिनगी के चोप दूनरी।
चामीकर हू ते चाहि चौगुनी चमक चोखी,
चम्पक वरन चोली चुभी चंचु ऊनरी।
चन्द-मुख चन्द्रिका ते चकई चपति चित,
चोपत प्रवीनबेनी चैत-चन्द हूनरी।
चुई सी परति[1] चपला सी चै चपल, चख
चंचल चितौनि चटकीली चारु चूनरी॥२५॥

रमि रैन सबै अनतै बितई सो कियो इत आवन भोर ही को।
नहिं छूटत छैल छबीले लला जो सुभाव रह्यो परि छोर ही को।
हित प्रान है सोहन 'बेनी प्रवीन' कहो नित है उत ओर ही को।
तरवा सहरावन मेरे चले हरवा पहिराइ कै और ही को ॥५६॥

ग्वाल

(सं० १८४८-१९२५)

रीतिकाल के अन्तिम कवियों में 'ग्वाल' कवि का नाम सुविख्यात है। कुछ अंशों में वह कुख्यात भी है, क्यों कि ह्रास युगीन ब्रजभाषाकाव्य के प्राय: सभी लक्षण उनकी रचनाओं में सहज ही मिल जाते हैं फिर भी उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि है। उनका समस्त जीवन काव्य-रचना और दरबारदारी में व्यतीत हुआ।

इनका जन्म वृन्दावन में हुआ। कुछ ख्याति मिलने पर पंजाब में नाभा नरेश महाराज जसवंत सिंह के यहाँ चले गये फिर महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में, लाहौर पहुंचे जहाँ 'पजनेश' कवि के वे सफल प्रतिस्पर्धी सिद्ध हुए। पंजाब में अशान्ति होने पर ग्वाल पहाड़ी रियासतों का परिभ्रमण करने लगे। बाद में सुकेत मंडी नामक एक राज्य में स्थायीरूप से बस गये। जब वहाँ भी चित्त न लगा तो पुत्र-परिवार को वहीं छोड़ कर मथुरा चले आये और यमुना तट पर निवास करने लगे। ग्वाल कवि का रहन-सहन राजा-महाराजाओं जैसा ही था। मथुरा से राजस्थान का भ्रमण करते हुए टोंक रियासत गये। गदर के बाद इनकी मित्रता रामपुर के नवाब यूसुफअली खां से हो गयी। जीवन का अन्तिम समय रामपुर में ही बिताया और वहीं सं० १९२५ में स्वर्गवासी हुए। उनकी भ्रमणशील, स्वच्छन्द प्रकृति का परिचय निम्नलिखित छंद से मिलता है।

दिया है खुदा ने खूब, खुसी करो ग्वाल कवि,
खाव पियो, देव लेव, यही रह जाना है।
राजा राव उमराव, केते बादसाह भए,
कहाँ ते कहाँ को गए, लग्यो न ठिकाना है।

ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे,
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है।
आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहाँ
नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है।।

ग्वाल की भाषा कहीं कहीं फारसी-अरबी शब्दावली से बोझिल हो गयी है और कभी कभी तो उसमें कलात्मक सौन्दर्य एवं सुरुचि का सर्वथा अभाव मिलता है। विषय वस्तु की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। सूक्ष्म मार्मिक मनोभावों तक कदाचित् उनकी विशेष गति नहीं थी इसीलिए वैभव और विलास के स्थूल रूप का ही उन्होंने विशेष अंकन किया है। प्रारंभ से ही उनकी शैली पर पद्माकर का विशेष प्रभाव था। जमुना-लहरी की रचना गंगालहरी के आदर्श पर हुई है। शुक्ल जी ने उनकी अधिकाँश रचनाओं को 'बाज़ारी' कहा है। तथापि उनकी काव्य-रचना का क्षेत्र विशद था। उन्होंने पिंगल, रस, अलंकार आदि सभी विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं जिनकी संख्या ६० से भी अधिक कही जाती थी परन्तु नयी खोज के आधार पर उनकी प्रामाणिक रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं।

१. जमुना लहरी (सं० १८७९), २. रसिकानन्द (सं० १८७९), ३. हमीरहठ (सं० १८८१), ४. राधामाधव मिलन, ५. राधाष्टक (सं० १८८६), ६. श्रीकृष्ण जू का नखशिख (सं० १८८४), ७. नेहनिवाह, ८. बंसी लीला, ९. गोपी पच्चीसी, १०. कुब्जाष्टक, ११. कविदर्पण (सं० १८९१), १२. साहित्यानन्द (सं० १९०४), १३. रसरंग (सं० १९०४), १४. अलंकार-भ्रम भंजन, १५. प्रस्तार प्रकाश, १६. भक्तिपावन (इसका एक लघु संस्करण 'कवि हृदयविनोद' के नाम से प्रकाशित हो चुका है, रचनाकाल सं० १९२०)।

संकलन

आए पास कौन के हौ, भूले कौन भौन के हौ,
डगमग गौन के हौ, देह मौज-माँची है।
पाग-पेच ढीले भये, दृग उनमीले भये,
तऊ न लजीले भये, पाठी भली बाँची है।
'ग्वाल कवि' और न उपाय ब्रजराज अब,
जाउ-जाउ जहाँ चाउ, मैं तो यह जाँची है।
घर की जो मिसरी सो फीकी सी लगन लागै,
मीठौ गुड़ चोरी कौ, कहन यह साँची है ॥१॥

मेरे मन-भावन न आये सखि! सावन में,
तावन लगी है लता लरजि लरजि कै।
बूँदैं कबौं रूँदैं, कबौ धारैं हिय फारैं दैया!
बीजरी हू बारैं, हारी बरजि बरजि कै।
'ग्वाल कवि' चातकी परम पातकी सों मिलि,
मोर हू करत सोर तरजि तरजि कै।
गरजि गये जे घन, गरजि गये हैं भला,
फेर ए कसाई आये गरजि गरजि कै ॥२॥

गावैं गुन नारद, न पावैं पार सनकादि,
वंदीजन हारे, हरी मेधा मंजु सेस की।
दरस किये ते अति हरस सरस होत,
परमपुनीत होत पदवी सुरेस की।
'ग्वाल कवि' महिमा कही न परै काहू विधि,
बैठे रहि महिमा दसा है यों गनेस की।
जारक जमेस की, विदारक कलेस की है,
तारक हमेस की है तनया दिनेस की ॥३॥

अविधि सुरापी घोर तापी नीच पापी-मुख,
रबिजा तिहारी बूंद लघु अति ह्वै गई।
ताही छिन पल में अमल भल रूप भयो,
कुटिल कुढंग ताकी रेख-लेख ध्वै गई॥
'ग्वाल कवि' कीरति सुचीरति दिसान जाति,
दूतन की चित्र की चलाँकी-चित ख्वै गई।
चार मुख चन्द्रधर चाहत चितौत ताहि,
चारन के देखत ही चार भुज ह्वै गई॥४॥

ख्याल जमुना के लखि नाके भये चित्रगुप्त,
बैन करुना के बोलि मेरी मति ख्वै गई;
कौन गहै कर में कलम कौन काम करै,
रोस की दवाइति सों रोसनाई ध्वै गई।
'ग्वाल कवि' काहे ते न कान दै जमेस सुनौ,
नौकरी चुकाय कहाँ तेरी आँख स्वै गई;
लेखो भयो ड्योढ़ो रोजनामा को सरेखो भयो,
खाता भयो खतम फरद रद ह्वै गई॥५॥

आन भरी अधिक कृसान भरी पापिन को,
दान भरी दीरघ प्रमान मान कमुना।
तेज भरी मंजुल मजेज भरी, रीझभरी,
खीझ भरी दूतन को दाहै दौरि समुना।
'ग्वाल कवि' सुखद प्रतीते भरी रीति भरी,
परम पुनीत भरी मीत भरी भ्रमुना।
जंग भरी जमते, उमंग भरी तारिबे को,
रंग भरी तरल तरंग तेरी जमुना॥६॥

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस बीजन झलेहू ना सुखात स्वेद,
गात न सुहात, बात दावा सी डरापिनी।

'ग्वालकवि' कहै कोरे कुम्भन तें कूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेरि अब,
पीवत हूँ पीवत बुझै न प्यास पापिनी ॥७॥

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोरहू रही न धन धने या फरद की।
अम्बर अमल, सर सरिता बिमल भल,
पंक को न अंक औ न उड़नि गरद की।
'ग्वालकवि' चित में चकोरन के चैन भये,
पंथिन की दूर भई दूखन दरद की।
जल पर थल पर महल अचल पर,
चाँदी सी चमक रही चाँदनी सरद की ॥८॥

जेठ को न त्रास जाके पास ये बिलास होंय,
खस के मवास पै गुलाब उछर्यो करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के वरक भरे,
पेठे पाग केवरे में बरफ पर्यो करै।
'ग्वालकवि' चन्दन चहल में कपूर चूर,
चंदन अतर तर बसन खर्यो करै।
कंजमुखी कंजनैनी कंज के बिछौनन पै,
कंजन की पंखी करकंज तें कर्यो करै ॥९॥

तुम कैसी आई, मैं तौ दधि बेचि आवति ही,
नाहर निकसि आयौ बन बजमारे तें।
वा ने मैं न देखी, मैं अचक भजी चपकी सी,
धँसी मैं करीर की कुटी में डर भारे तें।
'ग्वालकवि' बेंदी गई छरा फँस्यौ, आँगी चली,
छिदे ये कपोल, देखो अति उरझारे तें।
आस ही न जीवन की, राम ने बचाय राखी,
मरु कै बची हों सास! धरम तिहारे तें ॥१०॥

राति है अँधेरी, फेरि द्वारन किवार दैया,
हेरी बहुबेरी, वह राह अति बंक री।
सास! तू पठावै लैन जामन सितावै अब,
जाएँ बनि आवै, पर काँपत है अंक री।
'ग्वाल कवि' गैयन की भीर माँहि जैबो-ऐबो,
दौरिकै उठैबो पग, लागत है संकरी।
अँगियाँ मसकि जैहै, बिंदुली खसकि जैहै,
तब तू दुखैहै, पैहै नाहक कलंक री॥११॥

यह लात चलावनी हाय दैया, हर एक को नाहिं छुहावनी है।
सुनी तेरी तरीफ मिलावनी की, हित तेरे सु माल पुहावनी है।
'कवि ग्वाल' चराइ लै आवनी ह्याँ, फिर बाँधनी पौरि सुहावनी है।
मनभावनी द्वैहौं दुहावनी मैं, यह गाय तुही पै दुहावनी है॥१२॥

आयो परदेस तें तिहारौ प्रानप्यारौ द्वार,
वे ही यह सोहें री तकत दिन जो तैं ही।
ए ही सुनि धाई, सुखदाई तें मिलन हेतु,
आइगे तहाँई री कन्हाई अंग जोतैं ही।
''ग्वाल कवि' भेंटति भुजा तें भुजा जोरि जोरि,
आँनद को नीर बह्यो प्यारी नैन-सोतैं ही।
मानो ब्याल विरह-वियोग ने डस्यो री हीय,
ताकौ विष झरत मिलाप-मंत्र होतैं ही॥१३॥

वारिधि तात, बड़े विधि ते सुत, सोम से बंधु सहोदर ओई।
रंभा रमा जिनकी भगिनी, मघवा मधुसूदन से बहनोई॥
तुच्छ तुसार, इतौ परिवार, भयो न सहाय कृपानिधि कोई।
सूखि सरोज गयो जल में, सुख सम्पति में सब को सब कोई॥१४॥

प्रीति कुलीनन सौं निबहै अकुलीन की प्रीति में अन्त उदासी।
खेलत खेल गयो अबहीं हमें योग पठाय बन्यो अविनासी।
त्यों 'कविग्वाल' बिरंचि विचारि कै जोड़ी जुड़ाइ दई अति खासी।
जैसोई नंद को पालक कान्ह सो तैसियै कूबरी कंस की दासी॥१५॥

लै गयो है जब ते अक्रूर अरी तब ते बहुरंगी भयो।
प्रीति तजी सब गोपिन ते इकलो कुबिजा को इकंगी भयो।
यों कवि ग्वाल ही भाल लिखी, हुतो मीत सही पै कुढंगी भयो।
माय न बाप को अंगी भयो सो हमारो कहौ कब संगी भयो।।१६।।

रास कियो औ विलास कियो रहे पास हुलास की रास लै लूटी।
जा दिन ते अक्रूर लेवायेगो ता दिन ते गति और ही जूटी।
त्यों कवि ग्वाल कलंकिनी कूबरी कान लगे ते सबै मति फूटी।
वाह रे वाह ! गोविन्द छली ! भली योग की भेजि दई विष-बूटी।।१७।।

आई एक ओर तें अलीन लै किशोरी गोरी,
आयो एक ओर ते किशोर वाम हाल पै।
भाजि चल्यौ छैल छरी छोड़ पै, छबीलन ने
छरी को उठाय, धाय मारी उर माल पै।
'ग्वाल कवि' हो हो कहि, चोर कहि चेरो कहि
बीच में नचायौ थेई तत् थेई ताल पै।
ताल पै तमाल पै गुलाल उड़ि छायो ऐसो,
भयो एक और नंदलाल नंदलाल पै।।१८।।

द्विजदेव

(काव्यकाल सं० १९२४ के लगभग)

रीति-काव्य में सरसता की दृष्टि से 'द्विजदेव' का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। वे अयोध्या के महाराज थे और उनका वास्तविक नाम मानसिंह था। 'द्विजदेव' की रचनाओं में एक सरल भावावेग, सुकुमार कल्पना तथा सहज सूक्ष्म अनुभूति के दर्शन होते हैं। 'चाँदनी के भारन लगत उनयो सो चंद, गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन' जैसी कोमल भावना से उद्भूत उक्ति रीतिकालीन निसर्ग-काव्य में अप्रतिम है और कवि के अकृत्रिम सौन्दर्यबोध को व्यक्त करती है। शब्द-चयन तथा पद-विन्यास में कलात्मकता होते हुए भी उससे हृदय का तारल्य आच्छादित नहीं हुआ है। वर्षा और वसंत के अन्तर्गत इन्होंने शृंगारिक मनोभावनाओं का जो चित्रण किया है, वह अन्य अनेक ख्यातनामा पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक सजीव एवं आकर्षक है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए लिखा है—

'जिस प्रकार लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले कवियों में पद्माकर अन्तिम प्रसिद्ध कवि हैं उसी प्रकार समूची शृंगार-परम्परा में ये। इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गयी !

——हि० सा० का० इ०, पृ० ४३५

शृंगारबत्तीसी और शृंगारलतिका, द्विजदेव की यही दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। 'शृंगारलतिका' का एक विशाल सटीक संस्करण महारानी अयोध्या ने प्रकाशित कराया है।

संकलन

एकै हैं बिब रूप, राधिका श्याम कहावैं।
ह्वै बश ब्रज युवतीन, चतुर चातुर मन भावैं।
पंचबाण रति कोटि अंग अंगनि पर वारैं।
छलबल करि ब्रज सुयश परम पावन विस्तारैं।
'द्विजदेव' सातहूँ भुवन में अष्टसिद्धिदाता बिदित।
मन सेवहु नवभक्तियुत नवरसमय ब्रजराज नित ॥१॥

कारो नभ कारी निसि कारियै डरारी घटा,
झूकन बहत पौन आँनद को कंद री।
'द्विजदेव' साँवरी सलोनी सजी स्याम जू पै,
कीन्हे अभिसार लखि पावस अनंद री।
नागरी गुनागरी सुकैसे डरै रैनि डर,
जाके संग सोहत सहायक अमंद री।
बाहन मनोरथ उमाहें संगवारी सखी,
मैनमद सुभट, मसाल मुखचंद री ॥२॥

दाबि दाबि दंतन अधर छतवंत करै,
आपने ही पाँयन को आहट सुनत स्रौन।
'द्विजदेव' लेत भरि गातन प्रस्वेद अलि,
पात हूँ की खरक जु होति कहूँ काहू भौन।
कंटकित होति अति उससि उसासनि ते,
सहज सुबासन शरीर में जु लागे पौन।
पंथ ही में कंत के जो होति यह हाल तोपै,
लाल की मिलनि ह्वैहै बाल की दसा धौं कौन ॥३॥

डारै कहूँ मथनि बिसारै कहूँ घी को भाँड़ो,
बिकल बिगारै कहूँ माखन मठा मही।
भ्रमि भ्रमि आवत चहूँघा ते जु याही ओर,
प्रेम पयपूर के प्रवाहन मनौ बही।

झुरसि गई धौं कहूँ काहू की वियोग झार,
बार बार बिकल बिसूरति जही तही।
एहो ब्रजराज एक ग्वालिनी कहूँ की आज,
भोर ही ते द्वार पै पुकारति दही दही ॥४॥

बृन्दावन कुंजन में, बंसीबट छाँह असि,
कौतुक अनोखो एक आज लखि आई मैं।
लागो हुतो हाट एक मदन धनी को तहाँ,
गोपिन को वृन्द रहो घूमि चहुँघाई मैं।
'द्विजदेव' सौदा की न रीति कछु भाखी जाय,
ह्वै रही जु नैन उनमद की देखाई मैं।
लै लै कछु रूप मनमोहन सों बीर वै
अहीरनै गँवारी देहि हीरन बटाई मैं ॥५॥

घूमि कै चहूँघा धाय आवैं जलधर-धार,
तड़ित पताके बाँके नभ में पसरिगे।
'द्विजदेव' कालिंदी समीपन के नीपन के,
पात पात जोगिनी जमातन ते भरिगे।
चातक चकोर मोर दादुर सुभट जोर,
निज निज दाँव ठाँव ठाँवन सँभरिगे।
बिन यदुराय अब कीजै कहा माय,
हाय पावस महीप के चहूँघा घेरे परिगे ॥६॥

उमड़ि घुमड़ि घन छाँड़त अखंड धार,
अति ही प्रचंड पौन झूकन बहतु है।
'द्विजदेव' संध्या को कोलाहल चहुँघा नभ,
शैल ते जलाहल को जोग उमहतु है।
बुद्धि बल थाको सोई प्रबल निशाको मेघ,
देखि ब्रज सूनो बैर आपनो गहतु है।
एहो गिरिधारी राखो सरन तिहारी,
अब फेरि यहि बारी ब्रज बूड़न चहतु है ॥७॥

आवत चली ही यह विषम बयारि देखु,
दबे दबे पाँयन किवारन लरजि दै।
क्वैलिया कलंकिनी को दौरी समुझाय,
मधुमाती मधुपालिन कुचालिन तरजि दै।
आज ब्रजरानी के बियोग को दिवस ताते,
हरे हरे कीर बकवादिन हरजि दै।
पी पी कै पुकारिबे की खोलें ज्यों न जीहन,
त्यों बावरी पपीहन के जूहन बरजि दै॥८॥

भूले भूले भौंर बन भाँवरैं भरैंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जको सो रहि जाय है।
'द्विजदेव' की सौं वह कूजनि बिसासी कूर,
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछिताय है।
आवत बसंत के न ऐहैं जो पै स्याम,
तो पै बावरी बलाय सौं हमारे हू उपाय है।
पीहैं पहिले ही सौं हलाहल मँगाय,
या कलानिधि की एकौ कला चलन न पायहै॥९॥

भूले भूले भौंर बन भाँवरैं भरावैं,
कोक बरबस ही तो कियो चाहै परबसु रे।
'द्विजदेव' तापर अलापैं ये कलापिन की,
भरि भरि देंइ गोद नित अपयसु रे।
ताहू पै सु तेरे खन तीखन सँतापन ते,
नेक हू बचाव होत मायके न ससुरे।
तियन निकारि भले पाँयन पसारि अरे,
बावरे अनंग ! अब तू ही ब्रज बसु रे॥१०॥

अब मति दैरी कान कान्ह की बसीठिन पै,
झूठे झूठे प्रेम के पतौवन को फेरि दे।
उरझि रही री जो अनेक पुरबातैं सोऊ,
नाते की गिरह मूँदि नैनन निबेरि दे।

मरन चहत काहू छैल पै छबीली कोऊ,
हाथन उठाय ब्रजबीथिन बरजि दे।
नेह री कहाँ को, जरि खेह री भई तो अब,
देहरी उठाय वाकी देहरी पै गेरि दे ॥११॥

शृंगारबत्तीसी से

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
'द्विजदेव' त्यौंही मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन।
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा,
सुखमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन लगत उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥१२॥

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकी गन,
सिखै हारीं सखी सब जुगुति नई नई।
'द्विजदेव' की सौं लाज-बैरिन कुसंग इन,
अंगन हू आपने अनीति इतनी ठई।
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधा मई।
आवन समैं में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समैं में चल पलन दगा दई॥१३॥

बाँके, संकहीने, राते कंजछवि छीने, माते,
झुकि-झुकि, झूमि-झूमि काहू को कछू गनैं न।
'द्विजदेव' की सौं ऐसी बनक बनाय बहु—
भाँतिन बगारे चित चाहन चहूँघा चैन।
पेखि परे प्रात जौ पै गातन उछाह भरे,
बार बार तातें तुम्हें बूझती कछूक बैन।
एहो ब्रजराज! मेरो प्रेमधन लूटिबे को,
बीरा खाय आए कितै आपके अनोखे नैन॥१४॥

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घेरि,
छहरि छहरि विष-बूँद बरसावै ना।
'द्विजदेव' की सौं अब चूक मत दाँव, एरे,
पातकी पपीहा! तू पिया की धुनि गावै ना।
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ, एरे
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तौ बिन प्रान, प्रान चहत तजोई अब,
कत नभ चंद तू अकास चढ़ि धावै ना ॥१५॥

आँजु सुभायन ही गई बाग, बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
तहि समै तँह आए गोपाल, तिन्है लखि औरौ गयो हियरो ठगि।
पै 'द्विजदेव' न जानि पर्‌यो धौं कहा तेहिकाल, परे अँसुवा जगि।
तू जो कही, सखि! लोनो सरूप सो मो अँखियान कौं लोनी गई लगि ।१६॥

पाई विभूति घनी तौ हमैं चितचाहि पठाई विभूति उहाँ तें।
त्यों 'द्विजदेव जू' कूबरी यो पठई यह कूबरी संगम नातें।
ऊधोजू कीजै कहा इतनो स्रम यों उपचाय हिये बहुघातें।
जाहिर हैं सिगरे ब्रज में उन सुन्दर स्याम सनेह की बातें॥१७॥

लखि ठोढ़ी रसाल रसालन को फर पीरो परो लरको तो कहा।
'द्विजदेवजू' आछे कटाछ चितै छन जोन्ह हियो थरको तो कहा।
द्युति दंतन की यक बार लखे उर दाड़िम को दरको तो कहा।
अँग अँग की ऐसी प्रभा अवलोकि अनंग फिरै फरको तो कहा॥१८॥

आधी लै उसास मुख आँसुन से धोवै कहूँ,
कहूँ जोवै आधे आधे पलन पसारि कै।
नींद भूख प्यास ताहि आधी हू रही न तन,
आधे हू न आखर सकत अनुसारि कै।
'द्विजदेव' की सौं आधि अधिकानी जासौं,
नेकहु न तन मन राखत सँभारि कै।
जा दिन ते जोरि मनमोहन लला पै दीठि,
राधे आधे नैनन ते आई तू निहारि कै॥१९॥

औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलैं,
औरै भाँति सबद पपीहन के ब्वै गये।
औरै भाँति पल्लव लिये हैं वृन्द वृन्द तरु,
औरै छवि पुंज कुंज कुंजन उनै गये।
औरै भाँति सीतल सुगन्ध मंद डोलै पौन,
'द्विजदेव' देखत न ऐसे फल ह्वै गये।
औरै रीति औरै रंग औरै साज औरै संग,
औरै वन औरै छन औरै मन ह्वै गये।।२०।।

लै लै कर झोरी जुरि आईं इतै गोरी, उतै
होरी खेलिबे को ग्वालबाल हू बनायो कीच।
छायगो छिनै में यों गुलाल मेघ माल ऐसो,
'द्विजदेव' जासौं न जनायो परै ऊँचनीच।
ऐसी भई धूँधर धमार की जु ताही समै
पावस के भोरे मोर सोर कै उठे अपीच।
घन के समान ज्यों ज्यों दौरैं घनस्याम त्यों त्यों,
संपा सी दुरत आली चंपा बन बीच बीच।।२१।

चित चाहि अबूझ कहैं कितने छवि छीनी गयंदन की टटकी।
कवि केते कहैं निज बुद्धि उदै, यहि सीखी मरालन की मटकी।
'द्विजदेव जू' ऐसे कुतरकन मैं, सब की मति यों ही फिरै भटकी।
वह मंद चलै किन भोरी भटू पग लाखन की अखियाँ अटकी।।२२।।

देखि मधुमास की इतीक अनरीति,
मधुसूदन जु होते तौ न औते कहौ काहे कौं।
जानि ब्रज बूड़त जु होते गिरिधारी तौ पै,
ऊधौ इत तुमहिं पठौते कहौ काहे कौं।
'द्विजदेव' प्यारे पिय पीतम जु होते तौ पै,
ब्रज में बढ़ौते दुःख सोते कहौ काहे कौं।
बसि कै बिदेस बीजुरी-सी ब्रजबालनि कौं,
होते घनस्याम तौ बरौते कहौ काहे कौं।।२३।।

जावक के भार पग परत धरा पै मंद,
गंध भार कुचन परी हैं छुटि अलकैं।
'द्विजदेव' तैसिए बिचित्र बरुनी के भार,
आधे-आधे दृगनि परी हैं अध-पलकैं।
ऐसी छबि देखि अंग अंग की अपार,
बार बार लोल-लोचन सु कौन के न ललकैं।
पानिप के भारन सँभारत न गात लंक,
लचि लचि जाति कच भारन के हलकैं ॥२४॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

(सं० १९२२–२००४)

'हरिऔध' का प्रधान कृतित्व खड़ीबोली के क्षेत्र में रहा है जिसका उदाहरण उनकी 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वनवास' आदि अनेक रचनाएँ हैं। ब्रजभाषा के क्षेत्र में उनकी एकमात्र कृति 'रसकलस' उपलब्ध होती है। किन्तु वह यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि 'हरिऔध' की आत्मा प्राचीन साहित्य के अधिक अनुकूल थी। कई कारणों से रीतिकाव्य के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्रंथ में उदाहृत अनेक छंद प्रौढ़ता और सरसता की दृष्टि से प्राचीन कवियों की रचनाओं के समकक्ष रक्खे जा सकते हैं।

'रसकलस' की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी आधुनिकता जिसे प्राचीन नायिकाभेद पर आरोपित किया गया है। भूमिका भाग में 'हरिऔध' ने अनेक संस्कृत ग्रंथों का आधार लेकर रस-निष्पत्ति की विविध समस्याओं को गंभीरता और विस्तार के साथ उठाया और प्राचीन नायिकाभेद को नवीन परिस्थितियों में अपर्याप्त घोषित करते हुए एक नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया। प्रकृति सम्बन्धी भेद के अन्तर्गत जातिप्रेमिका, देशप्रेमिका, लोकसेविका आदि अनेक नये भेद किये और दशविधि नायिकाओं के निरूपण में सामान्या या गणिका को स्थान नहीं दिया। यह मनोवृत्ति नवीन राष्ट्रीय चेतना के उदय का परिणाम थी और इसे उसी रूप में ग्रहणकियां जाना चाहिए क्योंकि 'रसशास्त्र' के सैद्धान्तिक आधार पर इसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। रसकलस का प्रकाशन सं० १९८८ में प्रियप्रवास (सं० १९७१) के बहुत वर्षों बाद हुआ। हरिऔध ने इसमें लक्षण खड़ीबोली गद्य में दिये हैं और उदाहरण साहित्यिक ब्रजभाषा में। रसशास्त्र पर

ग्रंथ लिखने की समाप्त होती हुई परम्परा को इस ग्रंथ ने पुनरुज्जीवित किया। नायिका भेद के अन्तर्गत ही नखशिख का भी समावेश कर लिया गया है। एक एक लक्षण के अन्तर्गत विविध रसों के अनेकानेक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें श्लीलता की सीमाओं को रक्षित रखने का सजग प्रयास है। हरिऔध का दृष्टिकोण परम्परागत रीतिकवियों की अपेक्षा कहीं अधिक आदर्शवादी था जिसे द्विवेदीयुग की प्रमुख विशेषता कहा जा सकता है।

उपाध्यायजी का निवास-स्थान, आजमगढ़ के अन्तर्गत तमसा तटवर्ती निजामाबाद था। जीवन-यापन के लिए अध्ययन-अध्यापन को ही उन्होंने अपनाया। बीच में कुछ समय के लिए कानूनगो रहे परन्तु अन्त में काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हो गये। सन् १९२३ में सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से सं० १९९१ वि० में अभिनन्दन-ग्रंथ दिया गया और सम्मेलन की ओर से सं० १९९५ में प्रियप्रवास पर उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला।

वे उर्दू फारसी और संस्कृत के साहित्यों से विशेष रुचि रखते थे। कुछ समय तक चोखे और चुभते चौपदों में बोलचाल की भाषा लिखते रहे फिर संस्कृत वृत्तों में संस्कृतनिष्ठ भाषा लिखने लगे। फिर कविता में मुहावरों को लाने का प्रयास किया जिसमें कृत्रिमता स्पष्ट झलकती है। इंशा की भाषा के ठेठ रूप से प्रभावित होकर 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' नामक उपन्यास लिख डाला। 'अधखिलाफूल' इनका दूसरा उपन्यास है। 'उपदेस कुसुम' तथा 'नीति निबन्ध' आदि उर्दू से अनुवादित रचनाएँ हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा अन्य अनेक दिशाओं में भी प्रवाहित हुई जिसमें उनका कविरूप ही प्रमुख रहा।

संकलन

कोकिल की काकली को मान कैसे कहै काक,
भील कैसे मंजु मुकतावलि को पोहैगो।
कैसे बर बारिज बिलोकि मोद पैहै भेक,
बादुर बिभाकर बिभव कैसे जोहैगो।
'हरिऔध' कैसे 'रस कलस' रुचैगो ताहि,
जाको उर रुचिर रसन ते न सोहैगो।
आँखिन में बसत कलंक अंक ही जो अहै,
कोऊ तो मयंक अवलोकि कैसे मोहैगो ॥१॥

बातें सरोस कबौं कहिकै हित सों कबहूँ समुझाइबो तेरो।
भेरे घने अपराधन को बहु ब्योंत बनाइ दुराइबो तेरो।
कोह किये कपटी 'हरिऔध' के रंचकहूँ न रिसाइबो तेरो।
मारिबो पी कौ न सालत है पर सालत सौत बचाइबो तेरो ॥२॥

लोकहित सुरसरि सलिल सनेही महा,
जाहि-हित-पूत-बेदिका को बर बलि है।
देस सेवा नव मेघ माला को मुदित मोर,
कुमति-मलिन-महि-पादप अवलि है।
'हरिऔध' रस मान सर को मराल मंजु,
भाव सर बारिजात कल्पना को कलि है।
ललना ललित चरितावलि को लोलुप है,
कविता कलित कुसुमावलि को अलि है ॥३॥

मानत हार हैं हार भये पर पै मन में अनुमानत जीतैं।
हैं हरुओ पर चाहत हैं सुनो औरन ते गरुओपन गीतैं।
प्रीति को बानो रखैं 'हरिऔध' पै पावत मोद किये अनरीतैं।
आँखि चुरावत राति सिराति है बात बरावत बासर बीतैं ॥४॥

मोपै न मंत्र प्रयोग भयो कोऊ मोहि डस्यो न भुअंगम कारो ।
भूत की बाधा न मोपै भई नहिं बावरो सो भयो चित्त हमारो ।
तू उपचार के ब्योंत करै कहा जानै कहा 'हरिऔध' बेचारो ।
बान सी मारि गयो उर मैं अरी बीर बड़ी बड़ी आँखिनवारो ॥५॥

दीठ के परे ते गात मंजुता मलिन होति,
देखे अंग दलकहिं दल सतदल के ।
कोमल कमल सेजहूँ पै ना लहति कल,
भारी लगैं बसन अमोल मलमल के ।
'हरिऔध' हरा पहिराये बपु कंप ओत,
पायन मैं गड़हिं बिछौने मखमल के ।
कुसुम छुये ते रंग हाथन को मैलो होत,
छिपत छपाकर छबीली छबि छलके ॥६॥

अमल धवल चारु चाँदनी सरदवारी,
आनन उजास आगे लागति कपट सी ।
आतप की धापहूँ ते तन कुंभिलान लागै,
देखि छबि नीकी जाति रतिहूँ रपट सी ।
'हरिऔध' कोमलता ऐसी कामिनी की अहै,
पखुरी गुलाब गात आवति उपट सी ।
नूतन प्रसून लौं सुरंग अंग-अंग दीखै,
कढ़त सरीर सों सुगंध की लपट सी ॥७॥

कौन कथा मृग मीन की है किन दारिम दाख की बात कही है ।
किन्नर नाग नरादि के नारिन की 'हरिऔध' जू कौन सही है ।
रूप तिहारो निहारि कै राधिके देव-बधून की देह दही है ।
भाजि हिमाचल में गिरिजा बसी इंदिरा सागर बीच रही है ॥८॥

दृग बुहूँन की देखियत बढ़त जाति नित माँग ।
कहा माँगि नहिं सकति मन माँगनवारी माँग ॥९॥

कैसे कोऊ सहि सकै, बेनी-बिख की ज्वाल ।
बिवर बसे हू नहिं भयो गरल बिबरजित ब्याल ॥१०॥

बगरे ए न बिलोकियत मेचक चिकुर अथोर ।
कढ़ि कलंक एकत भयो मुख मयंक दुहुँ ओर ॥११॥

याही ते बन में बसे खंज बनज मृग मीन ।
कछु अनबन ही सी रही अँखियन सों निबही न ॥१२॥

होत वहाँ हूँ थिर नहीं जहँ पानी की खान ।
इतनो बेपानिप कियो मछरिन को अँखियान ॥१३॥

दृगन लजे मीनन लखत इत उत दौरत नाहिं ।
डूबन को ढूँढ़त फिरहिं एक अगाध जल काहिं ॥१४॥

काको रँग बिगरत नहीं बदलो लखि दृग रंग ।
भये सुरंगहुँ मृगन को कबि गन कहत कुरंग ॥१५॥

जितनो तिरछे ह्वै चलें तितनो करें निहाल ।
इतनो लोच न क्यों रखें ए तव लोचन बाल ॥१६॥

ललना लोयन में न यह पुतरी लसति असेत ।
अतसी की पखुरी बसी कमल दलन छबि देत ॥१७॥

अंजनि लीक अलीक कहि कत बहरावति मोहि ।
प्यारी मृग दृग पै रही कारी धारी सोहि ॥१८॥

बिना सुधाहूँ नहिं सधत बिखहूँ बिना बनै न ।
कासों काज रखें न ए काजरवारे नैन ॥१९॥

काजर रेख रखै न जी जारनवारी आँख ।
काहु जी जरे के जरे जी की है यह राख ॥२०॥

बरुनी बरनन में करत कत इतनो चित गौर ।
जग बिजयिनि अँखियान पै ढुरत देखियत चौर ॥२१॥

बड़े बड़े मुकुतन कियो निज बस में हठ ठानि ।
बसीकरन की बानि अस बसी करन में आनि ॥२२॥

लोक बेद बिपरीत यह रीति जकत चित जोय ।
स्रुतिसेवी मुकुतन लखे अतन उदै तन होय ॥२३॥

आइकै ब्योम बसेरो लियो अब आपनो रूप अनेक सँवारत ।
ह्वै कबौं तीन कलादिक सों प्रकटै कबौं पूरी कलान को धारत ॥

राधिका आनन की समता हित ब्योंत नये 'हरिऔध' बिचारत।
ऊबि गयो बसि बारिधि अंक में मानों मयंक कलंक पखारत ॥३६॥

गौरवित सतत अतीत गौरवों ते होति,
गुरुजन गुरुता है कहती कबूलती।
मुदित बनति अवनीतल में फैलि फैलि,
कीरति की कलित लता को देखि फूलती।
'हरिऔध' प्रकृति अलौकिकता अवलोकि,
प्रेम के हिंडोरे पै है पुलकित झूलती।
भारत की भारती बिभूति ते प्रभावित ह्वै,
भामिनि भली है भारतीयता न भूलती ॥३७॥

बैठी हुती सखियान में बाल बड़ी अँखियान में अंजन लाइकै।
चारु कपोलन पै छिटकी अलकैं छबि देत हुतीं छहराइकै।
बात रसीली सुनाइ रसे 'हरिऔध' हँसे इतनेहि में आइकै।
नार नवाइ सकाइ रही मुसकाइ रही दृग मोरि लजाइकै ॥३८॥

छोरि छोरि आम की रसीली मंजरीन काँहि,
निकसि गुलाब के प्रसून रस वारे से।
गुंजरत याही ओर देखु यह आवत है,
अति कमनीय कंज बन के किनारे से।
'हरिऔध' की सौं आइ अबहीं मचैहै धूम,
गूँजि गूँजि आनन सुबास के सहारे से।
भूलि अब भौन ते न बाहर कढ़ौंगी कबौं,
ऊबि गई एरी या मलिंद मतवारे से ॥३९॥

कान ए का न करैं फिर क्यों सुनि तानन हीं इन बानि बिगारी।
मोहि गयो मन मोहन पै तो भई तबहूँ मन सों मन वारी।
पै हमैं बूझि परी ना अजौं 'हरिऔध' की सौं बतिया यह न्यारी।
बावरी कैसे रंगी रँग लाल में मो अँखियान की पूतरी कारी ॥४०॥

संकुचित भौंहैं करि सोचति कछू है कबौं,
कंटकित गात होत कबौं गरबीली को।
ढरकि रहे हैं सेद कन रोम कूपन सों,
छाम ह्वै गयो है तन सकल छबीली को।
'हरिऔध' कहै डूबि डूबि मन काहैं जात,
गहन लगी क्यों ऊबि ऊबि गति ढीली को।
लहि लहि लाज कौन काज भरि भरि आवै,
रहि रहि आज नैन ललना रसीली को ॥४१॥

मंद मंद समद गयंद की सी चालन सों,
ग्वालन लै लालन हमारी गली आइये।
पोखि पोखि प्रानन को सानन सहित,
इन कानन को बाँसुरी की तानन सुनाइये।
'हरिऔध' मोरि मोरि भौंहैं जोरि जोरि दृग,
चोरि चोरि चितहूँ हमारो ललचाइये।
मंजुल रदनवारो मुद के सदनवारो,
मदन कदनवारो बदन दिखाइये ॥४२॥

साँझ सकारे मया करिकै कबहूँ गुरु लोगन के अनदेखे।
आपनी या छबि मैन मयी दरसायो करौ हित कै हित लेखे।
नातो अहो 'हरिऔध' सुनो तन रैहै नहीं पतिआन के पेखे।
प्यारे न मानती हैं अँखियाँ बिन रावरी साँवरी सूरत देखे ॥४३॥

ठाढ़ी सिंगार कै नारि हुती इतने मैं बिदिस गयो सुनि पी को।
नैन ते नीर झरयो इतनो अस हाल भो जाते तहाँ तरुनी को।
डूबि गई पहिले कटि लौं 'हरिऔध' उरोज डुब्यो पुनि नीको।
ऐसहीं देखत ही दृग के अँसुआन सों भीज्यो लिलार को टीको ॥४४॥

राखैं दोऊ मरजाद सदा है गभीरता दोहुँन मैं सनमानी।
भू मैं अहैं रतनाकर हूँ दोऊ दीखै समान दुहून मैं पानी।
ए 'हरिऔध' रहैं रस एक ही दोहुँन की गति जाति न जानी।
एक से भूतल मैं बिलसैं दोऊ सागर औगुन आगर प्रानी ॥४५॥

जीवन है सिगरे जग को लखि जीवत तेरे ही आनन ओर है।
प्रान है कामिनि को 'हरिऔध' पै हेरयो करै तव आँखिन कोर है।
भाग है ऐसो तिहारो भटू इतनो कत कीजत मान मरोर है।
"है घन स्याम पै तेरो पपीहरा, है ब्रज चंद पै तेरो चकोर है" ॥४६॥

डारि दीनो रंग तो उमंग कत ऊनो भयो,
बिगरयो कहा जो मुख माँहि मली रोरी है।
कुंकुम चलाये कौन हानि भई अंगन की,
मारि पिचकारी कौन करी बरजोरी है।
हरिऔध' तेरो होत कहा अपकार है जो,
बार बार ग्वालन की बजति थपोरी है।
रूसन को रार को न रोस को कछू है काम,
एरी वृखभानु की किसोरी आज होरी है ॥४७॥

कत पिचकारी कर माँहि लीने आवत है,
ब्रज में जनात तू तो निपट हठीलो है।
नेक मेरी बातन को भूलि ना करत कान,
होरी के गुमान में गजब गरबीलो है।
'हरिऔध' कहा लाभ अनरस कीने होत,
सुबस बसे हूँ ब्रज कैसो तू लजीलो है।
ए हो लाल वा पै रंग छोरिबो छजत नाहिं,
गात रंग ही सों वाको बसन रंगीलो है ॥४८॥

छोरो रंग चाव सों हमारे इन अंगन पै,
कबहूँ कछू ना लाल भूलि हम कहिहैं।
बोरि दीजै सिगरी हमारी सारी केसर में,
मन में बिनोद मानि मौन साधि रहिहैं।
'हरिऔध' अँखियां छकी हैं रावरी छबि में,
इन पै दया ना कीने क्यों हूँ ना निबहि हैं।
परिबो पलक को तो कैसहूँ सहत प्यारे,
परिबो गुलाल को गोपाल कैसे सहिहैं ॥४९॥

साकि कै मारत हो पिचकारी तऊ मन मैं तनकौ नहिं खीजत।
रंग मैं सारी भिगोय दई हम ताको उराहनो हूँ नहिं दीजत।
पै इतनी बिनती 'हरिऔध' मया करि क्यों हमरी न सुनीजत।
साँवरे रंग रँगी अँखियान को प्यारे गुलाल ते लाल क्यों कीजत ॥५०॥

तोसों गरीब सनेह कै मो सम राज सुता सों कहा फल पैहै।
तेरे समान सपूत सों नेह कै कौन तिया जग मैं जस लैहै।
दूर खरे 'हरिऔध' रहो परे छाँह तिहारो सबै बिनसैहै।
साँवरो नंद को छोरो छुवै जनि गोरो सरीर मो गोरो न रैहै ॥५१॥

रीतिपरम्परा के अनुसरणकर्ता कवि

बिहारी

(जन्म संवत् १६५२—अवसान सं० १७२१)

बिहारी रीतिकाल के सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण 'बिहारी सतसई' की अगणित टीकाएँ हैं। हिन्दी साहित्य में रामचरितमानस को छोड़ कर शायद ही किसी अन्य ग्रंथ को इतनी टीकाओं का सौभाग्य उपलब्ध हुआ हो। परमानन्द नामक एक पंडित ने सतसई का 'शृंगारसप्तशती' नाम से संस्कृत में अनुवाद किया। और बुंदेलखंड के मुंशीदेवी प्रसाद ने उर्दू शेरों में व्याख्या की। बिहारी के पुत्र कृष्ण कवि तथा 'रसिकेस' ने सवैयों में दोहों के गूढ़ भावों का विस्तार किया और चन्द, अम्बिकादत्त व्यास तथा भारतेन्दु आदि ने कुंडलियों में। सूरति मिश्र और सरदार कवि की टीकाएँ प्रसिद्ध ही हैं। एक वैद्यराज ने समस्त दोहों में वैद्यकशास्त्र सम्बन्धी अर्थ घटित करके बिहारी को दोहरे अर्थ में 'कविराज' सिद्ध कर दिया। द्विवेदी युग में पद्मसिंह शर्मा ने 'कुर्बान जाऊँ' वाली शैली में जिंदादिली के साथ शेरोशायरी से तुलनात्मक समीक्षा करते हुए 'सतसई संहार' लिख कर विहारी के सम्बन्ध में एक आन्दोलन सा खड़ा कर दिया था जिसकी परिणति देवबिहारी के उत्कर्षापकर्ष सम्बन्धी वादविवाद में हुई। रत्नाकर ने 'बिहारी रत्नाकर' द्वारा उनकी प्रतिभा को और प्रतिष्ठा प्रदान की। बिहारी के अनुकरण पर अनेक सतसइयाँ बनीं और अबतक बनती जा रही हैं। इस सारी प्रसिद्धि एवं मान्यता का कारण बिहारी का असाधारण काव्य-कौशल है।

शृंगारिकता से पूर्ण भावमयी कलात्मक रचना तो रीतिकाव्य के अनेक कवियों ने की है क्योंकि यही उस काल की प्रधान प्रवृत्ति थी। बिहारी की सराहना

इसलिए अधिक की जाती है कि उन्होंने दोहे जैसे छोटे छंद में अधिकाधिक शब्द चमत्कार और भाववैचित्र्य समाहित करने में सफलता पायी है। 'गागरमें सागर' और 'नावक के तीर' की उपमा देकर उनकी इसी विशेषता का निरंतर गुणगान होता रहा तथा उनकी उक्तियों की तीव्र प्रभावात्मकता को 'घाव करना' कहा गया। परम्परा से प्रचलित इस तरह की धारणाओं में बहुत कुछ सार है। बिहारी का संयमित एवं चमत्कारिक शब्द-संगठन विपुल अर्थ-गौरव और सूक्ष्मभाव-निरूपण वस्तुतः प्रशंसनीय है। उनकी जैसी परिष्कृत तथा प्रौढ़ ब्रजभाषा कम कवियों ने लिखी है। वे संस्कृत, प्राकृत तथा फ़ारसी के साहित्यों से परिचित थे। हाल की 'सत्तसई' और गोवर्धन की 'आर्यासप्तसती' से उन्होंने प्रेरणा ग्रहण करते हुए सतसई-परम्परा को आगे बढ़ाया। उस युग के प्रायः सभी रूढ़ विषय 'बिहारी सतसई' में उपलब्ध हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है—

विविध नायका भेद अरु अलंकार नृप नीति।
पढ़ै विहारी सतसई जानै कवि रस रीति॥

सतसई में अधिकतर शृंगारपरक दोहे ही हैं किन्तु कुछ दोहे भक्ति ज्ञान, नीति तथा राजप्रशंसा सम्बन्धी भी मिलते हैं। रसिक नागर-स्वभाव के चित्रण के साथ साथ बिहारी ने कुछ ग्रामीण सौन्दर्य-चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। उनका सारा कृतित्व लगभग सात सौ दोहों में ही सीमति है। सतसई का प्रचलित क्रम औरंगजेब के पुत्र आज़मशाह द्वारा निर्धारित बताया जाता है। (मिश्रबंधु, हिन्दीनवरत्न, पृ० २२५)

विहारी सतसई के दोहों की ख्याति बहुत काल तक विना क्रम के ही होती रही इसका उल्लेख कोविद कवि ने स्वयं संवत् १७४२ में क्रम निर्धारित करते हुए किया है—

किए सात सौ दोहरा सुकवि विहारीदास।
विनहि अनुक्रम ए भए महि मंडल सुप्रकास॥

बिहारी का जन्म ग्वालियर के समीप बसुधा गोविंदपुर नामक स्थान में घरवारी माथुर चौबों के एक घराने में हुआ था। पिता का नाम केवशराय था जिन्हें कुछ लोगों ने केशवदास प्रमाणित करने की चेष्टा की। कुछ के अनुसार जब विहारी के पिता ओरछा राज्य में आकर रहे तो केशवदास ने बिहारी को साहित्य की शिक्षा दी। वहीं बिहारी के पिता ने हरिदासी सम्प्रदाय के महात्मा नरहरिदास जी से दीक्षा ग्रहण की और कालान्तर में उनका सम्पर्क नागरीदास जी से स्थापित हुआ। इसी वातारण में विहारी ने संस्कृत की और संगीत की

शिक्षा ग्रहण की। जब शाहजहाँ नागरीदास जी से भेंट करने वृन्दावन आया तो उसने बिहारी के काव्य-कौशल से मुग्ध होकर उन्हें अपने दरबार में आमन्त्रित किया जहाँ जाकर बिहारी का सम्पर्क पंडितराज जगन्नाथ, कुलपति मिश्र, रायसुन्दर तथा दूलह आदि कवियों से हुआ। बिहारी का विवाह मथुरा में हुआ था। उनके तारुण्य का बहुत सा भाग मथुरा और आगरे में व्यतीत हुआ। इसी समय जोधपुर और बूँदी के दरबारों से उनका सम्पर्क स्थापित हुआ। जोधपुर के महाराज जसवंत सिंह स्वयं कवि थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'भाषा-भूषण' बिहारी की ही रचना है परन्तु यह प्रमाणित नहीं हो सका। जोधपुर से प्राप्त एक 'दूहा-संग्रह' में सतसई के कुछ दोहे अवश्य प्राप्त होते हैं। शाही खानदान में पुत्रोत्पत्ति के विशेष समारोह में जब भारतवर्ष भर के राजा एकत्र हुए तो बिहारी का परिचय अब्दुर् रहीम खानखाना से हुआ जिनकी प्रशंसा में बिहारी ने निम्नलिखित दोहा रचकर पर्याप्त पुरस्कार पाया था—

गंग गोंछ मोछैं जमुन अधरन सरसुति रागु।
प्रगट खानखानान कैं कामद बदन प्रयागु॥

आगरे से ही बिहारी का सम्पर्क जयपुर के महाराज जयसिंह से स्थापित हुआ। किंवदन्ती है कि बिहारी ने 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु वाला दोहा लिखकर नवपरिणीता वधू के आकर्षण में लिप्त, राजकाज से विरत, अन्तःपुरवासी महाराज को सचेत किया और चौहानी रानी की कृपा अर्जित की। तत्पश्चात् जयसिंह के आश्रित होकर ही स्थिरतापूर्वक आमेरगढ़ में रहने लगे। और कुमार रामसिंह को साहित्य की शिक्षा देने के लिए दोहों का निर्माण करने लगे। प्रत्येक दोहे पर जयसिंह उन्हें एक स्वर्णमुद्रा प्रदान करते थे और उन्हीं के आदेश से बिहारी ने सतसई का निर्माण किय । यथा—

हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

जीवन के अन्तिम दिनों में वे कविता से विरक्त हो गये और वृन्दावन में जाकर कृष्ण-भक्ति में लीन होकर आत्मसन्तोष खोजने लगे तथा बिहारीलाल से बिहारीदास हो गये। पं० अंबिकादत्त व्यास ने 'बिहारी-विहार' के एक दोहे में इस बात को व्यक्त किया है।

कविता सो मन हटि गयो लग्यो कान्ह सों ध्यान।
लाल बिहारी ह्वै गये दास बिहारी मान॥

यह नामान्तरण उस काल की धार्मिक भावना के अनुकूल और संभाव्य

प्रतीत होता है। बिहारी सतसई की एक प्राचीन प्रति के साथ संलग्न 'अनुभव प्रकाश' शीर्षक से प्राप्त शताधिक दोहों में से एक इस ओर संकेत करता है—

सुचि सिंगार में बूड़ि कै भयौ बिहारी-दास।
जग तें फिरत उदास अब सुकवि बिहारीदास ॥

संकलन

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥१॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि ॥२॥

फिरि-फिरि चितु उत हीं रहतु, टुटी लाज की लाव।
अंग-अंग-छबि-झौंर मैं भयौ भौंर की नाव ॥३॥

जोग-जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता काननु सेवत नैन ॥४॥

झीनैं पट मैं झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसति सपल्लव डार ॥५॥

लग्यो सुमनु ह्वै है सुफलु, आतप-रोसु निवारि।
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि ॥६॥

अजौं तरयौना हीं रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु के संग ॥७॥

जम-करि-मुँह-तरहरि परयौ, इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ ॥८॥

तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी समान ॥९॥

लौनैं मुहु दीठि न लगै, यौं कहि दीनौ ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी दियैं दिठौना, दीठि ॥१०॥

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं नैननु हीं सब बात ॥११॥

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिवी मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि ॥१२॥

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं बँध्यों, आगैं कौन हवाल ॥१३॥

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाँहि ॥१४॥

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥१५॥

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखै लागति नाँहि ॥१६॥

कौन सुनै, कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौ लेत हैं ए बदरा बदराह ॥१७॥

अंग-अंग नग जगमगत दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाएँ हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ गेह ॥१८॥

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत गुरु, जग-नाइक, जग बाइ ॥१९॥

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ॥२०॥

गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड़ लिलार।
हुठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गँवारि सुवार ॥२१॥

तंत्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूढ़े बूड़े, तरे जे, बूडे सब अंग ॥२२॥

केसरि कै सरि क्यौं सकै, चंपकु कितकु अनूप।
गात-रूपु लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु ॥२३॥

मकराकृत गोपाल कैं सोहत कुंडल कान।
धँस्यौ मनौ हिय-घर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान ॥२४॥

लसतु सेतसारी ढप्यौ, तरल तर्यौना कान।
पर्यौ मनौ सुरसरि सलिल रवि-प्रतिबिंबु बिहान ॥२५॥

वाहि लखैं लोइन लगै कौन जुवति की जोति।
जाकें तन की छाँह-ढिग जोन्ह छाँह सी होति ॥२६॥

नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत, आए वनमाली न ॥२७॥

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइयै आइ सुदरसनु देहु ॥२८॥

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥२९॥

छला छबीले लाल कौ नवल नेह लहि नारि।
चूँबति, चाहति, लाइ उर पहिरति, धरति उतारि ॥३०॥

चाले की बातैं चलीं, सुनत सखिनु कैं टोल।
गोएँ हूँ लोइन हँसत बिहँसत जात कपोल ॥३१॥

करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु ॥३२॥

जप माला, छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु ॥३३॥

जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ बलि, नैंक बिलोकियै चलि अचकाँ, चुपचापु ॥३४॥

पूस मास सुनि सखिनु पैं साईं चलत सवारु।
गहि कर बीन प्रवीन तिय राग्यौ रागु मलारु ॥३५॥

घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचतु जाइ।
दियैं लोभ-चसमा चखनु लघु पुनि बढ़ौ लखाइ ॥३६॥

लै चुभकी चलि जाति जित जित जल-केलि-अधीर।
कीजत केसरि-नीर से तित तित के सरि-नीर ॥३७॥

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकटु वनमाल ॥३८॥

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय माल।
भेंट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल ॥३९॥

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि तुम्हैं पत्याइ ॥४०॥

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसतु सु चित-अंतर, तऊ प्रतिबिंबितु जग होइ ॥४१॥

प्रतिबिंबित जयसाहि दुति दीपति दरपन-धाम।
सबु जगु जीतन कौं करयौ काय-व्यूहु मनु काम ॥४२॥

कनकु कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ, इहिं पाएँ हीं बौराइ ॥४३॥

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होतु प्रयागु ॥४४॥

अजौं न आए सहज रँग बिरह-दूबरें गातु।
अब हीं कहा चलाइयति, ललन, चलन की बात ॥४५॥

नई लगनि, कुल की सकुच बिकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिनु जाइ ॥४६॥

औंधाई सीसी, सु लखि बिरह-बरनि बिललात।
बिच हीं सूखि गुलाबु गौ, छीटौ छुई न गात ॥४७॥

कौड़ा आँसू-बूँद, कसि साँकर बरुनी सजल।
कीने बदन निमूँद, दृग-मलिंग डारे रहत ॥४८॥

नितप्रति एकत ही रहत, बैस-बरन-मन-एक।
चहियत जुगलकिशोर लखि लोचन-जुगल अनेक ॥४९॥

जिहिं निदाध-दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति ॥५०॥

रही दहेंड़ी ढिग धरी, भाँरी मथनियाँ बारि।
फेरति करि उलटी रई, नई बिलोवनहारि ॥५१॥

मैं बरजी कै बार तूँ, इत कित लेति करौंट।
पँखुरी लगैं गुलाब की परिहै गात खरौंट ॥५२॥

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधैं ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु ॥५३॥

चितु तरसतु, मिलत न बनतु, बसि परोस कैं बास।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी-ओट उसास ॥५४॥

में तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक आएँ यहाँ पुलकि पसीजै स्यामु ॥५५॥

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति ॥५६॥

कन दैबौ सौंप्यौ ससुर बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटैं लगि लग्यौ माँगन सबु जगु आनि ॥५७॥

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि, बिहंग ! बिचारि।
बाज, पराएँ पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि ॥५८॥

सीस-मुकट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा बसौ, बिहारी लाल ॥५९॥

जरी-कोर गोरैं बदन बढ़ी खरी छबि, देखु।
लसति मनौ बिजुरी किए सारद-ससि-परिवेषु ॥६०॥

हरि-छबि-जल जब तें परे, तब तें छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूड़त तरत, रहट घरी लौं नैन ॥६१॥

तो ही को छुटि भानु गौ देखत हीं ब्रजराज।
रही घरिक लौं भान सी मान करे की लाज ॥६२॥

न ए बिससियहिं लखि नए दुरजन दुसह-सुभाइ।
आँटैं परि प्राननु हरत काँटैं लौं लगि पाइ ॥६३॥

सखि, सोहति गोपाल कैं उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल ॥६४॥

इत आवति चलि, जाति उत चली, छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ ॥६५॥

भूषन-भारु सँभारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा हीं कै भार ॥६६॥

कहत सबै, बेंदी दियैं आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियैं अगिनितु बढ़तु उदोतु ॥६७॥

डीठि न परतु समान-दुति कनकु कनक सैं गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात ॥६८॥

करतु मलिन आछी छबिहिं, हरतु जु सहजु बिकासु।
अंगरागु अंगनु लगै, ज्यौं आरसी उसासु॥६९॥

कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचैं चढ़ै, अंत नीच कौ नीचु॥७०॥

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥७१॥

तिय, कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहिं भौंह-कमान।
चलचित-बेझैं चुकति नहिं बंक बिलोकनि-बान॥७२॥

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई, नई यह रीति॥७३॥

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार॥७४॥

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह॥७५॥

जनमु जलधि, पानिपु बिमलु, भौ जग आधु उपारु।
रहैं गुनी ह्वै गर-पर्‌यौ, भलैं न मुकता-हारु॥७६॥

रनित भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु॥७७॥

चुबतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरुतर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौं बटोही बाइ॥७८॥

रह्यौ ऐंचि, अंतु न लहै अवधि दुसासनु बीरु।
आली, बाढ़तु बिरहु ज्यौं पंचाली कौ चीरु॥७९॥

मानहु विधि तन-अच्छ छबि स्वच्छ राखिबैं काज।
दृग-पग-पोंछन कौं करे भूषन पायंदाज॥८०॥

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जुन चख-तृषा बुझाइ॥८१॥

मोर-मुकुट की चन्द्रिकनु, यौं राजत नँदनंद।
मनु ससिसेखर की अकस, किय सेखर सत चंद॥८२॥

अधर धरत हरि कैं, परत ओठ-डीठि-पट-जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र धनुष-रँग होति ।।८३।।

देखौं जागत वैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवतु, जातु भजि को जानैं किहि बाट ।।८४।।

करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल किय बसत, त्रिभंगी लाल ।।८५।।

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल ।।८६।।

समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ।।८७।।

खरी लगति गोरें गरें धँसति पान की पीक।
मनौ गुलीबंद लाल की, लाल, लाल दुति-लीक ।।८८।।

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोतु।
बंक बकारी देत ज्यौं दामु रुपैया होतु ।।८९।।

मूड़ चढ़ाएँऊ रहै पर्यौ पीठि कच-भारु ।
रहै गरैं परि, राखिबौ तऊ हियैं पर हारु ।।९०।।

इक भीजें चहलैं परैं बूड़ैं बहैं हजार।
किते न औगुन जग करै बै-नै चढ़ती बार ।।९१।।

मैं यह तोहीं मैं लखी भगति अपूरब, बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदंब की माल ।।९२।।

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाइ ।।९३।।

रही लूट ह्वै, लाल, हौं लखि वह बाल अनूप।
कितौ मिठास दयौ दई इतैं सलोनैं रूप ।।९४।।

पावस-घन अँधियार महि रह्यौ भेदु नहिं आनु।
रात द्यौस जान्यौ परतु लखि चकई चकवानु ।।९५।।

नाहिन ए पावक-प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास ।
मानहु बिरह बसंत कैं ग्रीषम लेत उसास ।।९६।।

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ॥९७॥

लटुवा लौं प्रभु-करगहें निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी-कर तें छुटें निगुनीयै ह्वै जाइ ॥९८॥

कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखें आँखि ऊजरी होति ॥९९॥

कियौ जु, चिबुक उठाइ कै, कंपित कर भरतार ।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़ें तिलक लिलार ॥१००॥

बिरह बिकल बिनु ही लिखी पाती दई पठाइ।
आँक बिहूनीयौ सुचित सूनें बाँचत जाइ ॥१०१॥

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै खरें लजाने लाल ॥१०२॥

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥१०३॥

नैंकौ उहिं न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल।
उर तें बासु छुट्यौ नहीं बास छुटें हूँ, लाल ॥१०४॥

पटु पाँखै, भखु काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी, परेवा, पुहुमि मैं एकै तुँहीं, बिहंग ॥१०५॥

मिलि, चलि, चलि मिलि, मिलि चलत आँगन अथयौ भानु।
भयौ मुहूरत भोर कौ पौरिहिं प्रथमु मिलानु ॥१०६॥

कर लै, चूमि, चढ़ाइ सिर, उर लगाइ, भुज भेटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति, धरति समेटि ॥१०७॥

मनमोहन सौं मोहु करि, तूँ घनस्यामु निहारि।
कुंजबिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥१०८॥

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किएँ नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ ॥१०९॥

पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ, छिपि जात ॥११०॥

इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्योई नाँहि।
देखें बनै न देखतै, अनदेखें अकुलाँहि ॥१११॥

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥११२॥

अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन सैं सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात ॥११३॥

सघन कुंज-छाया सुखद सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर ॥११४॥

भाल लाल बेंदी, ललन आखत रहे बिराजि।
इंदुकला कुज में बसी मनौ राहु-भय भाजि ॥११५॥

सेनापति

(सं० १७०० के लगभग)

सेनापति का व्यक्तित्व एक प्रकार से रीतिकाल की पूर्व-सीमा को स्पर्श करता है किन्तु उनके काव्य को देख कर यह सहज ही प्रतीत हो जाता है कि वे जिस परम्परा में कविता रच रहे हैं उसकी व्याप्ति उस काल तक पर्याप्त क्षेत्र तक हो चुकी थी और उसमें प्रौढ़ता के चिन्ह स्पष्ट होने लगे थे। सेनापति कवि का नाम न होकर उपनाम ही लगता है। वास्तविक नाम अभीतक अज्ञात है। निम्नलिखित कवित्त में कवि ने अपने वंश आदि के सम्बन्ध की ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया है—

दीछित परसराम दादौ है विदित नाम,
जिन कीने जज्ञ जाकी जग में बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाकौं,
गंगा तीर बसति अनूप जिन पाई है।
महा जानि मनि विद्यादान हू कौं चिंतामनि,
हीरामनि दीछित तैं पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है॥

'बसति अनूप' के आधार पर उनका निवास-स्थान अनूपशहर (बुलन्दशहर ज़िले में) निर्धारित किया गया जो अनुमान मात्र सिद्ध होता है। इसी प्रकार पहली तरंग के 'सूर बली बीर. . .राख्यौ है मुसलमान धार तैं बचाइकै' छंद से यह निष्कर्ष निकाला गया कि वे ब्रजप्रदेश के किसी सूर्यबली नामक राजा के आश्रय में रहे थे। अभी तक ब्रजप्रदेश के इतिहास से इस नाम के किसी राजा का

पता नहीं चला है। 'बली' के स्थान पर 'बल' पाठ देख कर यह संभावना भी व्यक्त की गयी कि उनके आश्रयदाता वीरवल भी हो सकते हैं। सेनापति जिस काल में हुए हैं उस समय ब्रज-भूमि में ओरछा के वीरसिंह बुंदेला का विशेष प्रभाव था क्योंकि उसने ब्रज में अनेक सुप्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण कराया था। असंभव नहीं कि सेनापति का संकेत उसकी ओर हो। वस्तुतः यथोचित प्रमाणों के अभाव में स्थिति अनिश्चित ही है।

सेनापति की अद्यावधि उपलब्ध कृति 'कवित्त रत्नाकर, ही है जिसमें चार सौ के लगभग छंद मिलते हैं। कवि ने अपने ग्रंथ को पाँच तरंगों में विभाजित किया है जिनके नाम और छंद-संख्या इस प्रकार हैं—

१. श्लेषवर्णनम्; ९६ छंद
२. शृंगारवर्णनम्; ७४ छंद
३. ऋतुवर्णनम्; ६२ छंद
४. रामायण वर्णनम्; ७६ छंद
५. रामरसायन वर्णनम्; ८६ छंद

हिन्दी साहित्य में सेनापति की ख्याति उनके सांगोपांग, सूक्ष्म, विशद एवं भाव-प्रवण प्रकृति-वर्णन के कारण विशेष है। कवि की कल्पना-शक्ति ने प्रकृति को जिस रूप में मूर्त किया है तथा उसकी संवेदनशीलता ने उसे जो सजीवता प्रदान की है उसे देखते हुए यह कहना यथार्थ है कि वह रूढ़िवादी उद्दीपन-विभाव वाली प्रकृति-वर्णन-परम्परा को काफी पीछे छोड़ गया है। यद्यपि यह सत्य है कि कवि ने उस परम्परा का भी सफल निर्वाह किया है। इसके अतिरिक्त सेनापति की दूसरी प्रमुख विशेषता उनकी रामभक्ति है। अपने को 'सीतापति' का सेवक कहने में कवि गर्व का अनुभव करता है। कवित्त 'रत्नाकर' की अन्तिम दो तरंगें राम-कथा और राम-यश-वर्णन से ही सम्बद्ध हैं। अन्तिम तरंग में राम के अतिरिक्त विष्णु के कृष्ण, नृसिंह आदि अन्य अवतारों का भी समावेश है जो कवि की उदारवृत्ति का परिचायक है। शिव और गंगाविषयक रचना भी मिलती है। कृष्णकथा और ब्रज से भी सेनापति को गंभीर प्रेम था इसकी व्यंजना निम्न पंक्तियों से होती है—

सेनापति चाहत है सकल जनम भरि,
वृन्दावन-सीमा तें न बाहिर निकसिबो।
राधा-मन-रंजन की सोभा नैन-कंजन की,
माल गरे गुंजन की कुंजन को बसिबो।

सेनापति की आभ्यंतरिक चेतना रीतिकालीन थी। अपनी संयमित सरस पद-रचना एवं 'द्वै अरथ निरवाह' की शक्ति पर उन्हें गर्वपूर्ण विश्वास था। श्लेष उनका सर्वप्रिय अलंकार था जिसे उन्होंने मात्रअलंकार के रूप में प्रस्तुत न करके एक विशिष्ट द्वयर्थक काव्यशैली के रूप में ग्रहण किया है और जिसका वे अपने-आपको पूर्ण पंडित घोषित करते हैं। अपने समय में ही सेनापति ने अपनी इस चमत्कारपूर्ण काव्यशैली से बहुत से कवियों तथा काव्यमर्मज्ञों को प्रभावित किया था, इसका संकेत उनकी कविता से मिलता है। उनके कवित्त विशेष सुन्दर होने के कारण चुरा लिये जाते थे। कहते हैं इसी कारण उन्होंने ध्यानपूर्वक प्रत्येक छंद में अपने नाम को समाविष्ट किया है तथा इसीलिए सवैया छंद का प्रयोग ही नहीं किया क्योंकि उसकी गति में उनका नाम नहीं आता है।

संकलन

सुरतरु सार की, सवाँरी है विरंचि पचि,
कंचन खचित चिन्तामनि के जराइ की।
रानी कमला कौं पिय-आगम-करन हारी,
सुरसरि-सखी, सुख-दैनी, प्रभु-पाइ की।
बेद मैं बखानी, तीनि लोकन की ठकुरानी,
सब जग जानी सेनापति के सहाइ की।
देव-दुख-दंडन, भरत-सिर-मंडन, वे,
बंदौ अघ खंडन खराऊँ रघुराइ की ॥१॥

मूढ़न कौं अगम सुगम एक ताकौं, जाकी
तीछन अमल बिधि बुद्धि है अथाह की।
कोई है अभंग कोई पद है सभंग, सोधि
देखे सब अंग, सम सुधा के प्रवाह की।
ज्ञान के निधान, छंद कोष सावधान, जाकी
रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
सेवक सियापति कौं, सेनापति कवि सोई,
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की ॥२॥

दोष सों मलीन, गुन हीन कविता है, तो पै,
कीने अरबीन परबीन कोई सुनि है।
बिन ही सिखाए, सब सीखि हैं सुमति जौ पै,
सरस अनूप रसरूप या मैं धुनि है।
दूषन कौ करि कै, कवित्त बिन भूषन कौ
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरमुनि है।
रामै अरचत सेनापति चरचत दोऊ
कबित रचत यातैं पद चुनि चुनि है ॥३॥

राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं,
बुध कवि के जो उपकंठ ही बसति है।
जोए पद मन कौं हरष उपजावति है,
तजै को कनरसै जो छंद सरसति है।
अच्छर हैं विशद करति उषै आप सम,
जातें जगत की जड़ताऊ बिनसति है।
मानौं छवि ताकी उदवत सविता की सेना,
पति कबि ताकी कबिताई बिलसति है ॥४॥

तुकन सहित भले फल कौ धरत सूधे,
दूर कौं चलत जे हैं धीर जिय ज्यारी के।
लागत विविध पक्ष सोहत हैं गुन संग,
स्रवन मिलत मूल कीरति उज्यारी के।
सोई सीस धुनै जाके उर मैं चुभत नीके,
बेग विधि जात मन मोहैं नर नारी के।
सेनापति कवि के कवित्त बिलसत अति,
मेरे जान बान हैं अचूक चापधारी के ॥५॥

पैये भली घरी तन सुख सब गुन भरी,
नूतन अनूप मिहीं रूप की निकाई है।
आछी चुनि आई कैधों पेंचन सों पाई प्यारी,
ज्यों ज्यों मनभाई त्यों त्यों मूड़न चढ़ाई है।
पूरी गजगति बरदार है सरस अति,
उपमा सुमति सेनापति बनि आई है।
प्रीति सौं बाँधै बनाइ राखै छबि थिरकाइ,
काम की सी पाग विधि कामिनी बनाई है ॥६॥

सदा नंदी जाकौं आसा कर हैं बिराजमान,
नीकौ घनसार हू तैं बरन है तन कौ।
सैन सुख राखै सुधा दुति जाके सेखर है,
जाके गौरी की रति जो मथन मदन कौं।

जो है सब भूतन कौ अंतर निवासी रमै
धरै उर भोगी भेष धरत नगन कौं।
जानि बिन कहूँ जानि सेनापति कहूँ मानि,
बहुधा-उमाधव कौं भेद छाँड़ि मन कौं ॥७॥

नाहीं नाहीं करैं थोरी माँगे सब दैन कहैं,
मंगन कौं देखि पट देत बार बार हैं।
जिनकौ मिलत भली प्रापति की घरी होति,
सदा सब जन मनभाए निरधार हैं।
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरैं दान पाठ परिवार हैं।
सेनापति बचन की रचना बिचारौ जामैं,
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं ॥८॥

तीर तें अधिक वारिधार निरधार महा,
दारुन मकर चैन होत है नदीन कौं।
होति है करक अति बड़ी न सिराति राति,
तिल तिल बाढ़ै पीर पूरी बिरहीन कौं।
सीरक अधिक चारि ओर अवनी रहै न,
पांउरीन बिना क्यों हूँ बनत धनीन कौं।
सेनापति बरनी है बरषा सिसिर रितु,
मूढ़न कौं अगम सुगम परबीन कौं ॥९॥

देखैं छिति अम्बर जलै है चारि ओर छोर,
तिन तरवर सब ही कौं रूप हरयौ है।
महा झर लागै जोति भादव की होति चलै,
जलद पवन तन सानौं परयौ है।
दारुन तरनि तरैं नदी सुख पावै सब,
सीरी घन छाँह चारिबौई चित धरयौ है।
देखौ चतुराई सेनापति कबिताई की जु,
ग्रीषम विषम बरषा की सम करयौ है ॥१०॥

बीरें खाइ रही तातें सोहति रकतमुखी,
नाँगी ह्वै नची है संक तजि अरि भीर की।
निरवारै वारन बिसारै पुनि हार हू कौं,
आड़ हू भुलावै नखसिख भरी नीर की।
सेनापति पियन कौ राखै सावधान धार,
आगे ही चलावै घात जानि जो सरीर की।
जापर परति ताहि लाल करि डारै मारि,
खेलत समर फाग तेग रघुबीर की ॥११॥

तेरे जीकी वसुधा है वाके तौ नव सुधा है,
तू तौ छत्रपति सो नछत्र पति मानिये।
सूर सभा तेरी जोति होति है सहसगुनी,
एक सूर आगे चंद जोति पै न जानिये।
सेनापति सदा बड़ी साहिबी अचल तेरी,
निसि दिन चंद चल जगत बखानिये।
महाराज रामचंद चंद ते सरस तू है,
तेरी समता को चंद कैसे मन आनिये ॥१२॥

तारन की जोति जाहि मिले पै बिमल होति,
जाके पाइ संग मै न दीप सरसत है।
भुवन प्रकास उर जानिये उरध अध,
सोउ तही मध्य जाके जगतै रहत है।
कामना लहत द्विज कौसिक सरब बिधि,
सज्जन भजत महातम हित रत है।
सेनापति बैन मरजाद कविताई की जू,
हरि रबि अरुन तमी कौं बरनत है ॥१३॥

अँखिया सिराती ताप छाती की बुझाती रोम
रोम सरसाती तन परस सरस ते।
रावरे अधीन तुम बिन अति दीन हम,
नीर हीन मीन जिमि काहे कौं तरसते।

सेनापति जीवन अधार निरधार तुम,
जहाँ कौ ढरत तहाँ टूटत अरस ते ।
उनै उनै गरजि गरजि आए घनस्याम,
ह्वै कै बरसाऊ एक बार तौ बरसते ॥१४॥

कालिन्दी की धार निरधार है अधर, गन
अलि के धरत जानिकाई के न लेस हैं ।
जीते अहिराज, खंडि डारे हैं सिखंडि, घन,
इंद्रनील कीरति कराई नाहिं ए सहैं ।
एड़िन लगत सेना हिय के हरष कर,
देखत हरत रति कंत के कलेस हैं ।
चीकने सघन अँधियारे तैं अधिक कारे,
लसत लछारे, सटकारे तेरे केस हैं ॥१५॥

आए परभात सकुचात, अलसात गात,
जाउक तिलक लाल भाल पर लेखियै ।
सेनापति मानिनी के रहे रति मानि नीके,
ताही तें अधर रेख अंजन की रेखियै ।
सुख रस भीने प्रानप्यारी बस कीने पिय,
चिन्ह ये नवीने परतच्छ अच्छ पेखियै ।
होत कहा नींदे, एतो रैन के उनींदे अति,
आरसीलै नैनां आरसी लै क्यों न देखियै ॥१६॥

बिन ही जिरह हथियार बिन ताके अब,
भूलि मति जाहु सेनापति समझाए हौं ।
करि डारी छाती घोर-घाइन सो राती-राती,
मोहिं धौं बतावौ कौन भाँति छूटि आए हौं ।
पौढ़ो बलि सेज, करौं औषद की रेज बेगि,
मैं तुम जियत पुरबीले पुन्य पाए हौं ।
कीने कौन हाल! वह बाघिन है बाल! ताहि,
कोसति हौं लाल, जिन फारि फारि खाए हौं ॥१७॥

फूलन सौं बाल की बनाइ गुही बेनी लाल,
भाल दीनी बेंदी मृगमद की असित है ।
अंग अंग भूषन बनाइ ब्रज-भूषन जू,
बीरी निज कर कै खवाई अति हित है ।
ह्वै कै रस बस जब दीबें कौं महाउर कै,
सेनापति स्याम गह्यौ चरन ललित है ।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सौं,
कही प्रानपति यह अति अनुचित है ॥१८॥

सहज बिलास हास हिय के हुलास तजि,
दुख के निवास प्रेमपास परियत है ।
भूलि जात धाम सोच बाढ़त है आठौ जाम,
बिना काम तरसि तरसि मरियत है ।
मिलन न पैयै बिन मिले अकुलैयै अति,
सेनापति ऐसे कैसे दिन भरियत है ।
कहा कहौं तोसौं मन, बात सुनि मो सौं,
जाकौं देखिबो कठिन तासो नेह करियत है ॥१९॥

लाल लाल केसू फूलि रहे हैं बिसाल, संग,
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि मैं मिलाए हैं ।
तहाँ मधु काज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन उपबन-बन धाए हैं ।
सेनापति माधव महीना मैं पलास तरु,
देखि देखि भाउ कबिता के मन आए हैं ।
आधे अनसुलगि, सुलगि रहे आधे, मानौ,
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं ॥२०॥

वृष कौ तरनि तेज सहसौं किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है ।
तचति धरनि जगजरत झरनि, सीरी,
छाँह कौ पकरि पंथी-पंछी बिरसत है ।

सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत,
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत है ।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौ पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ॥२१॥

दुरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पावस, न पाई प्रेम-पतियाँ ।
धीर जलधर की, सुनत धुनि धरकी, है
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ ।
आई सुधि बर की, हिए मैं आनि खरकी, तू
मेरी प्रान प्यारी' यह पीतम की बतियाँ ।
बीती औधि आवन की, लाल मनभावन की,
डग भई बावन की, सावन की रतियाँ ॥२२॥

गगन अँगन घनाघन तैं सघन तम,
सेनापति नैंक हू न नैंन मटकत हैं ।
दीप की दमक, जीगनानि झमक, छाँड़ि
चपला चमक और सौं न अटकत हैं ।
रबि गयौ दबि मानौं ससि सोऊ धसि गयौ,
तोरि तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं ।
मानौं महा तिमिर तैं, भूलि परी बात तातैं,
रबि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं ॥२३॥

नीके हौ निठुर कंत मन लै पधारे अंत,
मैंन मयमंत, कैसे बासर बराइहौं ।
आसरौ अवधि कौं, सो अवध्यौ बितीत भई,
दिन दिन पीत भई रही मुरझाइ हौं ।
सेनापति प्रानपति साँची हौं कहति, एक
पाइ कै तिहारे पाइ प्रानन कौ पाइ हौं ।
इकली डरी हौं, धनु देखि कै डरी हौं, खाइ,
बिस की डरी हौं, घनस्याम मरि जाइहौं ॥२४॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै।
घन सों गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रबि गयौ खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोइ कै ॥२५॥

पाउस निकास तातें पायौ अवकास, भयौ,
जोन्ह कौ प्रकास, सोभा ससि रमनीय कौं।
बिमल अकास होत बारिज बिकास, सेना-
पति फूले कास हित हंसन के हीय कौं।
छिति न गरद, मानौं रँगे हैं हरद सालि,
सोहत जरद, को मिलावै हरि पीय कौं।
मत्त हैं दुरद, मिटयौ खंजन-दरद, रितु,
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं ॥२६॥

खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृंग फटकि पहार के।
अंबर अडंबर सौं उमड़ि घुमड़ि, छिन
छिछकैं छछारे छिति अधिक उछार के।
सलिल सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के ॥२७॥

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं।

उदित बिमल चंद चाँदनी छिटक रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन हैं ॥२८॥

बरन्यौ कबिन कलाधर कौं कलंक, तैसौ
को सकै बरनि कबि हू की मति छीनी है।
सेनापति बरनी अपूरब जुगति ताहि,
कोबिद बिचारौ कौन भाँति बुद्धि दीनी है।
मेरे जान जेतिक सौं सोभा होत जानी राखि,
तेतिकै कलान रजनी की छबि कीनी है।
बढ़ती के राखे, रैनि हू तैं दिन ह्वैहै, यातैं,
आगरी मयंक तैं कला निकासि लीनी है ॥२९॥

सीत कौ प्रबल सेनापति कोपि चढ़यौ दल,
निबल अनल गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर तेई बरसैं बिषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन मैं जाइ कै।
धूम नैन बहैं लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिये सों लगाए रहैं नैकु सुलगाइ कै।
मानौ भीत, जानि महासीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै ॥३०॥

सिसिर मैं ससि कौ सरूप पावै सबिताऊ,
घामहूँ मैं चाँदनी की दुति दमकति है।
सेनापति होत सीतलता है सहसगुनी,
रजनी की झाईं बासर मैं झमकति है।
चाहत चकोर सूर ओर दृग-छोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद है कमोदनी कौं,
ससि संक पंकजिनी फूलि न सकति है ॥३१॥

सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरि कै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
सेनापति पाई कछू सोचि कै सुमिरि कै।
सीत हैं सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही ते आवत है फिरि कै।।३२।।

अब आयो माह प्यारे लागत हैं नाह, रबि
करत न दाह जैसो अवरेखियत है।
जानियै न जात बात कहत बिलात दिन,
छिन सौं न तातें तनकौं बिसेखियत है।
कलप सी राति, सो तौ सोए न सिराति क्यौं हू,
सोइ सोइ जागे पै न प्रात पेखियत है।
सेनापित मेरे जान दिन हूँ तें राति भई,
दिन मेरे जान सपने में देखियत है।।३३।।

तोरयो है पिनाक, नाकपाल बरसत फूल,
सेनापित कीरति बखानै रामचंद की।
लै कै जयमाल, सिय बाल है बिलोकी छबि,
दसरथ लाल के बदन अरबिन्द की।
परी पेम-फंद, उर बाढ़यौ है अनंद अति,
आछी मंद मंद चाल चलत गयंद की।
बरन कनक बनी, बानक बनक आई,
झनक मनक बेटी जनक नरिंद की।।३४।।

सीता अरु राम, जुवा खेलत जनक-धाम,
सेनापति देखि नैंन नैंकहू न मटके।
रूप देखि देखि रानी, वारि फेरि पियैं पानी,
प्रीति सों बलाइ लेत कैयौ कर चटके।

पहुँची के हीरन में दंपति की झाँई परी,
चंद बिंब मानौ मध्य मुकुर निकट के।
भूलि गयो खेल दोऊ देखत परसपर,
दुहुँन के दृग प्रतिबिंबन सौं अटके॥३५॥

जनक नरिंद नंदिनी कौं बदनारबिंद,
सुन्दर बखान्यौ सेनापति बेद चारि कैं।
बरनी न जाई जाकी नैंकहू निकाई, लौन,
राई करि पंकज निसंक डारे वारि कैं।
बार बार जाकी बराबरि कौं बिधाता अब,
रचि पचि बिधु कौं बनावत सुधारि कैं।
पून्यौ कौं बनाइ जब जानत न वैसौ भयौ,
कुहू के कपट तब डारत बिगारि कैं॥३६॥

पान चरनामृत कौ, गान गुन गनन कौं,
हरि कथा सुनि सदा हिय लौं हुलसिबौ।
प्रभु के उतीरन की, गूदरीयौ चीरन की,
भाल, भुज, कंठ, उर, छापन कौं लसिबौ।
सेनापति चाहत है सकल जनम भरि,
बृन्दाबन सीमा तें न बाहिर निकसिबौ।
राधा-मन-रंजन की, सोभा नैन-कंजन की,
माल गरे गुंजन की, कुंजन कौं बसिबौ॥३७॥

तुम करतार जन रच्छा के करनहार,
पुजवनहार मनोरथ चित चाहे के।
यहि जिय जानि सेनापति है सरन आयौ,
हूजियै सरन महा पाप-ताप दाहे के।
जौ कौहू कहौ कि तेरे करम न तैसे, हम
गाहक हैं सुकृति भगति रस लाहे के।
आपने करम करि हौं ही निबहौंगौं, तौब,
हौं ही करतार, करतार तुम काहे के॥३८॥

केतौ करौ कोई, पैयै करम लिख्यौई, तातैं
दूसरी न होई उर सोई ठहराइयै ।
आधी तैं सरस गई बीति कै बरस, अब
दुज्जन दरस बीच न रस बढ़ाइयै ।
चिंता अनुचित तजि, धीरज उचित, सेना-
पति ह्वै सुचित राजा राम जस गाइयै ।
चारि बरदानि तजि पाइ कमलेच्छन के,
पाइक मलेच्छन के काहे कौं कहाइयै ।।३९।।

जोर जलचर अति क्रुद्ध करि जुद्ध कीनौ,
बारन कौं परी आनि बार दुख-दंद की ।
ह्वै कै नकवानी दीन बानी कौं सुनाइ, जौ लौं
लै कैं कर पानी पूजा करै जग बंद की ।
तौ लौं निज दास की पुकार लाग्यौ दीनबन्धु,
सेनापति प्रभु मन हू की गति मंद की ।
जानि न परति न बखानी जाति कछू ताही,
पानी मैं प्रगट्यौ किधौं बानी मैं गयंद की ।।४०।।

ग्राह के गहे ते अति व्याकुल बिहाल भयौ,
प्रान पत ताने रह्यौ एक ही उसास कौं ।
तहाँ सेनापति, महाराज बिना और कौन,
धाइ आइ साँकरे सँघाती होइ दास कौं ।
गाढ़ मैं गयंद गरुड़ध्वज के पूजिबे कौं,
जौ लौं कोई कमल लपकि लेई पास कौं ।
तौ लौं, ताही बार, ताही बारन के हाथ पर्‌यौ,
कमल के लेत हाथ कमलानिवास कौं ।।४१।।

चीर के हरत बलबीर जू बढ़ायौ चीर,
दौरि मारि डार्‌यौ न दुसासन प्रगटि कै ।
सेनापति जानि याकौं जान्यौ है निदान, सुनि,
जुगति बिचारौ जौब रावरे मन टिकै ।

जोई मुख माँग्यौ, सोई दीन्यौ बरदान, ओप
दीनी द्रोपदी कौं, रही पट सों लपटि कै।
रोवत मैं श्रीबर, कहत कही छीबर, सु
मेरे जान यातैं चले छीबर उपटि कै।।४२।।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

(जन्म सं० १९२३—अवसान सं० १९८९)

'रत्नाकर' ब्रजभाषा के अन्तिम महान् कवि थे, यह कथन यथार्थ है। वस्तुतः उन्होंने रीतिकाल की परम्परा को उसकी सम्पूर्णता के साथ आत्मसात् किया और व्यक्तिगत प्रतिभा एवं साधना द्वारा उसे सम्वर्धित भी किया। आधुनिक युग में जन्म लेते हुए भी वे स्वभाव से प्राचीन थे और खड़ीबोली के विकासशील युग में भी अतीतोन्मुखी होकर आजीवन ब्रजभाषा में ही काव्य रचना करते रहे। इससे ब्रजभाषा के प्रति उनका गहन स्वाभाविक मोह तथा उसको समृद्ध बनाने का सुदृढ़ संकल्प दोनों स्पष्ट हो जाते हैं। वे कल्पनाशील, भावुक तथा सामर्थ्यवान् कवि थे और साथही काव्य के शास्त्रीय पक्ष के भी गंभीररूप से परिचित थे। किसी रीतिग्रंथ का निर्माण उन्होंने नहीं किया तो भी उनके काव्य में रीति के प्रायः सभी लक्षण प्रतिभासित होते हैं। सफल मुक्तककार होने के अतिरिक्त वे प्रबन्ध काव्य की ओर भी प्रवृत्त हुए जिसका परिणाम उनके 'हरिश्चन्द्र' और 'गंगावतरण' काव्य हैं। 'उद्धवशतक' जो रत्नाकर की काव्य शक्ति का चरम उदाहरण है, के मुक्तकों में प्रबन्ध सूत्र का अंत तक सूक्ष्मता से निर्वाह किया गया है यद्यपि उसका मुख्य आकर्षण प्रबन्धात्मकता में न होकर मुक्तकों की सरसता तथा उक्ति वैचित्र्य में ही निहित है। वे जब तक जीवित रहे ब्रजभाषा-काव्य के प्रतीक बनकर जीवित रहे। काशी, प्रयाग और अयोध्या के केन्द्रों में उन्होंने शिथिल होती हुई ब्रजभाषा काव्यधारा को नूतन जीवन प्रदान किया। 'अच्छा कवि' होने का आशीर्वाद उन्हें किशोरावस्था में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्राप्त हुआ था जो पूर्णतया चरितार्थ हुआ। भारतेन्दु की गोष्ठी परम्परा को उन्होंने 'रसिक मंडल' के रूप में बनाये रक्खा और काव्य सम्बन्धी एक पत्रिका भी प्रकाशित की।

भाषा के सम्बन्ध में वे विशेष जागरूक थे। ब्रजभाषा का कुछ अंशों में उन्होंने

स्थिरीकरण और परिमार्जन भी किया। स्वयं उनकी रचनाओं की भाषा में पर्याप्त परिष्कार और संगठन उपलब्ध होता है। 'बिहारीरत्नाकर' का 'प्राक्कथन' उनकी भाषा सम्बन्धी इस जागरूकता को यथेष्टमात्रा में व्यक्त करता है। बिहारी सतसई के बाद उन्होंने सूरसागर के सम्पादन को हाथ में लिया किन्तु वह दुर्भाग्यवश अपूर्ण ही रह गया।

आचार्य शुक्ल ने रत्नाकर की सूझ और उक्ति वैचित्र्य की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उनकी कविता 'पुराने कवियों के टक्कर की होती थी'। वास्तव में यह कथन अपर्याप्त है क्योंकि कुछ स्थलों पर भावाभिव्यक्तियों में रत्नाकर पुराने कवियों की अपेक्षा अधिक कौशल प्रदर्शित कर सके हैं। भाषा में उनके आदर्श बिहारी थे और भावों में पद्माकर अन्य कवियों से भी उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की किन्तु इन कवियों का प्रभाव विशेष प्रतीत होता है।

रत्नाकर उर्दू और फारसी और अंग्रेजी का सम्यक् ज्ञान रखते थे। फारसी और उर्दू में उन्होंने कविता भी की है तथा अँगरेजी से पोप के 'Essay on Criticism' का 'आलोचनादर्श' नाम से ब्रजभाषा में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। पद्मसिंह शर्मा की तरह उन्हें भी ब्रजभाषा की कविताओं की उर्दूफारसी की कविताओं के साथ तुलनात्मक व्याख्या करने में विशेष रस आता था।

रीतिकाल के प्राचीन कवियों की तरह उनका सारा जीवन राजसी ऐश्वर्य के वातावरण में व्यतीत हुआ। उनका जन्म मुगल काल से प्रतिष्ठित, पानीपत और दिल्ली में रहने वाले, एक अग्रवाल परिवार में काशी में हुआ था। बी०ए० तक शिक्षा पाने के बाद वे आवागढ़ राज्य में सेक्रेटरी नियुक्त हो गये। वहाँ से इन्हें अयोध्या के राजा प्रतापनारायण सिंह ने जो 'रसकुसुमाकर' के संग्रहकर्त्ता तथा ब्रजभाषा काव्य के मर्मज्ञ एवं रसिक थे, अपने पास बुला लिया और अपना प्रधान मंत्री नियुक्त कर दिया। राजा साहब के निधन के बाद इनको अयोध्या की महारानी की विशेष कृपा प्राप्त हुई। उन्होंने रत्नाकर को अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। और उनके 'गंगावतरण' को पुरस्कृत भी किया।

रत्नाकर महावीर प्रसाद द्विवेदी से पूर्व सरस्वती के संपादक मंडल में थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन के वे सभापति चुने गये। उनका देहावसान सं० १९८९ में ६६ वर्ष की आयु में हरिद्वार में हुआ और एक प्रकार से उनके साथ ही रीतियुग की रही सही गरिमा भी समाप्त हो गयी।

नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से उनकी समस्त काव्यकृतियों का संग्रह 'रत्नाकर' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

संकलन

जासौं जाति विषय-विषाद की बिवाई बेगि,
चोप-चिकनाई चित चारु गहिबौ करै।
कहै 'रतनाकर' कवित्त-वर-व्यंजन मैं
जासौं स्वाद सौगुनौ रुचिर रहिबौ करै।
जासौं जोति जागति अनूप मन-मंदिर मैं,
जड़ता-विषम-तम-तोम दहिबौ करै।
जयति जसोमति के लाड़िले गुपाल जन,
रावरी कृपा सौं सो सनेह लहिबौ करै ॥१॥

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रवीन सुकबीनि सौं।
कहै 'रतनाकर' बुझावन लगे ज्यों कान्ह,
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं
प्रेम परचो चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ॥२॥

ऊधव कैं चलत गुपाल उर माँहि चल-
आतुरीमची सो परै कहि न कबीनि सौं।
कहै 'रतनाकर' हियौ हूँ चलिबै को संग
लाख अभिलाष लै उमहि बिकलीनि सौं।
आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सकस्यौई परै
स्वेद ह्वै रसोई परै रोम-झंझरीनि सौं।
आनन-द्वार तैं उसाँस ह्वै बढ़यौई परै
आँसु ह्वै कढ़्यौई परै नैन-खिरकीनि सौं ॥३॥

भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की
सुधि ब्रज-गाँवनि में पाँवन जबै लगीं।
कहै 'रतनाकर' गुवालिनि की झौरि झौरि,
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगी।
उझकि-उझकि पदकंजनि के पंजनि पै
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।।४।।

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ,
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै 'रतनाकर' न आए मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से।
सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से।।५।।

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्सन हूँ यौं सुधि सिराई है।
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ,
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषमज्वर-वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं।।६।।

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप,
धारे प्रन फेरत कौ मति ब्रजवारी की।
कहै 'रतनाकर' पै प्रीति-रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की।

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एकही, कह्यो जो तुम,
तौहूँ हमें भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न वारिधिता वारिधि की,
बूँदता बिलैहैं बूँद बिवस बिचारी की।।७।।

आए हौ सिखावन कौ जोग मथुरा तें तोपै,
ऊधौ ये वियोग के बचन बतरावौ ना।
कहै 'रतनाकर' दया करि दरस दीन्यौ,
दुख दरिबे कौ, तोपै अधिक बढ़ावौ ना।
टूक-टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हूँ कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजारयो मोहिं,
हिय में अनेक मनमोहन बसावौ ना।।८।।

ल्याए लादि बादि-हीं लगावन हमारे गरें,
हम सब जानी कहौं सुजस-कहानी ना।
कहै 'रतनाकर' गुनाकर गुविंद हूँ कौं,
गुननि अनंत बेधि सिमिटि समानी ना।
हाय बिन मोल हूँ बिकी न मग हूँ में कहूँ,
तापै बटपार-टोल लोल हूँ लुभानी ना।
केती मिली मुकति बधू बर के कूबर मैं,
ऊबर भई जो मधुपुर मैं समानी ना।।९।।

हम परतच्छ मैं प्रमान अनुमानैं नाहिं,
तुम भ्रम-भौंर मैं भलैं हीं बहिबौ करौ।
कहै 'रतनाकर' गुविंद-ध्यान धारैं हम,
तुम मनमानौ ससा-सिंग गहिबौ करौ।
देखति सो मानति हैं सूधौ न्याव जानति हैं,
उधौ! तुम देखि हूँ अदेख रहिबौ करौ।
लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ।।१०।।

रंग-रूप-रहित लखात सबही हैं हमैं,
वैसौ एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहाँ।
कहै 'रतनाकर' जरी हैं बिरहानल मैं,
और अब जोति कौं जगाइ जरिहैं कहा।
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म,
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब,
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा॥११॥

सुनि गुनीं समझीं तिहारी चतुराई जिती,
कान्ह की पढ़ाई कविताई कुबरी की हैं।
कहै 'रतनाकर' त्रिकाल हूँ त्रिलोक हूँ मैं,
आनैं आन नैंकु ना त्रिदेव की कही की हैं।
कहाँहि प्रतीति प्रीति नीति हूँ त्रिवाचा बाँधि,
ऊधौ साँच मन की हिये को अरु जी की हैं।
वै तौ हैं हमारे ही, हमारे ही, हमारे ही औ,
हम उनही की उनही की उनही की हैं॥१२॥

नेम व्रत संजम के आसन अखंड लाइ
साँसनि कौं घूटिहैं जहाँ लौं गिलि जाइगौ।
रतनाकर धरेंगी मृगछाली अरु
धूरि हूँ दरेंगी जऊ अंग छिलि जाइगौ।
पाँच-आँचि हूँ की झार झेलिहैं निहारि जाहि
रावरौ हूँ कठिन करेजौ हिलि जाइगौ।
सहिहैं तिहारे कहैं साँसनि सबैं पै बस
एती कहि देहु कै कन्हैया मिलि जायगौ॥१३॥

कान्ह हूँ सौं आन ही बिधान करिबे कौं ब्रह्म
मधुपुरियानि की चपल कँखियाँ चहैं।
कहै 'रतनाकर' हँसैं के कहौ रौवैं अब
गगन-अथाह-थाह लेन मँखिया चहैं।

सगुन अगुन फंद बंद निरवारन कौं,
धारन कौं न्याय की नुकीली नखियाँ चहैं।
मोर-पँखिया कौ मौर-वारौ चारु चाहन कौं
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर-पँखियाँ चहैं ॥१४॥

ढोंग जात्यौ ढरकि परकि उर सोग जात्यौ
जोग जात्यौ सरकि स-कंप कँखियानि तैं।
कहै 'रतनाकर' न लेखते प्रपंच ऐंठि
बैठि धरा लेखते कहूँ धौं नखियानि तैं।
रहते अदेख नाहिं बेष वह देखत हूँ
देखत हमारी जान मोर पँखियानि तैं।
ऊधौ ब्रह्म-ज्ञान कौ बखान करते ना नैंकु
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तैं ॥१५॥

प्रथम भुराइ प्रेम-पाठनि पढ़ाई उन,
तन मन कीन्हें बिरहागि के तपेला हैं।
कहै 'रतनाकर' त्यौं आप अब तापै आइ,
साँसनि की साँसति के झारत झमेला हैं।
ऐसे ऐसे सुभ उपदेश के दिवेयनि की,
ऊधौ ब्रजदेस में अपेल रेल-रेला हैं।
वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग,
आप कहैं उनके गुरू हैं किधौं चेला हैं ॥१६॥

आए हौ पठाए वा छतीसे छलिया के इतै,
बीस बिसै ऊधौ बीरबावन कलाँच ह्वैं।
कहै 'रतनाकर' प्रपंच ना पसारौ गाढ़े,
बाढ़े पै रहौगे साढ़े बाइस ही जाँच ह्वै।
प्रेम अरु जोग में है जोग छठें-आठें पर-यौ,
एक ह्वै रहैं क्यौं दोऊ हीरा अरु काँच ह्वै।
तीन गुन पाँच तत्व बहकि बतावत सो,
जैहै तीन-तेरह तिहारी तीन पाँच ह्वै ॥१७॥

हाल कहा बूझत बिहाल परी बाल सबै
बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ।
रोग यह कठिन, न ऊधौ कहिबै के जोग
सूधौ सौ संदेस याहि तू न ठहराइयौ।
औसर मिलै औ सर-ताज कछु पूछहिं तौ
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू
कहिबे कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ ॥१८॥

धाईं जित तित तैं बिदाई-हेत ऊधव की
गोपी भरीं आरति सँभारति न साँसु री।
कहै 'रतनाकर' मयूर-पच्छ कोऊ लिए
कोऊ गुंज-अंजली उमाहै प्रेम-आँसु री।
भाव-भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत पट नंद जसुमति नवनीत नयौ
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी ॥१९॥

दाबि दाबि छाती पाती लिखन लगायौ सबै
ब्यौंत लिखिबे कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै 'रतनाकर' फुरति नाहिं बात कछू
हाथ धर्यौ ही-तल थहरि थरि जात है।
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैंकु धीर जोरैं पर
ऐसौ अंग ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैंकु डंक लागैं
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है ॥२०॥

भूले जोग-छेम प्रेम-नेमहिं निहारि ऊधौ
सकुचि समाने उर-अंतर हरास लौं।
कहै 'रतनाकर' प्रभाव सब ऊने भए
सूने भए नैन बैन अरथ-उदास लौं।

माँगी बिदा माँगत ज्यौं मीच उर भीचि कोऊ
कीन्यौ मौन गौन निज हिय के हुलास लौं।
बिथकित साँस लौं चलत रुकि जात फेरि
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसास लौं ॥२१॥

—उद्धव शतक से

आवत निहारे हौं गुपाल एक बाल जाकी,
लाग्यौ उपमा में कबि कोविद समाज है।
तरुन दिनेस दिव्य अरुन अमोल पाय,
छीन कटि केहरि औ गति गजराज है।
संभु कुच मुख पद्माकर दिमाक देव,
तापै घन आनँद घनेरौ कच साज है।
छवि की तरंग 'रतनाकर' है अंग,
मुसकानि रस-खानि बानि आलम नेवाज है ॥२२॥

सास कै नेकु न त्रास गुनै न सुनै कछु सीख जौ देति जिठानी।
त्यौं 'रतनाकर' आन धरै न तौ कान करै सखियान की बानी।
देखन ही की सुघात मैं डोलति बोलति बात सबै बिततानी।
रोवत रोवत ही अब तौ गिरि बाकी गयौ अँखियान कौ पानी ॥२३॥

घरे पाइ अन्हाइबे कौं जल मैं, अंग अंग फुरैरिनि सौं थहरें।
'रतनाकर' धूर-कपूर निचोल पैं, लोल छटा तन की फहरैं।
कच मेचक नीठि सँभारत हूँ, छुटि पीठि पैं यौं छबि सौ छहरैं।
मनु गंग की मंद तरंगनि मैं, लहरैं जमुना-जल की लहरैं ॥२४॥

बैठे भंग छानत अनंग-अरि रंग रमे,
अंग-अंग आनँद-तरंग छबि छावै है।
कहै 'रतनाकर' कछूक रंग ढंग औरै,
एकाएक मत्त ह्वै भुजंग दरसावै है।
तूँबा तोरि साफी छोरि मुख विजया सौं मोरि,
जैसें कंज-गंध पै मलिंद मंजु धावै है।
बैल पै बिराजि संग सैल-तनया लै बेगि,
कहत चले यौं कान्ह बाँसुरी बजावै है ॥२५॥

औचक अकेले मिले कुंज रस पुंज दोऊ,
भौचक भए औ सुधि बुधि सब ख्वै गई।
कहै 'रतनाकर त्यौं बानक विचित्र बन्यौ,
चित्र की सी पलकैं सुभौंहनि मैं प्वै गई।
नैननि मैं नैननि के बिंब प्रतिबिंबनि सौं,
दोऊ और नैननि की पाँति बँधि द्वै गई।
दोउनि कौं दोउनि के रूप लखिबे कौं मनौ,
चार आँख होत ही हजार आँख ह्वै गई ॥२६॥

दीठि तुम्हैं छ्वै छली पलट्यो रंग, दीसत साँवरौ साज सबै है।
कहै 'रतनाकर' रावरे अंगनि, चेटक पेखि प्रतच्छ परै है।
देति हैं गोरस ठाढ़े रहौ उत, रार करैं कछु हाथ न ऐहै।
साँवरे छैल छुवौगे जो मोहिं तौ, गातनि मेरे गुराई न रैहै ॥२७॥

चंचल चारु सलोनी तिया इक, राधिका कैं ढिग आइ अजानी।
दै कर कागद एक कह्यो बस, रीझिबौ मोल है याकौ सयानी।
चित्र तैं दीठि चितेरिनि ओर, चितेरिनि तैं पुनि चित्र पै आनी।
चित्र समेत चितेरिनि मोल लै, आपु चितेरिनि-हाथ बिकानी ॥२८॥

तब तो हजार मनुहार कै रिझाई पर,
अब उपचार के विचार सब ख्वै गए।
कहै 'रतनाकर' ललकि उर लैबौ कहा,
पाइ हूँ अनेकनि उपाइ सौं न छ्वै गए।
देखत तौ वैसेई लगत पर साँची सुनौ,
सरस सनेह के सुगंध-गुन ग्वै गए।
पैठत ही प्यारे मन मुकुर हमारे हाय,
सारे रुख दाहिने तिहारे वाम व्है गए ॥२९॥

ठनगन ठानति कहा हौ ठकुरानी यह,
ठसक तिहारी सब भाँतिहिं अनीठी है।
कहै 'रतनाकर' रुचै न रसिया कौं कहूँ,
फेरि पछितैहौ परी बानि यह ढीठी है।

हौं तौं हित मानौं हित बातहिं बखानौं तुम,
तापै अनुमानौ यह करति बसीठी है ।
बंद करि दीन्यो मुख नंद के लला कौ बीर,
सूधी तें सहस्र गुनी टेढ़ी भौंह मीठी है ॥३०॥

बोधि बुधि बिधि के कमंडल उठावत ही,
धाक सुरधुनि की धँसी यौं घट-घट मैं ।
कहै 'रतनाकर' सुरासुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत लिखे से चित्र-पट मैं ।
लोकपाल दौरन दसौं दिसि हहरि लागे,
हरि लागे हेरन सुपात बर बट मैं ।
खसन गिरीस लागे त्रसन नदीस लागे,
ईस लागे कसन फनीस कटि-तट मैं ॥३१॥

सेद-कन सारत सँभारत उसास हू न,
बास हू बदलि पट नील कँधियाए हौ ।
कहै 'रतनाकर' पछाए पच्छि-नायक को,
बढ़त पुकार हू के पार अगुवाए हौ ।
बाएँ पंचजन्य जात बाजत बजाएँ बिना,
दाएँ चकरात चक्र बेग यौं बढ़ाए हौ ।
कौन जन कातर गुहार लगिबै कै काज,
आज इमि आतुर गुपाल उठि धाए हौ ॥३२॥

सुमिरत सारदा हुलसि हँसि हंस चढ़ी,
बिधि सौं कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ मैं ।
ताल-तुक-हीन अंग-भंग छबि-छीन भई,
कबिता बिचारी ताहि रुचि रस प्याऊँ मैं ।
नंददास - देव - घनआनंद - बिहारी - सम,
सुकबि बनावन की तुम्हें सुधि द्याऊँ मैं ।
सुनि 'रतनाकर' की रचना रसीली रंच,
ढीली परी बीनहिं सुरीली करि ल्याऊँ मैं ॥३३॥

आवति गिरा है 'रतनाकर' निवाजन कौं,
आनँद-तरंग अंग ढहरति आवै है।
हिय-तमहाई सुभ सरद-जुन्हाई सम,
गहब गुराई गात गहरति आवै है।
बर बरदाननि के विविध विधाननि के,
दान की उमंग धुजा फहरति आवै है।
लहरति आवै दृग कोरनि कृपा की कानि,
मंद मुसुकानि-छटा छहरति आवै है ॥३४॥

बिघन बिदारन कौं कुमति निवारन कौं,
टारन कौं जेतौ जग बिपति-पसारौ है।
कहै 'रतनाकर' कहति गिरिजा यौं नाथ,
हाथ परचो रावरैं गजानन ही बारौ है।
रैन दिन चैन है न सैन इहिं उद्यन मैं,
दमहू न लेन पावै रंचक बिचारौ है।
जारौ किन कंत नैन तीसरैं दुरंत सबै,
एक दंत ही कौ अबै बालक हमारौ है ॥३५॥

करुना प्रभाव कल कोमल सुभाव-वारौ,
जन रखवारौ सदा दिवस त्रिजामा कौ।
कहै 'रतनाकर' कसकि पीर पावै उर,
ध्यान हूँ परे पै दुख दीन नर बामा कौ।
वाही हेत आखत कौ राखत बिधान नाहिं,
पूजा माँहि प्रीतम प्रवीन सत्यभामा कौ।
पांडव बधू कौ बच्यौ भात सुधि आइ जात,
छाइ जात नैननि पै तंदुल सुदामा कौ ॥३६॥

रमत रमा के संग आनंद-उमंग भरे,
अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै।
कहै 'रतनाकर' बदन-दुति औरै भई,
बूँदें छईं छलकि दृगनि नेह-नाथे पै।

धाए उठि बार न उबारन में लाई रंच,
चंचला हू चकित रही ह्वै वेग-साधे पै ।
आवत बितुंड की पुकार मग आधैं मिली,
लौटत मिल्यौ तौ पच्छिराज मग आधे पै ।।३७।।

ऐसी कछु बानक बनावति बिलच्छन कै,
जासौं डरि जम की जमाति टरि देति है ।
कहै 'रतनाकर' न माथ हुमसाइ सकै,
ताकैं हाथ ह्राय गिरिनाथ धरि देति है ।।
जुग पतिनी कौ पति नीकौ रहि पावै नाहिं,
सोरह हजारि नारि भौन भरि देति है ।
जमुना-जवैया पेखि पातक पुकारि कहैं,
भैया वह न्हात ही कन्हैया करि देति है ।।३८।।

दीन हीन सुहृद सुदामा की हवाई सुनें,
दीनबंधु दहलि दया सौं मया-पागे हैं ।
कहै 'रतनाकर' सपदि अकुलाइ उठे,
भाइ गुरु-गेह के सनेह-जुत जागे हैं ।
आइ पौरि दौरि देखि दृगन अलेख दसा,
धीर त्यागि औरहू बिसेषि दुख-दागे हैं ।
ये तौ करुना सौं छकि छिन अगुवाने नाहिं,
जानि वे पिछाने नाहिं पलटन लागे हैं ।।३९।।

सांतनु की सांति कुल क्रांति चित्र-अंगद की,
गंग-सुत आनन की कांति बिनसाइगी ।
कहै 'रतनाकर' करन द्रोन बीरनि की,
स्त्रौन-सुनी धरम धुरीनता बिलाइगी ।
द्रौपदी कहति अफनाइ रजपूती सबै,
उतरी हमारी सारी माहिं कफनाइगी ।
द्रुपद महीपति की पंच पतिहूं की हाय,
पंच पतिहूँ के पतिहूँ की पति जाइगी ।।४०।।

दीन द्रौपदी की परतंत्रता पुकार ज्यौंहीं,
तंत्र बिन आई मन-जंत्र बिजुरीनि पै ।
कहै रतनाकर त्यौं कान्ह की कृपा की कानि,
आनि लसी चातुरी-बिहीन आतुरीनि पै ।
अंग परयौ थहरि लहरि दृग रंग पर-यौं
तंग परयौ बसन सुरंग पँसुरीनि पै ।
पंचजन्य चूमन हुमसि होंठि बक्र लाग्यौ,
चक्र लाग्यौ घूमन उमगि अँगुरीनि पै ।।४१।।

आयौ जुरि उततैं समूह हुरिहारनि कौ,
खेलन कौं होरी वृषभान की किसोरी सौं ।
कहै रतनाकर त्यौं इत ब्रजनारी सबै,
सुनि सुनि गारी गुनि ठठकि ठगोरी सौं ।
आँचर की ओट ओटि चोट पिचकारिनि की,
धाइ धँसी धूँधर मचाइ मंजु रोरी सौं ।
ग्वाल बाल भागे उत भभरि उताल इत,
आपै लाल गहरि गहाइ गयौ गौरी सौं ।।४२।।

धाइ धाइ सिंधुर मदंध फूले लोधनि सौं,
गंध-लुब्ध ह्वै कै कंध रगरत गात हैं ।
कहै रतनाकर प्रभात अरुनाई माँहि,
बाघनि के लेरुवा लरत लुरियात हैं ।
उठि उठि धूम बनवासिनि के वासनि तैं,
त्रासनि तैं सीत के तहाई मँडरात हैं ।
पंछीगन सीस काढ़ि बिटप-बसेरनि तैं,
उमहि कछूक मौन गहि रहि जात हैं ।।४३।।

छाई छबि स्यामल सुहाई रजनी-मुख की,
रंच पियराई रही ऊपर मुरेरे के ।
कहै रतनाकर उमगि तरु-छाया चली,
बढ़ि अगवानी हेत आवत अँधेरे के ।

घर घर साजै सेज अंगना सिंगारि अंग,
लौटत उमंग भरे बिछुरे सबेरे के ।
जोगी जती जंगम जहाँ हीं तहाँ डेरे देत,
फेरे देत फुदकि बिहंगम बसेरे के ॥४४॥

बीर अभिमन्यु की लपालप कृपान बक्र,
सक्र-असनी लौं चक्रव्यूह माँहि चमकी ।
कहै रतनाकर न ढालनि पै खालनि पै,
झिलिम झपालनि पै क्यों हूँ कहूँ ठमकी ।
आई कंध पै तौ बाँटि बंध प्रतिबंध सबै,
काटि कटि-संधि लौं जनेवा ताकि तमकी ।
सीस पै परी तौ कुंड काटि मुंड काटि फेरि,
रुंड के दुखंड कै धरा पै आनि धमकी ॥४५॥

ऐसी दसा लखि कै सखि रावरी बावरी होति न धीर धरयौ परै ।
कौन के रूप के पानिप कौ रतनाकर यौं भरि कै उबरयौ परै ।
बूझें न मानति भेद कछू पर स्वेद ह्वै रोमनि सौं सु ढरयौ परै ।
बैननि सौं रस ह्वै निकरयौ परै नैननि सौं बनि आँसु झरयौ परै ॥४६॥

राधिका कौ इक चित्र लिए कोऊ,आई सकाति सँभारति चीरैं ।
पाइ चितेरिनि त्यौर मैं सो रतनाकर औरही आतुरी-भीरैं ।
ठाढ़ी छकी सी रही पल रोकि बिलोकि चकी सी रहीं सब बीरैं ।
दोय तैं एक भए मन दोऊ के एक, तैं ह्वैं गइ द्वै तसबीरैं ॥४७॥

देखि तव आनन अपार सुखमा कौ भार
चित्त चतुरानन कैं अजगुत जाग्यौ है ।
कहै रतनाकर सुधा के मंजु आकर सौं
तोलन कौं ताहि लोल अति अनुराग्यौ है ।
समता न पाइ पै उपाय करिबे कौं कछू
हमता लगाइ ममता सौं मोह पाग्यौ है ।
तारनि की रासि सौं बढ़ायौ तासु गौरव पै
तौ हूँ पला चंद कौ अकास जाइ लाग्यौ है ॥४८॥

भौं चितवनि डोरे बरुनि असि कटार फँद तीर ।
कटत फटत बाँधत बिंधत जिय हिय मन तन बीर ॥४९॥

कापै तेरे दृगनि की कही बड़ाई जाइ ।
त्रिभुवन जाके मुख बसै सो जिहिं रह्यौ समाइ ॥५०॥

किये लाल जब तैं ललकि बाल-नैन निज ऐन ।
बरुनी ओट उसीर की तय तैं सींचत मैन ॥५१॥



रीतिशैली के प्रेमी-कवि

रसखानि

(कविता-काल सं० १६४०–१६७० के लगभग)

'रसखानि' की रस-द्रवित भावानुभूति ही उनकी ख्याति का मुख्य कारण है। भारतेन्दु की प्रसिद्ध उक्ति 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारियै' सबसे अधिक इन पर ही चरितार्थ होती है। रसखानि की रचनाएँ मुक्तक होकर भी प्रगीतात्मक तरलता से युक्त हैं, यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी सम्पूर्ण कृतियों में आत्मतल्लीनता और प्रेमजन्य आत्मोत्सर्ग मिश्रित विमुग्धता की भावना गहराई से प्राप्त होती है।

रसखानि का प्रामाणिक जीवन-वृत्त एक प्रकार से अनुपलब्ध है। स्फुट सूत्रों से कुछ ही बातें ज्ञात हो सकी हैं। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार इनका वास्तविक नाम सय्यद इब्राहीम था और जन्मस्थान पिहनी (जिला हरदोई) था। रसखानि की एक लघु कृति 'प्रेम वाटिका' से उनके वंश और स्थान के सम्बन्ध में भिन्न सूचना मिलती है—

देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा-बंस की ठसक छाँड़ि रसखानि॥

'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में प्राप्त 'रसखानि' के जीवनवृत्त से उनके दिल्ली निवास की पुष्टि होती है, जहाँ किसी 'साहुकार के सुंदर छोरा' में उनका मन आसक्त हो गया था। उनकी लौकिक आसक्ति की अन्य किंवदन्तियाँ भी मिलती हैं, जिनमें उसकी अलौकिक परिणति का भी उल्लेख है। वार्ता के अनुसार

गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उन्हें गोविंदकुंड पर नाम सुना कर पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया था। आगे वार्ताकार ने लिखा है--

'तब रसखान श्रीनाथ जी के स्वरूप में आसक्त भये।। तब वे रसखान ने अनेक कीर्तन और कवित्त और दोहा बहोत प्रकार के बनाये। जैसें जैसें लीला के दर्शन विनकुं भये।। वैसे ही वर्णन किये।। सो वे रसखान श्री गुसाईं जी के कृपापात्र हते।।'

वैष्णव प्रभाव से मुसलमान होकर भी रसखानि कंठी-माला धारण करने लगे थे। इस संबंध में जहाँगीर ने एक फर्मान जारी किया था। दोनों बातों को मिलाकर कवि के जीवनवृत्त के निर्माण का प्रयास श्री भवानीशंकर याज्ञिक ने पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ में प्रकाशित अपने 'आलम और रसखान' शीर्षक लेख में किया है।

इस उद्धरण में रसखानि द्वारा दोहा और कवित्त के अतिरिक्त कीर्तन (पद) बनाये जाने का भी उल्लेख है, परन्तु अब तक उनकी जो रचनाएं उपलब्ध हुई हैं, उनमें प्रेमवाटिका के दोहों तथा स्फुट कवित्त सवैयों की संख्या तो पर्याप्त है, जबकि पद केवल एक ही है। विशेष खोज होने पर अधिक 'कीर्तन' की संभावना है, क्योंकि एक पद प्राप्त होने से वार्ता का कथन कुछ दूर तक प्रमाणित तो हो ही जाता है। रसखानि की प्राप्त रचनाओं को देखने से यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम कवित्त-सवैयों को ही बनाया। उनके इस प्रकार के मुक्तक परवर्ती व्यक्तियों द्वारा विभिन्न क्रम से संग्रहीत एवं प्रकाशित हुए, जैसे किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा 'रसखान शतक' तथा 'सुजान रसखान,' प्रभुदत्त ब्रह्मचारी द्वारा 'रसखान पदावली', अमीर सिंह द्वारा 'रसखान' और घनानन्द कवि किंकर द्वारा 'रसखान रत्नावली' और चंद्रशेखर पाँडे द्वारा 'रसखान' इत्यादि।

उनके वर्ण्य-विषय भागवतोक्त कृष्णलीलाओं में से लिए गये हैं, जिनमें बाल-क्रीड़ा, वेणुवादन, गोचारण तथा निकुंजलीलाएँ प्रधान हैं। कहा जाता है कि यह ज्ञान उन्होंने भागवत के फ़ारसी अनुवाद से प्राप्त किया था। रसखानि पुष्टि मार्गीय सगुण लीलाभाव के भक्त होते हुए भी प्रेमानुभूति में कुछ-कुछ सूफ़ी संतों के समकक्ष प्रतीत होते हैं। उन्होंने प्रेमवाटिका में प्रेम की महिमा विशेष रूप से प्रकट करते हुए फ़ारसी परम्परा के प्रेम की ओर भी एक आध स्थल पर संकेत किया है। अपने सम्बन्ध में उनकी उक्ति 'प्रेम देव की छविहिं लखि भये मियाँ रसखानि' उनके काव्य को देखने से पूर्णतया यथार्थ प्रतीत होती है।

संकलन

प्रान वही जु रहें रिझि वा पर, रूप वही जिहिं वाहि रिझायो।
सीस वही जिहिं वे परसे पग, अंग वही जिहिं वा परसायो।
दूध वही जु दुहायो री वा ने, दही सु दही जु वही ढरकायो।
और कहाँ लौं कहौं 'रसखानि', सुभाव वही जु वही मन भायो।।१।।

बैन वही उनको गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात परै, अरु पांय वही जु वही अनुजानी।
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों 'रसखानि' वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानी।।२।।

बैद की औषधि खाइ नहीं, न करै वह संजम री सुन मोसें।
तेरोई पानी पियें 'रसखानि', सजीवन जानि लहैं सुख तोसें।
ए री सुधामयी भागीरथी, सब पथ्य कुपथ्य बनें तुहि पोसें।
आक धतूरो चबात फिरै, विष खात फिरै सिव तेरे भरोसें।।३।।

द्रौपदी औ गनिका गज गीध, अजामिल जो कियो सो न निहारो।
गौतम-गेहनी कैसे तरी, प्रह्लाद को कैसे हरयो दुख भारो।
काहे को सोच करै 'रसखानि', कहा करिहै रविनंद बिचारो।
कौन की संक परी है, जु माखन-चाखनहार, सो राखनहारो।।४।।

मानुष हौं तौ वही 'रसखानि', बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो धरयौ कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं नित, कालिंदी कूल कदंब की डारन।।५।।

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्ध नवो निधि को सुख, नंद की गाय चराय बिसारौं।
'रसखानि' कबौं इन आँखिन तें, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिनहूँ कलधौत के धाम, करील के कुंजन ऊपर वारौं।।६।।

लोग कहैं ब्रज के 'रसखानि', अनंदित नंद जसोमति जू पर।
छोहरा आज नयो जनम्यो तुमसो कोऊ भाग भरयो नहिं भू पर।
बारक दाम सँवार करौ, धनी पानी पियौ सु उतार ललू पर।
नाचत रावरो लाल गुपाल हो, काल से व्याल कपाल के ऊपर।।७।।

धूर भरे अति सोभित स्याम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैंजनियाँ कटि पीरी कछोटी।
वा छवि को 'रसखानि', बिलोकत, बारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ सौं लै गयो माखन रोटी।।८।।

सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद लै सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पर पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।।९।।

ब्रह्म मैं ढूँढ़यो पुरानन गानन, वेद रिचा सुनी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहूँ, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत हेरत हारि परयो, 'रसखानि' बतायो न लोग लुगायन।
देखो दुरो वह कुंज कुटीर मैं, बैठो पलोटत राधिका पायन।।१०।।

कंस के कोप की फैल गई, जब ही ब्रज मंडल बीच पुकार सी।
आय गयो तब ही कछनी कसिकै नटनागर नंदकुमार री।
द्विरद को रद खैंचि लियो, 'रसखानि' तबै मन आई विचार सी।
लागीकुठौर लई लखि तोर, कलंक तमाल तैं कीरति डार सी।।११।।

आयो हुतो नियरे 'रसखानि', कहा कहूँ तू न गई वह ठैयाँ।
या ब्रज की बनिता जिहिं देखिकै, वारहिं प्रानिन लेहिं बलैयाँ।
कोऊ न काहू की कानि करै, कछु चेटक सो जु करयो जदुरैयाँ।
गाइगो तान, जगाइगो नेह, रिझाइगो प्रान, चराइगो गैयाँ।।१२।।

तेरी गलीनि में जा दिन तें, निकस्यो मन मोहन गोधन गावत।
ये ब्रज लोग सो कौन सी बात चलाइ कै जो नहिं नैन चलावत।
वे 'रसखानि' जो रीझिंगे नेकु तौ रीझि कै क्यों न बनाय रिझावत।
बावरी जो पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै काहे न अंक लगावत।।१३।।

वह नंद को सांवरो छैल अली, अब तो अति ही इतरान लग्यो।
नित घाटन बाटन कुंजन में, मोहिं देखत ही नियरान लग्यो।
'रसखानि' बखान कहा करिए, तकि सैननि सों मुसकान लग्यो।
तिरछी बरछी सम मारत है, दृग बान कमान सु कान लग्यौ ॥१४॥

चीर की चटक औ लटक नव कुंडल की,
भौंह की मटक नेक आँखिन दिखाउ रे।
मोहन सुजान गुन रूप के निधान, फेरि
बाँसुरी बजाय तनु तपन सिराउ रे।
ए हो बनवारी बलिहारी जाउँ तेरी, आजु
मेरी कुंज आय नेक मीठी तान गाउ रे।
नंद के किसोर चितचोर मोर पंखवारे,
बंसीवारे साँवरे पियारे इत आउ रे ॥१५॥

ब्याही अनब्याही ब्रजमाहीं सब चाही, तासों
दूनी सकुचाहीं दीठि परै न जुन्हैया की।
नेकु मुसकान 'रसखानि' की बिलोकत ही,
चेरी होत एक बार कुंजनि फिरैया की।
मेरो कह्यो मान अंत मेरो गुन मानिहै री,
प्रात खात जात, न सकात, सौंह भैया की।
माइ की अटक तौ लौं, सासु की हटक तौ लौं,
देखी न लटक जौ लौं साँवरे कन्हैया की ॥१६॥

लीने अबीर भरे पिचका, 'रसखानि' खड़्यो बहु भाव भरो जू।
मार से गोपकुमार कुमार के देखत ध्यान टरो, न टरो जू।
पूरब पुन्यनि दाँव पर्यो अब, राज करौ उठि काज करो जू।
अंक भरौ निरसंक उन्हें, इहि पाख पतिव्रत ताख धरो जू ॥१७॥

काहू सो माई कहा कहिये, सहिये सु जोई 'रसखानि' सहावैं।
नेम कहा जब प्रेम कियो, अब नाचिये सोई जो नाच नचावैं।
चाहति हैं हम और कहा सखि, क्यों हूँ कहूँ पिय देखन पावैं।
चेरिय सों जु गुपाल रच्यो तौ, चलौ री सबै मिलि चेरी कहावैं ॥१८॥

छीर जो चाहत चीर गहे, ए जू लेहु न केतक छीर अचैहौ।
चाखन के हित माखन माँगत, खाहु न माखन केतिक खैहौ।
जानत हैं जिय की 'रसखानि', सु काहे को ऐतिक बात बढ़ैहौ।
गोरस के मिस जो रस चाहत, सो रस कान्ह जू नेंकु न पैहौ।।१९।।

दानी भये नये माँगत दान, सुनै जु पै कंस तौ बाँधि कै जैहौ।
रोकत हौ मग में 'रसखानि' पसारत हाथ, कछू नहिं पैहौ।
टूटे छरा, बछरादिक गोधन, जो धन है सु सबै घर दैहौ।
जैहै अभूषन काहू सखी को तो, मोल छला के लला न बिकैहौ।।२०।।

कानन दै अँगुरी रहिहौं, जबहीं मुरली धुनि मंद बजैहै।
सोहनी तानन सों 'रसखानि', अटा चढ़ गोधन गैहै तौ गैहै।
टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि, काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै।
माई री वा मुख की मुसकान, सम्हारि न जैहै न जैहै न जैहै।।२१।।

मोरपखा परि ऊपर राखि हौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी, बन गावत गोधन संग फिरौंगी।
भावतो वोहि मेरो 'रसखानि', सौं, तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
पै मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरा न धरौंगी।।२२।।

अबहीं गई खिरक गाइ के दुहाइबे को,
बावरी ह्वै आई डारि दोहनी यों पानि की।
कोऊ कहै छरी, कोऊ भौन परी, डरी कोऊ
कोऊ कहै मरी, गति हरी अँखियानि की।
सास व्रत ठानै, नंद बोलत सयाने, धाइ
दौरि दौरि जानै मानै खोरि देवतानि की।
सखी सब हँसैं मुरझानि पहिचानि, कहूँ
देखी मुसकानि वा अहीर 'रसखानि' की।।२३।।

बंसी बजावत आनि कढ़्यो री, गली में अली कछु टोना सो डारै।
नेंक चितै तिरछी करि दीठि, चलो गयो मोहन मूठि सी मारै।
ताही घरी सों परी वह सेज पै, प्यारी न बोलति प्रानहुँ वारै।
राधिका जीहै तो जीहैं सबै, न तो पीहैं हलाहल नंद के द्वारै।।२४।।

लाज को लेप चढ़ाइ के अंग, पचीं सब सीख को मंत्र सुनाइ कै।
गाड़रू ह्वै ब्रज लोग थक्यो, करि औषधि बासुक सौंह दिवाइ कै।
ऊधो सों को 'रसखानि' कहै, जिन चित्त धर्‌यो तुम एते उपाइ कै।
कारे बिसारे को चाहै उतार्‌यो, अरे विष बावरे राख लगाइ कै ॥२५॥

दूध दुह्यो सीरो पर्‌यो, तातो न जमायो बीर,
जामन दयो सो धरो धरोई खटाइगो।
आन हाथ आन पाँय सबही के तबहीं तें,
जबहीं ते 'रसखानि' ताननि सुनाइगो।
ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसोई तरुन बारी,
कहिये कहा री सब ब्रज बिललाइगो।
जानिये न आली यह छोहरा जसोमति को,
बाँसुरी बजाइगो कि विष बगराइगो ॥२६॥

एरी आजु कालिह सब लोक-लाज त्यागि, दोऊ
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसाइबो।
यह 'रसखानि' दिना द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँ लौं सयानी चंदा हाथन छिपाइबो।
आजु हौं निहार्‌यो वीर निपट कालिंदी तीर,
दोउन को दोउन सों मुरि मुसकाइबो।
दोऊ परैं पैयाँ, दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गईं गैयाँ, इन्हें गागर उठाइबो ॥२७॥

मान की औधि है आधी घरी, अरु जो 'रसखानि' डरै हित के डर।
तोरिये नेह न छोड़िये पाँ परौं, ऐसे कटाच्छ महा हियरा हर।
लाल गुपाल को हाल बिलोक री, नेक छुवै किन दै कर सों कर।
ना कहिबै पर बारत प्रान, कहाँ लख वारिहैं हाँ कहिबै पर ॥२८॥

अंत ते न आयो, यही गाँवरे को जायो,
माई बाप री जिवायो प्याय दूध दधि बारे को।
सोई 'रसखानि' तजि बैठो पहिचान जान,
लोचन नचावत नचैया द्वार द्वारे को।

भैया की सौं सोच कछू मटुकी उतारे को न,
गोरस के ढारे को न चीर चीरि डारे का।
यहै दुख भारी गहै डगर हमारी देखो,
नगर हमारे ग्वार बगर हमारे को।।२९।।

कान्ह भये बस बाँसुरी के, अब कौन सखी हमको चहिहै।
निसि द्यौस रहै यह साथ लगी, यह सौतिन साँसत को सहिहै।
जिन मोहि लियो मनमोहन को, 'रसखानि' सु क्यों न हमैं दहिहै।
मिलि आवो सबै कहुँ भाग चलैं, अब तौ ब्रज में बँसुरी रहिहै।।३०।।

सोहत है चँदवा सिर मोर को, तैसिय सुन्दर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल बिराजत तैसी हिये बनमाल लसी है।
'रसखानि' बिलोकत बौरी भई, दृग मूदि कै ग्वालि पुकार हँसी है।
खोलि री घूँघट, खोलौं कहा, वह मूरति नैनन माँझ बसी है।।३१।।

औचक दीठि परे कहुँ कान्ह जू, तासों कहै ननदी अनुरागी।
सो सुनि सास रही मुख फेरि, जिठानी फिरै जिय में रिसपागी।
नीके निहारि कै देखे न आंखिन, हौं कवहूँ भरि नैन न जागी।
है पछिताव यहै सजनी कि कलंक लग्यो पर अंक न लागी।।३२।।

कमल तंतु सो छीन अरु कठिन खड़ग की धार।
अति सूधो टेढ़ो बहुरि प्रेम पंथ अनिवार।।३३।।

अति सूछम कोमल अतिहि, अति नियरो अति दूर।
प्रेम कठिन सब ते सदा, नित इकरस भरपूर।।३४।।

जेहि बिनु जाने कछुहि नहि जान्यो जात विसेस।
सोइ प्रेम जेहि जानि कै रहि न जात कछु सेस।।३५।।

प्रेम हरी को रूप है त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होइ द्वै यो लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप।।३६।।

जदपि जसोदा नंद अरु, ग्वाल बाल सब धन्य।
पै या जग में प्रेमको गोपी भईं अनन्य।।३७।।

अकथ कहानी प्रेम की जानत लैली खूब।
दो तनहूँ जँह एक भे, मन मिलाइ महबूब।।३८।।

आलम

(काव्यकाल सं० १७१२ के लगभग)

ब्रजभाषा में सफल काव्य लिखने के लिए ब्रजवास अनिवार्य नहीं है, इस सत्य का प्रमाण देते हुए अपने 'काव्य-निर्णय' में भिखारीदास ने जिन कवियों के नाम, गिनाये हैं उनमें रहीम, रसखान और रसलीन से पूर्व 'आलम' का नाम लिया है। वास्तव में आलम ब्रजभाषा के मुसलमान कवियों में एक प्रमुख स्थान रखते हैं। अलंकरण और शब्दचमत्कार की अपेक्षा आलम के काव्य में सूफ़ी परम्परा की प्रेम की पीर का प्राधान्य है। हिन्दी के अनेक इतिहासग्रंथों में अब तक यह प्रतिपादित किया जाता रहा है कि 'आलम' नामक कवि दो हुए हैं। एक आलम अकबर के समकालीन सूफ़ी कवि थे, जिन्होंने 'माधवानल कामकंदला' की रचना की और दूसरे आलम औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह के आश्रित थे तथा यह दूसरे आलम ही रीतिकालीन प्रसिद्ध कवित्त-सवैया पद्धति में शृंगारिक मुक्तकों के रचयिता थे और इन्हीं के साथ 'शेख' वाली किंवदन्ती सम्बद्ध है। दो आलमों के इस प्रवाद की उत्पत्ति का आधार मुअज्जमशाह की प्रशंसा में लिखित एक छंद रहा है, जिसे शिवसिंह ने अपने 'सरोज' आलमकृत मान कर उक्त धारणा का सूत्रपात किया। अब यह सिद्ध हो गया है कि वह छंद वस्तुतः जैत कवि कृत 'याजम-प्रभाव' नामक अलंकार ग्रंथ का है। श्यामसुन्दरदास जी ने 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' के पहले भाग में दोनों आलमों की कृतियों को भ्रमपूर्वक परस्पर मिला दिया। दो आलम रहे हैं, इस धारणा को अब तक अनेक मान्य विद्वानों ने स्व-सम्पादित काव्य-संग्रहों तथा साहित्य के इतिहास में दोहराया है। आलम की प्रसिद्ध प्रकाशित कृति 'आलमकेलि' के सम्पादक

दीन जी का भी यही मत है। परन्तु 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित श्री भवानीशंकर याज्ञिक का 'आलम और रसखान' शीर्षक लेख कतिपय मौलिक प्रमाणों के आधार पर नयी मान्यताओं को सामने रखता है, जो महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है। पहली मान्यता यह है कि तथाकथित दो आलम मानने की परम्परा सर्वथा भ्रान्त है, क्योंकि दोनों व्यक्ति एक ही थे, जैसा विभिन्न रचनाओं में परस्पर पाये जाने वाले कुछ अंशों से विदित होता है। दूसरी मान्यता का सम्बन्ध आलम और शेख से सम्बद्ध प्रसिद्ध उस किंवदन्ती से है, जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि आलम हिन्दू थे और शेख नामक रंगरेज प्रेमिका के आकर्षण से प्रेरित होकर मुसलमान हो गये तथा 'आलमकेलि' में 'शेख' छाप से पाये जाने वाले मुक्तक आलम की उसी प्रेयसी के ही रचे हैं। याज्ञिक जी का मत, जो यथार्थ ही प्रतीत होता है कि शेख वस्तुतः एक जाति या आदरसूचक मुसलमानी उपाधि है, जो आलम के नाम से अभिन्न है, क्योंकि आलम के लिए 'सेषसाँई' आदि नामों का भी व्यवहार मिलता है। यह मान्यताएं यथार्थ गवेषणा का परिणाम प्रतीत होती हैं, किन्तु लेखक ने इनसे जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अतिरंजित हैं। यह कहना कि 'रीतियुक्त कवियों में आलम का स्थान सर्वोच्च है' अथवा यह धारणा कि 'कवित्त सवैया की पद्धति के प्रवर्तक गंग के स्थान में आलम को ही मानना चाहिए', बहुत संगत प्रतीत नहीं होता। भाषा और वस्तुतत्व की दृष्टि से भी आलम की रचनाओं की प्राचीनता पर विचार किया जाना चाहिए। यह सत्य है कि नये तथ्यों से आलम का व्यक्तित्व अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है, परन्तु 'आलम की कविता का अध्ययन बिना किये रीतिकाल की श्रृंगारमयी कविता की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास अधूरा ही है।' के लिए 'सच बात तो यह है' कहना भी उचित नहीं है। की कल्पना का जो संभाव्यरूप लेखक द्वारा किया गया है वह भी उद्धृत पुष्पिकाओं से मिलाने पर अयथार्थ प्रतीत होने लगता है। फिर भी जो नयी सामग्री सामने आयी है उससे आलम के सम्बन्ध में नये सिरे से सोचने की प्रेरणा अवश्य मिलती है। आलम की निम्नलिखित तीन कृतियाँ प्रमाणित मानी गयी हैं—

१. माधवानल कामकंदला

२. श्याम सनेही

३. आलम के कवित्त

एक चौथी कृति 'सुदामाचरित्र' का भी उल्लेख मिलता है पर वह संदिग्ध ही लगती है। 'श्याम सनेही' में रुक्मिणी विवाह की कथा है, जो दोहा-चौपाई की प्रबंधात्मक शैली में कही गयी है और 'माधवानल-कामकंदला' की तरह प्रेमा

थ्यानक रूप में लिखी हुई है। 'आलम के कवित्त' ही रीति-काव्य की दृष्टि से कवि की मुख्य रचना है जिसकी विविध हस्तप्रतियाँ नाथ द्वारा काँकरौली आदि स्थानों से विविध नामों से उपलब्ध हुई है। इसमें आलम के लगभग ४०० स्फुट पद्य संग्रहीत मिलते हैं जिन्हें कदाचित कवि के अतिरिक्त किसी परवर्ती व्यक्ति ने संग्रह किया था। इस संग्रह के मुक्तकों में निश्चय ही अनेक मुक्तक ऐसे हैं जिनमें भावात्मक तीव्रता कथन की अतिशयता के साथ मिलकर सूफी-काव्य की प्रकृति का आभास देती है। यह तत्व ब्रजभाषा के रीतिमुक्त अन्य प्रेमी कवियों में भी उपलब्ध होता है ; पर उसमें एक विचित्र प्रकार की उत्सर्ग भावना एवं तन्मयता की उपलब्धि भी होती है जिसे आलम के कवि व्यक्तित्व की अपनी छाया कहा जा सकता है।

संकलन

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करें।
जा रसना सों करी बहु बात सु ता रसना सों चरित्र गुन्यो करें।
'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करें।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें ॥१॥

कैधौं मोर सोर तजि गये री अनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधौं बकपाँति उत अन्तगत ह्वै गई।
'आलम' कहै हो आली अजहूँ न आये प्यारे,
कैधौं उत रीति बिपरीत बिधि ने ठई।
मदन महीप की दोहाई फिरिबे तें रही,
जूझि गये मेघ कैधौं दामिनी सती भई ॥२॥

रात के उनींदे अलसाते मदमाते राते,
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरे लेत काढ़े जीउ,
केते भये घायल औ केते तलफात हैं।
ज्यों ज्यों लै सलिल चख 'सेख' धोवैं बार बार
त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
कैबर के भाले कैधौं नाहर नहनवाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं ॥३॥

सौरभ सकेलि मेलि केलि ही की बेलि कीन्हीं,
सोभा की सहेली सु अकेली करतार की।
जित ढरकैं हो कान्ह तितही ढरकि जाय,
साँचे ही सुढारी सब अंगनि सुढार की।

तपनि हरति कवि आलम परस सीरो,
अति ही रसिक रीति जानें रस-चार की।
ससि हूँ को रस सानि सोने को सरूप लै के,
अति ही सरस सों सँवारी घनसार की ॥४॥

अंग नई जोति लै बरंगना बिचित्र एक,
आंगन में अंगना अनंग की सी ठाढ़ी है।
उजरई की उज्यारी गोरे तन सेत सारी,
मोतिन की जोति सौं जुन्हैया मानो बाढ़ी है।
'आलम' सुआली बनमाली देखि चलि दुति,
सुगढ़ कनक की सी रूप गुन गाढ़ी है।
देह की बनक वाके चीर में चमक छाई,
छीरनिधि मथि किधौं चाँद चीरि काढ़ी है ॥५॥

ससि तें सरस मुख सारस से राजें नैन,
जोन्ह तें उजारो रूप रवनि रसाल सी।
रति हू तें नीकी प्यारी प्यारे कान्ह जाके पाछे,
बेनी की बनक जेलें मानो अलि आलसी।
सारी सेत सोहे कवि 'आलम' बिहारी संग
चलति बिसद गति आतुर उताल सी।
फूल ही के भार भरि सीसफूल फूलि रहे,
फूली सांझ, फूली आवै फूलन की माल सी ॥६॥

ताती होति छाती छिन जूड़ियौ ह्वै जाति कछू,
ताती सीरी राती पीरी बूझि न परति है।
'आलम' कहै हो कान्ह कौन बिथा जानों वाकी,
मौन भई काहू की न कानि हू करति है।
आगि सी झँवाति है जू ओरे सी बिलाति है जू,
छिन हू न देखे सुधि बुधि बिसरति है।
अँसुवनि भीजै औ पसीजै त्यौं त्यौं छीजै बाल
सोने ऐसी लोनी देह लोन ज्यों गरति है ॥७॥

चंद को चकोर देखै निसि दिन को न लेखै,
चंद बिन दिन छबि लागति अँध्यारी है।
'आलम' कहै हो आली अलि फूल हेत चले,
काँटे सी कँटीली बेलि ऐसी प्रीति प्यारी है।
कारो कान्ह कहत गँवारी ऐसी लागति है,
मोहि वाकी स्यामताई लागति उज्यारी है।
मन की अटक तहाँ रूप को बिचारु कहाँ,
रीझिबे को पैंड़ो तहाँ बूझि कछू न्यारी है ॥८॥

कंचन में आँच गई चूनो चिनगारी भई,
भूषन भये हैं सब दूषन उतारि लै।
बालम बिदेस ऐसी बैस मैन आगि लागै,
जागि जागि उठै हियो बिरह बयारि लै।
अब कत पर घर माँगन है जाति आगि,
आँगन में चाँदु चिनगारी चारि झारि लै।
साँझ भई मौन सँझबाती क्यों न देति है री,
छाती सों छुवाय दियाबाती आनि बारि लै ॥९॥

प्रेम रंग पगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोवन की जोति जागि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि झुकि झँपि उघरत हैं।
'आलम' सो नवल निकाई इन नैनन की,
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िबे को देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि ताते ताहि में रहत है ॥१०॥

गोरे अंक थोरे लाँक थोरी बैस भोरी मति,
घरी घरी और छबि अंग अंग मैं जगै।
कहि कबि 'आलम' छलक नैन मैन मई,
मोहनी सुनत बैन मन मोहनै ठगै।

तेरोई मुखारबिंद निंदै अरबिन्दै प्यारी,
उपमा को कहै ऐसी कौन जिय मैं खगै।
चपि गई चन्द्रिकाऊ छपि गई छबि देखि,
भोर को सो चाँद भयो फीको चाँदनी लगै ॥११॥

सेत संख बिधु जोति अंजन जहर साजि,
बक्र धनु अरुन सुमनि सँग लाये हैं।
पेम सुरा सूधे धेनु सुन्दर समान रंभा,
'आलम' चपल हय काम के सधाये हैं।
प्रीति मधु पूतरी कलप लच्छी पूरन,
धनंतरि सुदिष्टि गज गति पलटाये हैं।
काहे को समुद्र मथि देवतान श्रम कीनो,
चौदह रतन तिय नैननि मैं पाये हैं ॥१२॥

तुम बिनु कान्ह ब्रजनारि मार मारी सुनौ,
बिरह बिथा अपार छाती क्यों सिराती है।
तरनि सो तमीपति ताही सों तलप तवै,
हेरति ज्यों निसा परी दसौ दिसा ताती है।
कानन में जाय नेकु आनन उघारि देत,
ताकी झार फूली डार दूरि ते सुखाती हैं।
बारि में जो बोर्‌यो तनु लागति ज्यौं चुरै मीन,
बारिज की बेलैं ते बिलोके बरी जाती है ॥१३॥

घनानन्द

(सं० १७४६–१८१४)

रीतिकालीन रीतिमुक्त प्रेम-प्रधान काव्य में घनानन्द का स्थान अद्वितीय है। लाक्षणिकता की दृष्टि से उनकी भाषा सम्पूर्ण ब्रजभाषा-काव्य में अप्रतिम मानी जाती है। उनके समकालीन कवि ब्रजनाथ के निम्नलिखित एक ही सवैये में उनकी प्रायः समस्त विशेषताएँ स्पष्टता से वर्णित हैं इस प्रशस्ति से यह भी प्रकट होता है कि घनानन्द अपने जीवनकाल में ही भाव और भाषागत कतिपय विशिष्ट गुणों के लिए पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे जो बाद में भी वैसी ही अक्षुण्ण रही ।

नेही महा ब्रजभाषा-प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद कों जानै।
जोग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग में भीज्यौ हियो, बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रबीन सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै।।१४

धार्मिक तथा काव्य की जटिल रूढ़ियों के युग में उन्होंने जिस निर्भीकता और तन्मयता से अपने लौकिक प्रेम को कविता का विषय बनाया वह सराहनीय है। घनानन्द ने तत्कालीन प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का तिरस्कार अथवा निषेध करके राधाकृष्ण की आध्यात्मिक प्रेमानुभूति में अपने को लीन नहीं किया वरन् एक नवीन रहस्यात्मक दार्शनिक दृष्टि का विकास किया जिसके आधार पर वे सुजान के प्रति अपने तीव्र आकर्षण की गंभीर व्याख्या प्रस्तुत कर सके। नीचे उद्धृत छंद उनकी उदात्त प्रेम-भावना को सम्यक रूप से प्रकट करता है ।

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै बिचार,
बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयौ है।
ताही एक रस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि राधा जिन्हैं देखें सरसायो है।
ताको कोऊ तरल तरंग संग छूट्यो कन,
पूरि लोकलोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घनआँनद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायौ है॥१५

उनकी इस प्रेम-भावना में प्रारम्भ में ऐहिकता की झलक भी मिलती है किन्तु बाद में यह अधिकाधिक सूक्ष्म और कोमल होती गयी। एक ओर उसमें सूफियों जैसी तीव्र विरह-वेदना की रहस्यानुभूति उपलब्ध होती है दूसरी ओर वैष्णवों जैसी आत्मसमर्पणमयी आस्था के भी दर्शन होते हैं। घनानन्द के कवि व्यक्तित्व की यही रूपरेखा है।

उनकी जीवनी काफ़ी खोज के बाद भी अभी एक प्रकार से अनिश्चित ही है। घनानन्द ने अपने काव्य में अपना नाम घनआँनद, आँनदघन आदि अनेक रूपों में प्रयुक्त किया है। हमें आनँदघन नामक पदरचयिता तथा जैनममी दो अन्य कवियों का भी परिचय मिला है, ऐसी स्थिति में यह निश्चित करना कि कौन-सी रचनाए प्रेमी कवि घनानन्द की है और कौन-सी नहीं, अत्यन्त कठिन है क्योंकि अब तक सभी रचनाएँ उन्हीं की मानी जाती रही हैं। इस दिशा में श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सराहनीय कार्य किया है। उनके जीवन काल की सीमाएँ भी निश्चित रूप से निर्धारित नहीं की जा सकी हैं। घनानन्द और नागरीदास की मित्रता का उल्लेख कई रूपों में मिलता है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि वे दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले, जिसका शासनकाल सं० १७७६-१८०५ तक रहा, के खास कलम अथवा मीरमुंशी थे। इन दोनों के आधार पर उनका काव्य-काल विक्रम की अठारहवीं शती का उत्तरार्ध ठहरता है।

घनानन्द कवि होने के साथ-साथ कुशल गायक भी थे किन्तु उनकी गान-विद्या का प्रदर्शन उनकी प्रेयसी राजनर्तकी सुजान तक ही सीमित था। कहा जाता है कि उनके विरोधियों ने षड्यंत्र रचकर राजसभा में संगीत-प्रदर्शन के लिए राजाज्ञा कराई जिसकी घनानन्द ने उपेक्षा कर दी परन्तु जब उनसे सुजान के माध्यम से कहलाया गया तो उन्होंने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ

करके इतनी तन्मयता से गाया कि सारा दरबार झूम उठा। संगीत कला से प्रभावित होकर भी बादशाह उनकी गुस्ताखी को माफ़ न कर सका और अवज्ञा के फलस्वरूप उसने दरबार त्यागने का कठोर दंड दे दिया। घनानन्द ने चाहा कि सुजान भी उनका साथ दे परन्तु वैसा न हो सका। सुजान के इस निष्ठुर व्यवहार से उनके हृदय पर अत्यन्त गहरा आघात हुआ जिसे वे जीवन भर न भूल सके। निरुपाय होकर वे वृन्दावन की ओर चल दिये और वहाँ जाकर उन्होंने अपने निराश-प्रेम को वैष्णव भावधारा से संयुक्त करके एक नयी दिशा ग्रहण की किन्तु अन्त तक 'सुजान' नाम के प्रति अपने अतिशय-मोह से मुक्त न हो सके। निम्बार्क, राधावल्लभीय तथा गौडीय, इन सभी सम्प्रदायों से विभिन्न विद्वानों ने उनका सम्बन्ध स्थापित किया है परन्तु उन्होंने किस सम्प्रदाय विशेष में दीक्षा ली थी इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है।

उनकी मृत्यु आक्रमणकारी विधर्मियों के शस्त्रों से हुई, यह प्रायः एकमत होकर स्वीकार किया जाता है परन्तु मथुरा-वृन्दावन पर वह आक्रमण नादिरशाह का था या अब्दाली का, दुर्रानी का या औरंगजेब का इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है।

घनानन्द की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

१. सुजान हित प्रबन्ध
२. कृपाकन्द-निबन्ध
३. वियोग-बेलि

इन तीन रचनाओं के अतिरिक्त अनेक स्फुट छंद भी उपलब्ध होते हैं।

संकलन

रूपनिधान सुजान सखी जब तें इन नैननि नेकु निहारे।
दीठि थकी अनुराग छकी मति लाज के साज समाज बिसारे।
एक अचंभो भयौ घनआनंद हैं नित ही पल पाट उघारे।
टारें टरें नहीं तारे कहूँ सु लगे मनमोहन मोह के तारे ॥१॥

मीत सुजान अनीति करौ जिन हाहा न हूजिये मोहि अमोही।
दीठि कौं और कहूँ नहिं ठौर फिरी दृग रावरे रूप की दोही।
एक बिसास की टेक गहें लगि आस रहे बसि प्रान बटोही।
हौ घनआनंद जीवनमूल दई कत प्यासनि मारत मोही ॥२॥

रावरो रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आनि तिहारियै।
एक ही जीव हुतौ सु तौ वारयौ सुजान ! सकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न, दहै घनआनंद बावरी रीझ के हाथनि हारियै ॥३॥

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै बिचार,
बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयो है।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि राधा जिन्हें देखें सरसायौ है।
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यो कन,
पूरि लोकलोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घनआनंद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायौ है ॥४॥

जे दृग सिराये घनआनंद दरस रस,
ते अब असोही दुख ज्वाल जारियत है।
नोखे हित-पोखे नित जेई प्रान राखि साथ,
तेई कै अनाथ यों अकेले मारियत है।

कौन कौन बात को परेखो उर आनियै हो,
जान प्यारे कैसें बिधि अंक टारियत है ।
थाती लौं तिहारी प्रीति छाती पै बिराजि रही,
हेरि हेरि आंसुन समूह ढारियत है ॥५॥

गोकुल नरेस नंद बंस को प्रसंस बंदि,
सोभा सुखकंद प्रेम अमिय निवास है ।
जो नित चकोर चोप तो हित भरयौ ही रहै,
सुनियै सुजान कौन माधुरी बिलास है ।
उदित जुन्हाई ऐसें मेरे मन आई,
जैसे बाढ्यौ घनआनंद सुदृष्टि झर आस है ।
जगत में जोति एक कीरति की होति है पै,
राधिका तौ कीरति के कुल को प्रकास है ॥६॥

पीरी पीरी देह छीनी राजत सनेह-भीनी,
कीनी है अनंग अंग अंग रंग बोरी सी ।
नैन पिचकारी ज्यौं चल्यौई करै दिनरैन,
बगराये बारनि फिरति झकझोरी सी ।
कहाँ लौं बखानौं घनआनन्द दुहेली दसा,
फागमई भई जान प्यारे वह भोरी सी ।
तिहारे निहारे बिन प्राननि करत होरा,
बिरह अंगार निमगारि हिय होरी सी ॥७॥

चातिक चुहल चहुँ ओर चाहै स्वाति ही कौं,
सूरे पन पूरे जिन्हें विष सम अमी है ।
प्रफुलित होत भान के उदोत कंज पुंज,
ता बिन बिचारनि ही ज्योति जाल तमी है ।
चाहो अनचाहो जान प्यारे पै आनंदघन,
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है ।
मोंहि तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आंहि,
कहा कछू चंदहि चकोरन की कमी है ॥८॥

डगमगी डगनि धरनि छबि ही के भार,
ढरनि छबीले उर आछी बनमाल की।
सुंदर बदन पर कोरिक मदन वारौं,
चित चुभी चितवनि लोचन बिसाल की।
कालिह इहि गली अली निकस्यौ अचानक ह्वै,
कहा कहौं अटक भटक तिहि काल की।
भिजई हौं रोम रोम आनंद के घन छाय,
बसी मेरी आँखिन में आवनि गुपाल की ॥९॥

साधनि ही मरियै भरियै, अपराधनि बाधनि के गुन छावत।
देखैं कहा? सपनो हू न देखत नैन यों रैन दिना झर लावत।
जौ कहूँ जान लखैं आनंदघन तौ तन नेकु न औसर पावत।
कौन बियोग भरे अँसुवा, जु संयोग में आगेई देखन धावत ॥१०॥

रातद्यौस कटक सजे ही रहै दहै दुख,
कहा कहौं गति या बियोग बजमारे की।
लियौ घेरि औचक अकेलो कै बिचारो जीव,
कछू न बसाति यौं उपाय-बल-हारे की।
जान प्यारे लागौ न गुहार तौ जुहार करि,
जूझिहै निकसि टेक गहैं पनधारे की।
हेत खेत धूरि चूर-चूर ह्वै मिलैगो, तब
चलैंगी कहानी घनआनंद तिहारे की ॥११॥

बिकल विषाद-भरे ताही की तरफ तकि,
दामिनि हूँ लहकि बहकि यौं जरयौ करै।
जीवन अधार पन पूरित पुकारनि सौं,
आरत पपीहा नित कूकनि कर्यौ करै।
अथिर उदेग-गति देखि कै आनंदघन,
पौन बिड़रयौ सो बन बीथिनि रर्यौ करै।
बूँदें न परति मेरे जान जान प्यारी तेरे
बिरही कों हेरि मेघ आंसुनि झर्यौ करै ॥१२॥

तीछन ईछन बान बखान सो पैनी दसान लै सान चढ़ावत ।
प्रानन प्यारे, भरे अति पानिप, मायल घायल चोप चटावत ।
यौं घनआनंद छावत भावत जान सजीवन और तें आवत ।
लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कबित्त बनावत ।।१३।।

स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस अंक उज्यारी ।
धूम के पुंज मैं ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलता सुख कारी ।
कै छबि छायौ सिंगार निहारि सुजान तिया तन दीपति प्यारी ।
कैसी फबी घनआनंद चोपनि सों पहिरी चुनि साँवरी सारी ।।१४।।

एरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, बीरी
तो सो और कौन, मनैं ढरकोहीं बानि दै ।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान घन
आनन्द निधान, सुखदान दुखियानि दै ।
जान उजियारे गुन भारे अंत मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहचानि दै ।
बिरह बिथा की मूरि, आंखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिनि पायनि की हाहा नैकु आनि दै ।।१६।।

कारी कूर कोकिला ! कहाँ क बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै ।
पैंड़े परे पापी ये कलापी निसद्यौस ज्यौं ही,
चातक ! घातक त्यौं ही तू हू कान फोरि लै ।
आनंद के घन प्रानजीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै ।
जो लौं करैं आवन बिनोद बरसावन वे,
तौ लों रे डरारे बजमारे घन घोरि लै ।।१७।।

परकाजहिं देह को धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ ।
घनआनंद जीवन दायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहिं लै बरसो ।।१८।।

अंतर हौ किधौं अंत रहौ, दृग फारि फिरौं कि अभागिन भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं।
जौ घनआनंद ऐसी रुचि, तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहां हरि हाय तुम्हें, धरनी में धंसौं कि अकासहिं चीरौं।।१९।।

संग लगे फिरौं, हौं अलगे रहौं माहुवै गैल लगावत क्यौं नहीं।
नीरस राचनि ही सरसौ रस मूरति प्रीति पगावत क्यौं नहीं।
ढीलो परचौ तुमतें घनआनंद हौ गुनरासि खगावत क्यौं नहीं।
जागत सोवत से हौ कहा कहौं सोवत मोंहि जगावत क्यौं नहीं।।२०।।

कान्ह परे बहुतायत में, इकलैन की वेदन जानौ कहा तुम।
हौ मन-मोहन, मोहे कहूँ न, बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम।
बौरे वियोगिन्ह आप सुजान ह्वै, हाय कछू उर आनौ कहा तुम।
आरतिवंत पपीहन को घनआनंद जू पहिचानौ कहा तुम।।२१।।

पूरन प्रेम को मन्त्र महा पन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यो।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि यों पचि कै रचि राखि विसेख्यो।
ऐसो हियो हित-पत्र पवित्र जो आन कथा न कहूँ अवरेख्यो।
सो घनआनंद जान अजान लौं टूक कियो, पर बाँचि न देख्यो।।२२।।

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपन पौ, झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनंद प्यारे सुजान सुनौ इत एक ते दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।२३।।

मेरोई जीव जौ मारत मोंहि तौ प्यारे कहा तुम सों कहनो है।
आँखिन हूँ पहचानि तजी कछु ऐसेई भागनि को लहनो है।
आस तिहारियै हौं घनआनंद कैसे उदास भए दहनो है।
जान ह्वै होत इते पै अजान जौ तौ बिन पावक ही दहनो है।।२४।।

देखि धौं आरसी लै बलि नेकु लसी है गुराई में कैसी ललाई।
मानौ उदोत दिवाकर की दुति पूरन चंदहि भेंटन आई।
फूलत कंज कुमोद लखें घनआनंद 'रूप अनूप निकाई'।
तो मुख लाल गुलालहि लाय कै सौतिन के हिय होरी लगाई।।२५।।

रूप के भारन होति है सौंहीं लजौंहियै दीठि सुजान यो फूली।
लागियै जाति, न लागी कहूँ निसि, पागी तहीं पलकौ गति भूली।
बैठिये जू हिय पैठत आजु कहा उपमा कहियै समतूली।
आए हौ भोर भएँ घनआनँद आँखिन माँझ तौ साँझ सी फूली ॥२६॥

प्रीतम सुजान मेरे हित के निधान कहौ,
कैसे रहैं प्रान जौ अनखि अरसाय हौ।
तुम तौ उदार दीन हीन आनि पर्यो द्वार
सुनियै पुकार याहि कौ लौं तरसाय हौ।
चातिक हौ रावरौ अनोखे-मोह-आवरो,
सुजान-रूप-बावरो बदन दरसाय हौ।
बिरह नसाय दया हिय मैं बसाय आय,
हाय कब आनँद को घन बरसाय हौ ॥२७॥

तब तौ छबि पीवत जीवत हे अब सोचन लोचन जात जरे।
हित-पोष के तोष सु प्रान पले बिललात महादुख दोष-भरे।
घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख-साज-समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे ॥२८॥

चाह-बढ़यौ चित चाक-चढ़यौ सो फिरै तित ही इतनै कुन धीजै।
नैन थके छबि-पान छकै घनआनँद लाज त्यौं रीझनि भीजै।
मोह में आवरी ह्वै बुधि बावरी सीख सुनै न दसा-दुःख छीजै।
देह दहे न रहै सुधि गेह की भूलि हू नेह को नाँव न लीजै ॥२९॥

पहले अपनाय सुजान सनेह सौं क्यों फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार-मँझार दई! गहि बाँह न बोरियै जू।
घनआनँद अपने चातिक को गुन बाँधि लै मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यों विष घोरियै जू ॥३०॥

तोरै लाज-दामै सू छुड़ावै धाम-कामै
बिसरावै बिसरामै सुधि-सोखति सयान की।
चेटक लगावै मैन आगिहि जगावै, प्रान
पैठि उमगावै ऐंठि मेटति गुमान की।

धुनि में बतावै मौन, थकनि जतावै गौन,
हौं न जानौं कौन बिधि सीखी तीखी तान की।
मुह लागी गाजै घनआनँद बिराजै आज,
बाजै बन बंसी स्यामसुन्दर सुजान की ॥३१॥

आस ही अकास-मधि अवधि-गुनै बढ़ाय
चोपनि चढ़ाय दीनौ कीनौ खेल सो यहै।
निपट कठोर एहो ऐंचत न आप ओर,
लाड़िले सुजान सों दुहेली दसा को कहै।
अचिरजमई मोहि भई घनआनँद यौं,
हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लहै।
बिरह समीर की झकोरनि अधीर, नेह
नेह भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहै ॥३२॥

जोरि कै कोरिक प्राननि भावते संग लिए अँखियान में आवत।
भीजे कटाछन सों घनआनँद छाय महारस को बरसावत।
ओट-भएँ फिरि या जिय की गति जानत जीवनि ह्वै जु जनावत।
मीत सुजान अनूठियै रीति जिवाय कै मारत मारि जियावत ॥३३॥

जेतो घट सोधौं पै न पाऊँ कहाँ आहि सो धौं,
को धौं जीव जार अटपटी गति दाह की।
धूम को न धरै गात सीरो परै ज्यौं ज्यौं जरै,
ढरै नैन नीर बीर! हरै मति आह की।
जतन बुझैहैं सब जाकी झर आगे, अब,
कबहूँ न दबै भरी भभक उमाह की।
जब तें निहारे घनआनँद सुजान प्यारे,
तब तें अनोखी आगि लागि रही चाह की ॥३४॥

ते मुँह लगाई तातें मोहि मौन ही की कथा,
रसना के उर एकरस रही बसि है।
तेरी सोई जान! सोई जानै जिन जोही छबि
क्यौं धौं इन नैनन तें नींद गई नसि है।

छोरि छोरि डारे जे जे भूषन विदूषन से,
तहीं तहीं लगि लोभी मन गयो गसि है ।
आरस रसीली घनआनँद सुजान प्यारी,
ढीली दसा ही सों मेरी मति लीनी कसि है ॥३५॥

साँच के सान-धरे सुर-बान पै छूटें बिना ही कमान सी जोटें ।
दीसें जहीं के तहीं सु चलें अति घूमति है मति या चख-चोटें ।
घाव को चाव बढ़ै घनआनँद चाड़नि लै उर आड़नि ओटें ।
प्रान सुजान के गान बिधे घट लोटें परे लगि तान कचोटें ।३६॥

नेही सिर मौर एक तुमही लौं मेरी दौर,
नाहिं और ठौर, काहि साँकरे सम्हारियै ।
दरसन दान दीजै भावते सुजान रहैं,
आसा लगि 'प्रान' आन बोलत तिहारियै ।
गुन माला फेरौं, निगुनी ह्वै नित हित हेरौं,
बिरह-अधीर टेरौं पीरहि निबारियै ।
पन तन ताको जो हो काचो सो तो आहि पाकौ,
आनँद के घन प्रीति साकौ न बिगारियै ॥३७॥

जान सजीवन प्रान लखें बिन आतुर आँखिन आवत आधे ।
लोग चबाई सबै निदरै अति बान से बैन अयान सौं साधे ।
को समुझै मन की घनआनँद बौरई बेदन बौरई नाधे ।
पीर भर्‌यौ जिय धीर धरै नहिं कैसे रहै जल जाल सो बाँधे ॥३८॥

चोप चाह चावनि चकोर भयौ चाहत ही,
सुषमा प्रकास मुख-सुधाधर पूरे को ।
कहा कहौं कौन कौन विधि की बँधनि बँध्यो,
सुकर्‌यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को ।
जाही जाही अंग पर्‌यौ ताही गरि गरि सर्‌यौ
हर्‌यौ बल बापुरे अनंग-दल-चूरे को ।
अब बिन देखे जान प्यारे यौं आनँदघन,
मेरो मन भँवै भटू ! पात ह्वै बघूरे को ॥३९॥

पूर भयो चित पूरि परेखनि एहो कठोर ! अजौं दुख पीसत ।
साँस हियें न समाय सकोचनि, हाय इतें पर बान कसीसत ।
ओटनि चोट करौ घनआँनद नीके रहौ निसि द्योस असीसत ।
प्रानन बीच बसे हौ सुजान पै आँखिन दोष कहा जु न दीसत ।।४०।।

सावन आवन हेरि सखी ! मन भावन-आवन-चोप बिसेखी ।
छाए कहूँ घनआँनद जान सम्हारि की ठौर लै भूलनि लेखी ।
बूँदें लगैं सब अंग दगैं उलटी गति आपने पापनि पेखी ।
पौन सौं ज़ागति आनि सुनी ही पै पानी तें लागति आँखिन देखी ।।४१।।

लरिकाई-प्रदोष में ढोड़ लग्यौ हँसि रोय सु औसर खोय दयौ ।
बहुर्यौ करि पान विषै-मदिरा तरुनाई-तमी मधि सोय गयौ ।
तजि कै रसमै घनआँनद को जग-धूँधर्यौ चातिक नेम लयौ ।
जड़ जीव न जागत रे अजहूँ किनि, केसनि ओर तें भोर भयौ ।।४२।।

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै ।
हँसि बोलनि में छबि-फूलन की वरषा उर-ऊपर जाति है ह्वै ।
लट लोल कपोल कलोल करैं कल कंठ बनी जलजावलि द्वै ।
अँग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ।।४३।।

भए अति निठुर, मिटाय पहिचानि डारी,
याही दुख हमैं जक लागी हाय हाय है ।
तुम तौ निपट निरदई, गई भूल सुधि,
हमैं सूल सेलनि सो क्यौं हूँ न भुलाय है ।
मीठे मीठे बोल बोलि, ठगी पहिलें तौ तब
अब जिय जारत कहौ धौं कौन न्याय है ।
सुनी है कै नाहीं, यह प्रकट कहावति जू,
काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है ।।४४।।

एकै डोलै बेचत गुपालहि दहेंड़ी लिये,
नैनन समायो सो ही बैनन जनात है ।
और उठि बोलै आगें लावरी कहा है मोल,
कैसो धौं जम्यो है ज्यौं सवादै ललचात है ।

आँनद को घन छायो रहत सदा ही ब्रज
चोपन पपीहा लौं चहूँधा मँडरात है ।
गोकुल बधून की बिकान पै बिकाय रह्यौ,
गली गली गोरस ह्वै मोहन बिकात है ॥४५॥

गुरनि बतायौ राधामोहन हू गायो सदा,
सुखद सुहायौ बृंदाबन गाढ़े गहिरे ।
अद्‌भुत अभूत महि-मंडन परे तें परे,
जीवन को लाहु हाहा क्यों न ताहि लहिरे ।
आँनद को घन छायौ रहत निरन्तर ही,
सरस सुदेस सों पपीहापन बहिरे ।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै पतित परि रहिरे ॥४६॥

नेह सों भोय सँजोय धरी हिय-दीप-दसा जु भरी अति आरति ।
रूप उज्यारे अजू ब्रजमोहन सौंहनि आवनि ओर निहारति ।
रावरी आरति बावरी लौं घनआँनद भूलि वियोग निवारति ।
भावना-थार हुलास के हाथनि यो हित मूरति हेरि-उतारति ॥४७॥

बहुत दिनान के अवधि-आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को ।
कहि-कहि आवन छबीले मनभावन को,
गहि-गहि राखत ही दै दै सनमान को ।
झूठी बतियाँनि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब न रुकत घनआँनद निदान को ।
अधर लगे हैं आनि करिकै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को ॥४८॥

रूप-निकाई अनूप कहा कहौं अँगनि जोति सुरंगनि जागति ।
है घन आँनद जीवनमूल पपीहा किये पिय लोचनि पागति ।
और सिंगारनि की सब ही रह्यौ याहि बिचारति ही मति रागति ।
पायन तेरे रची मिंहदी लखि सौतिन के तरवानि तें लागति ॥४९॥

क्यों हरि हेरि हर्‌यो हियरा——अरु क्यों चितचोरि कै चाह बढ़ाई।
काहे को बोलि सुधासने बैननि चैननि मैन निसैन चढ़ाई।
सो सुधि मो हिय ते घन-आँनद सालति क्यों हूँ कढ़ै न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीति की पाटी इतै पै न जानिए कौने पढ़ाई ॥५०॥

ठाकुर

(जन्म सं० १८२३---देहावसान १८८० के लगभग)

रीतिकालीन प्रेमी कवियों में प्रसिद्ध ठाकुर जैतपुर (बुंदेलखंड) के राजा केसरी सिंह के दरबारी कवि थें। इनके पिता गुलाबराय ओरछा महाराज के मुसाहब थे और पितामह खंगराय काकोरी के मंसबदार थे। नाम से ठाकुर होते हुए भी जाति से वे कायस्थ थे। बिजावर के राजा ने भी उनको एक गाँव देकर सम्मानित किया था। केसरी सिंह के पुत्र पारीछत ने सिंहासनारूढ़ होने पर ठाकुर को अपनी सभा का एक रत्न बनाया। वे पद्माकर के समकालीन थे और बाँदे के हिम्मतबहादुर गोसाईं के दरबार में भी आमन्त्रित किये जाते थे, जहाँ दोनों कवियों में पारस्परिक स्पर्धा हो जाया करती थी। इस सम्बन्ध में ठाकुर की प्रत्युत्पन्नमति को व्यक्त करनेवाली अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

ठाकुर स्वभाव से स्पष्टवादी, विरोधियों के प्रति उग्र और सहयोगियों के प्रति सहृदय एवं भावुक जीव थे। हिम्मतबहादुर द्वारा कटुवचन कहे जाने पर उन्होंने उनके प्रतिवाद में जो कवित्त तलवार खींच कर पढ़ा था, वह उनकी आन्तरिक प्रकृति को पूर्णतया व्यक्त करता है।

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दानजुद्ध जुरिबे में नेकु जो न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विसुद्ध हैं सनेही साँचे उर के।

ठाकुर कहत हम बैरिन बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के ।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के ।।

सवैया छंद में उनकी सहज गति थी। भाषा-शैली अकृत्रिम तथा ओजस्विता-पूर्ण होते हुए भी कोमल भावों को अभिव्यंजित करने में सक्षम है। लोकोक्तियाँ तथा लोक-प्रचलित शब्दों का प्रयोग उन्होंने स्थान-स्थान पर उपयुक्त ढंग से किया है। जीवन की सरस अनुभूतियों का अंकन ठाकुर के काव्य की प्रमुख विशेषता है। कवि-कर्म के लिए वे उत्तरदायित्व और कौशल की आवश्यकता समझते थे, जो उनके 'लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है' वाले छंद से स्पष्ट विदित होता है।

उनका काव्य असनीवाले दो अन्य ठाकुर नामधारी कवियों के साथ घुलमिल गया है। लाला भगवानदीन ने 'ठाकुरठसक' नाम से उनके मुक्तकों का एक सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया। इससे पूर्व 'ठाकुर शतक' नाम से भी एक संग्रह भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। विविध विषयों पर लिखे गये मुक्तकों के अतिरिक्त संभवतः ठाकुर ने कोई सुसम्बद्ध रचना नहीं की।

संकलन

सीख लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामनि,
सीख लीन्हों मेर औ कुबेर गिर आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नेहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥१॥

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै, तुक अच्छर जोरि मिलावै।
प्रेम को पंथ कथा हरि नाम की, बात अनूठी बनाय सुनावै।
ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पण्डित लोक प्रबीनन को, जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥२॥

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान युद्ध जुरिवे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
कवि उनही के जे सनेही साँचे उर के।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के।
चोजन के चोजी रसमौजन के पातसाह,
ठाकुर कहावत पै चाकर चतुर के॥३॥

दस बार बीस बार बरजि दई है याहि,
एते पै न मानै जो तौ जरन बरन देव।
कैसो कहा कीजै कछू आपनो करौ न होइ,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेइ भरन देव।

ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निरसंक रस रंग बिहरन देव।
बिधि के बनाये जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव ।।४।।

येई हैं वे वृषभानुसता जिनसे मनमोहन मोह करै हैं।
कामिन तो उन सी नहिं दूसरि, दामिनि की दुति को निदरै हैं।
ठाकुर कै हमही यह जानती कै उनहूँ को जनाइ परै हैं।
छोटी नथूनी बड़े मोतियान बड़ी अँखियान बड़ी सुधरै हैं ।।५।।

सुरझी नहिं केतो उपाइ कियौ उरझी हुती घूँघट खोलन पै।
अधरान पै नेक खगी ही हुती अटकी हुती माधुरी बोलन पै।
कवि ठाकुर लोचन नासिका पै मँडराइ रही हुती डोलन पै।
ठहरै नहिं डीठि फिरै ठठकी इन गोरे कपोलन गोलन पै ।।६।।

अपने अपने निज गेहन में, चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भीजत प्रेम भरे, समयो लखि मैं बलि जावँ पै री।
कह ठाकुर दोउन की रुचि सों रँग ह्वै उमड़े दोउ ठाँव पै री।
सखी कारो घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नँदगाँव पै री ।।७।।

बरुनीन में नैन झुकै उझकै मनौ खंजन प्रेम के जाले परे।
दिन औधि के कैसे गनौं सजनी अँगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिये निज प्रीति करे के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हें देखिबे के अब लाले परै ।।८।।

आगी बीच दैके कहूँ दारू गञ्ज दाबे जात,
पानी बीच दैके कहूँ मीन जीजियतु है।
काम बीच दैके कहूँ बाम सो वियोग होत,
कोक बीच दैके कहूँ जोग लीजियतु है।
ठाकुर कहत प्यारी तुमही विचारि देखो,
ऐसो रूप पाइ कहूँ मान कीजियतु है।
पीठ दैकै बैठती हो पीठऊ पै बेनी परी,
बेनी बीच दैके कहूँ पीठ दीजियतु है ।।९।।

भूलि न प्रीति करौं तुमसों कबहूँ नहिं नैन सों नैन मिलाऊँ ।
बात करौं न सुनौं तुम्हरी अपने चित्त की कबहूँ न चिताऊँ ।
मोहि कहा परी प्यारे गोपाल जू लाज मरौं कुल कानि घटाऊँ ।
ना विष खाउँ न प्रान तजौं गुर खाउँ न काहू सो कान छिदाऊँ ।।१०।।

नाध नथी है तिहारे पिया सतराती कहा कोउ स्यान सिखैहै ।
पानिप नै कै चली सजनी, यह मानि न प्रीति सदा निरबैहै ।
ठाकुर जो पै यही करने, तो कहा मनमोहनी क्रोध करैहै ।
ह्वै है नहीं मुरगा जेंहि गाँव, भटू तिहि गाँव का भोर न ह्वैहै ।।११।।

का कहिये कहिबे की नहीं मग जोवत जोवत जो गयौ है ।
उन तोरत बार न लाई कछू तन तें वृथा जोबन खो गयौ है ।
कहि ठाकुर कूबरी के बस ह्वै रस मैं बिस बावरौ बो गयो है ।
मन मोहन को हिलिबो मिलिबो दिन चारिक चैत सो हो गयौ है ।।१२।।

यह चारहूँ ओर उदौ मुखचन्द को चाँदनी चारु निहारि लै री ।
जलि जो पै अधीन भयो पिय प्यारो तो एतो बिचार बिचारि लै री ।
कवि ठाकुर चूक गयो जो गोपाल तो तैं बिगरी को सम्हारि लै री ।
अब रैहै न रैहै यही समयो बहती नदी पाँव पखारि लै री ।।१३।।

गाँठ गँठीली चमेली की बोदर घालो न कोऊ अनूतरी कैहै ।
ऊसइ नाम लेवाऔ तो लेहैं पै घाले ते लाल कहा रस रैहै ।
ठाकुर कंज कली सी लली बलि या जड़ चोट सरीर न सैहै ।
बाल कहै कर जोर हहा यह बोदर लाल हमें लग जैहै ।।१४।।

घर के न बाहर के काहे को करत घेर,
गरजी तमासे की हौं बरजी न रैहौं मैं ।
आज सुभ सावन सलोनो को परब पाय,
अंग-अंग सुभग सिंगार न बनैहौं मैं ।
ठाकुर कहत संग संग ब्रज बालन के,
रंग भरे राछरे उमंगन सौं गैहौं मैं ।
देखि रक्षा-बन्धन गोबिंद जू के हाथ साथ,
राधे की कजलिया सिरावन को जैहौं मैं ।।१५।।

घरही घर घैरु करैं घरिहाइनै नांव धरैं सब गाँवरी री।
तब ढोल दै दै बदनाम कियौ, अब कौन की लाज लजाँवरी री।
कवि ठाकुर नैन सो नैन लगै, अब प्रेम सों क्यों न अघाँवरी री।
अब होन दै बीस बिसैरी हंसी, हिरदै बसी मूरति साँवरी री ॥१६॥

जब तें दरसे मनमोहन जू तब तें अँखियाँ ये लगीं सो लगीं।
कुलकानि गई भगि वाही घरी, ब्रजराज के प्रेम पगीं सो पगीं।
कवि ठाकुर नेह के नेजन की, उर में अनी आन खगीं सो खगीं।
अब गाँव रे नांव रे कोई धरौ, हम साँवरे रँग रंगी सो रँगी ॥१७॥

वा निरमोहिन रूप की रासि जोऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बार हूँ बार बिलोकि घरी घरी, सूरत तौ पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन की परतीत है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है ॥१८॥

रोज न आइयै जौ मन मोहन तौ यह नेक मतो सुन लीजिये।
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन तुम्हैं बिन देखैं सु कैसे कै जीजिये।
ठाकुर लालन प्यारे सुनौ, बिनती इतनी पै अहो चित दीजिये।
दूसरे तीसरे पाँचयें सातयें आठयें तो भला आइबो कीजिये ॥१९॥

गति मेरी यही निसबासर है चित तेरी गलीन के गाहनें है।
चित कीन्हों कठोर कहा इतनो अरी तोहि नहीं यह चाहनें है।
कह ठाकुर नेकु नेहीं दरसी, कपटीन को काह सराहनें है।
मन भावै सुजान सोई करियो, हमें नेह को नातो निबाहनें है ॥२०॥

अब का समुझावती को समुझै बदनामी के बीजन ब्वै चुकी री।
इतनो हूँ बिचार करौ तो सखी यह लाज की साज तो ध्वै चुकी री।
कवि ठाकुर काम न या सबको करि प्रीति पतिब्रत ख्वै चुकी री।
नेकी बदी जो लिखी हुती भाल में होनी हुती सु तो ह्वै चुकी री ॥२१॥

को है, जोतिषी है, कछू जोतिषै बिचारत हौ?
ये ही शुभ धाम काम जाहिर हमारो तो।
आओ बैठ जाओ पानी पियौ पान खावौ फेर,
होय कै सुचित नेक गणित निकारो तो।

ठाकुर कहत प्रेम नेम को परेखो देखि,
इच्छा की परीच्छा भली भाँति निरबारो तो।
मेरो मन मोहन सों लागत है भाँति भाँति,
मोहन को मन मोसों लागि है बिचारो तो ॥२२॥

जोतिषी बिचार कहै राधिका जू सुनौ बात,
मोको गति जानि परै तेरे निज स्याम की ।
डोलत है खोर खोर हेरत तिहारी ओर,
तेरो बोल सुनै गैल भूलि जात धाम की ।
ठाकुर कहत काम काज न सुहात कछू,
बाढ़ो रस प्रेम भूली बात सबै जाम की ।
जैसे रट तोहि लगी राधे श्याम सुन्दर की
तैसे रट वाहि लगी राधे तेरे नाम की ॥२३॥

धनि वैजिहि तात औ मात जनो जिहि देह धरी सो घरी धनि है ।
धनि है कवि 'ठाकुर' धाम वही जहाँ डोलै लली सो गली धनि है ।
धनि है उनको जो तुम्हैं दरसैं करसों परसैं सो मही धनि है ।
धनि मैं धनि तू धनि तेरो हितू अरु जाकी धना सो धनी धनि है ॥२४॥

शामिल में पीर में शरीर में न भेद राखैं,
हिम्मति कपाट को उघारे तो उघरि जाय ।
ऐसो ठान ठाने तो विनाहू यंत्र मंत्र किये,
साँप के जहर को उतारे तो उतरि जाय ।
'ठाकुर' कहत कछु कठिन जानो अब
हिम्मत किये ते कहौ कहा ना सुधरि जायं ।
चारि जने चारिहू दिशानै चारौ कोन गहि
मेरु को हलाय कै उखारैं तो उखरि जाय ॥२५॥

रूप अनूप दई दयो तोहि तौ मान किये न सयान कहावै ।
और सुनो यह रूप जवाहिर भाग बड़े बिरलै कोऊ पावै ।
ठाकुर सूम के जात न कोऊ उदार सुने सबही उठि धावै ।
दीजिये ताहि दिखाय दया करि जो चलि दूर तें देखिबे आवै ॥२६॥

ठाढ़ी रहो न डगौ न भगौ अब देखिहौं जो कछु खेलति ख्यालहिं।
गावन दै री बजावन दै सजि आवन दै इतै नंद के लालहिं।
ठाकुर हौं रंगि हौं रंग सों अंग ओडिहौं बीर अबीर गुलालहिं।
धूँधर में, धधकी में, धमार में, हौं धँसि कै धरि लैहौं गुपालहिं ॥२७॥

कोमलता कंज ते गुलाब ते सुगंध लैकै
चंद सों प्रकाश लैकै उदित उजेरो है।
रूप रति आनन सों चातुरी सुजानन सों,
नीर नीर गगन सों कौतुक निवेरो है।
ठाकुर बिचारि कै बनायो बिधि कारीगर
रचना निहारि कान्ह होत चित चेरो है।
सोने सों सुगंध लै सवाद लै सुधा को
वसुधा को सुख लूटिकै बनायो मुख तेरो है ॥२८॥

काहु के होय तो कैसी करो किन तैसे मनै लगे तैसे सिखाये।
ज्यों ज्यों अरी हटक्यो इन लोगन त्यों त्यों खरे बिगरे ये सवाये।
'ठाकुर' काहू रुचै न तो का करौं मोहि तो ऐसे लटे भले भाये।
नैन हमारे हमारे मनै लगे चाहे जहाँई तहाँई लगाये ॥२९॥

कानन दूसरो नाम सुनै नहीं एक ही रंग रँग्यो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरो।
ठाकुर चित्त की वृत्ति यही हम कैसे हूँ टेक तजैं नहीं भोरो।
बावरी वे अँखियाँ जरि जाँहि जो साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो ॥३०॥

हम एक कुराह चलीं तौ चलीं हटको इन्हें ये ना कुराह चलैं।
यह तौ बलि आपनो सूझतो है प्रन पालिये सोई जो पालें पलैं।
कहि 'ठाकुर' प्रीति करी है गोपाल सों टेरे कहौ सुनो ऊँचे गलैं।
हमैं नीकी लगी सो करी हमनै, तुम्हे नीकी लगो ना लगो तौ भलैं ॥३१॥

जानि झुकाझुकी भेष छपाय कै गागरी लै घर तें निकरी ती।
जानो कहाँ तें कवैं केहि बेर ते आइ जुरे जितै होरी धरी ती।
ठाकुर दौरि परे मोहिं देखत भाग बची जु कछू सुधरी ती।
बीर जो द्वारन देहुँ केवार तो मैं होरिहारन हाथ परी ती ॥३२॥

ठाढ़े रहे घनश्याम उतै,
इत मैं पुनि आनि अटा चढ़ि झाँकी ।
जानति हौ तुमहू ब्रज-रीति,
न प्रीति रहै कबहूँ पल ढाँकी ।
ठाकुर कैसे हुँ भूलत नाहिनै,
ऐसी अरी वा बिलोकनि बाँकी ।
भावत ना छिन भौन को बैठिबो,
घूँघट कौन को लाज कहाँ की ॥३३॥

काहे अरे मन साहस छाँड़त,
काहे उदास ह्वै देह तजै है ।
वे सुख वे दुख आए चले गए,
एक सी रीति रही नहिं रैहै ।
ठाकुर काको भरोस करैं हम,
या जग जालन भूल न ऐहै ।
जानै संयोग में दीन्हों बियोग
बियोग में सो का सँदेस न दैहे ॥३४॥

आजु यहि कौतुक छको है नंद-नंद बीरा,
बरनो न जात सो विचित्र चित्र मो पैरी ।
चलु बलि तोहि यों दिखाय लाऊँ बन घनो,
पायो है निहार बलिहार भयो सो पै री ।
ठाकुर कहत कहाँ नीलमणि सोन बेलि,
सुखमा सकेलि कै न उपमा अरोपै री ।
घन को निहारै तब वारै होत आपुन पै,
बीजुरी निहारै तब वारै होत तो पै री ॥३५॥

जब तें बिलोकि गई रावरो बदन बाल,
तब तें अचेत सी बियोग झार झुरई ।
हेम की लता सी चपला सी चारु चाँदनी सी,
मदन सताई पै न मैं जनाई भुरई ।

ठाकुर कहत भूमि बिकल बिहाल परी,
देखिये गोपाल ताहि उपमा न जुरई ।
रति के भँडार ते दुराय कै चोराय मानो,
काहू आनि मंदिर में रूप रासि कुरई ॥३६॥

कारे लाल पीरे धौरे धावत धुआँ के रंग,
कितने सुरंग किते रंग मटमाढ़े हैं ।
कितने मही के रूप माधुरी करत घोर,
सारे चहुँ ओर होत गहगहे गाढ़े हैं ।
ठाकुर कहत कवि बरनि बरनि थाके,
बरने न जात यों बहसि बार बाढ़े हैं ।
मोहे लेत मनन जु ऐसी बनें बनन जू
आजु देखो घनन घनेरे रंग काढ़े हैं ॥३७॥

बोधा (बुद्धिसेन)

(कविता काल–सं० १८३०–१८६० जन्मस्थान, राजापुर)

बोधा का व्यक्तित्व कई कारणों से रीतिकाल के अन्तिम कवियों में अपना प्रमुख महत्त्व रखता है। उनमें रीति-परम्परा के साथ प्रेममार्गी भाव-तत्त्व का विचित्र समन्वय मिलता है। अधिकता प्रेमोन्माद की ही है, जो इनकी दोनों रचनाओं से प्रकट है। 'विरहवारीश' तो बहुत कुछ सूफ़ी शैली में और सूफ़ी प्रभाव के अन्तर्गत रचा गया है। उसकी विषय-वस्तु 'माधवानल कामकन्दला' की सुप्रसिद्ध प्रेम-कथा है। उनकी दूसरी रचना 'इश्कनामा' भी 'प्रेम की पीर' में डूबे हुए स्फुट छंदों का संग्रह है। रीतिग्रंथ बोधा ने कोई भी नहीं लिखा केवल छंदशैली तथा वातावरण रीतिकालीन है। बुंदेलखंड के पन्ना राज्य में उन्होंने दरबारदारी की और इसी दरबार की सुभान नामक नर्तकी का प्रेम उनके काव्य की मूल प्रेरणा बना। सुभान और बोधा का यह प्रेम-प्रसंग सुजान और घनानन्द के प्रेम-प्रसंग से बहुत कुछ समानता रखता है। ब्राह्मण होने के नाते वे संस्कृत के ज्ञाता थे ही, किन्तु उनके काव्य पर उनके फारसी ज्ञान का विशेष प्रभाव है, मुख्यतया शब्दावली के क्षेत्र में। कहीं-कहीं प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति का स्तर काफी हलका हो गया है, जैसे फारसी-परम्परा से प्रभावित काव्य में। 'इश्कनामा' में प्राप्त बरवै छंदों में एक-आध स्थल पर भक्ति का स्वर भी झलक जाता है, यथा––

जिहि गिरिवर कर धारिसि, तारिसि गीध।
तेहि चरनन कवि बोधा, मो मनु बीध॥

किन्तु यह बोधा के काव्य के मूल-स्वर से भिन्न अपवाद रूप ही है।

संकलन

अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है ।
सुई बेह ते द्वार सकीन तहाँ परतीति को टाड़ो लदावनो है ।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है ।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है ।।१।।

वह प्रीति की रीति को जानत थी तबहीं तो बच्यौ गिरि ढाहन तें ।
गजराज चिकारि कै प्रान तज्यौ न जरयौ संग होलिकादाहन तें ।
कवि बोधा कछू न अनोखो यहै का बनै नहीं प्रीति निबाहन तें ।
प्रह्लाद की ऐसी प्रतीति करै तब क्यों न कढ़ै प्रभु पाहन तें ।।२।।

यह प्रेम को पन्थ हलाहल है सु तौ बेद पुरानऊँ गावत हैं ।
पुनि आँखिन देखौ सरोजन लै नर संभु के सीस चढ़ावत हैं ।
वरही पर माथे चढ़ै हरि के फल जोग ते एते न पावत हैं ।
तुम्हें नीकी लगै ना लगै तौ भले हम जान अजान जतावत हैं ।।३।।

बिछुरे दरद न होत, खर सूकर कूकरन कों ।
हंस मयूर कपोत, सुघर नरन बिछुरन कठिन ।।४।।

लोक की लाज औ सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह मैं हाँतो करै पुनि सोऊ ।
बोधा सुनीति निबाह करै धर ऊपर जाकै नहीं सिर होऊ ।
लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैंड़े परै जनि कोऊ ।।५।।

कहिबे को व्यथा सुनिबे को हँसी, को दया सुनि कै उर आनतु है ।
अरु पीर घटै तजि धीर सखी दुख को नहीं कापै बखानतु है ।
कवि बोधा कहै मे सवाद कहा को हमारी कही पुनि मानतु है ।
हमै पूरी लगी कै अधूरी लगी यह जीव हमारोई जानतु है ।।६।।

काहू सों का कहिये अब ये यह बात अनैसी कहै ते कहावत ।
कोऊ कहा कहि है सुनिहै कही काहू की कीनो हमैं नहीं भावत ।
बोधा कहै को परखो कहा दुनियाँ सब मास की जीभ चलावत ।
चाहि को जाके हितू ने दई वह छोड़े बनै नहि ओढ़ने आवत ॥७॥

बोधा सब जग ढूँढ्यौ, फिरि फिरि धाइ ।
जेहि मन ही मन चाहत, सो न लखाइ ॥८॥

कूर मिलै मगरूर मिलै रनसूर मिलै धरे सूर प्रभा को ।
ज्ञानी मिलै औ गुमानी मिलै सनमानी मिलै छबिदार पताको ।
राजा मिलै अरु रंक मिलै कवि बोधा मिलै निरसंक महा को ।
और अनेक मिलै तौ कहा नर सो न मिल्यौ मन चाहत जाको ॥९॥

सब जग देख्यौ बोधा, एक न दीख ।
देइ भिखारी दिल को, दरसन भीख ॥१०॥

रितु पावस स्यामघटा उनई लखि कै मन धीर धिरातो नहीं ।
पुनि दादुर मोर पपीहन की सुनि कै धुनि चित्त थिरातो नहीं ।
जब ते बिछुरै कबि बोधा हितू तब ते उर दाह सिरातो नहीं ।
हम कौन सों पीर कहैं अपनी दिलदार तौ कोऊ दिखातो नहीं ॥११॥

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को ।
कैयौ सतक्रतु की पदवी लुटियै तकि कै मुसकाहट ताको ।
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरान तहाँ को ।
जान मिलै तौ जहान मिलै नहि जान मिलै तौ जहान कहाँ को ॥१२॥

कूक न मारु कोइलिया, करि करि तेह ।
लागि जात विरहिनि के, दुबरी देह ॥१३॥

निसि बासर नींद औ भूख नहीं जब ते हिय मैं यह आनि बसी ।
मिलतै न बनै जग की भय ते बरजी न रहै हिय की हुलसी ।
कवि बोधा सुनै हे सुभान हितू उर अन्तर प्रेम की गाँस गसी ।
तिनको कल कैसे परै निरदै जिनकी है कुसाँगरे आँख कसी ॥१४॥

बात नहीं समुझावै सबै यह पीर हमार न जानत कोई।
का करै लैके सिखापन को जिय जाहि को आपने हाथ न होई।
बोधा कदाचित जानै वहै वहि के जिय में जिन बेदन बोई।
जाते मिटै यह पीर सरीर की है वह मूरि सजीवनि सोई ॥१५॥

दूरि है मूरि अपूरब सो ससि सूरजहू कबहूँ क निहारी।
आदर बेली नबेली अबै कहु कैसे मिलै बर जोग दिवारी।
बोधा सुनै हे सुभान हितू करि कोटि उपाइ थके उपचारी।
पीर हमारी दिलन्दर की हम जानत हैं वह जाननहारी ॥१६॥

कारी घटा दिसि दक्षिन देखि भयो सु चहै हियरा जरि कारो।
ताही घरी घहराइ वही गिरि गो भुव पै लगि प्रेम तमारो।
केतन आइ लगाइ थकी कवि बोधा हकीमन को उपचारो।
पै न धरै वह धीर अली न मिलै वह पीर के जाननहारो ॥१७॥

बोधा सुभान हितू सों कही या दिलन्दर की को सही करि मानत।
ता मृगनैनी की बाह चितौनि चुभी चित में चित सो पहिचानत।
तासों वियोग दई ने दयो तौ कहौ अब कैसे मैं धीरज आनत।
जानत हैं सबही समुझाइये भावती के गुन को नहि जानत ॥१८॥

बोधा किसू सों कहा कहिये सो बिथा सुनि पूरि रहै अरगाइ कै।
यातैं भले मुख मौन धरें उपचार करैं कहूँ औसर पाइ कै।
ऐसो न कोऊ मिल्यो कबहूँ जो कहै कछु रंच दया उर लाइ कै।
आवतु है मुख लौं बढ़ि कै फिरि पीर रहै या सरीर समाइ कै ॥१९॥

खरी सासु घरी ना छमा करिहै निसिबासर त्रासनहीं मरबी।
सदा भौंहैं चढ़ाये रहे ननदी यों जेठानी की तीखी सुनै जरबी।
कवि बोधा न संग तिहारी चहैं यह नाहक नेह फंदा परबी।
बड़ी आँखै तिहारी लगें ये लला लगि जैहैं कहूँ तो कहा करबी ॥२०॥

देव दुआरे निहारि अड़ी मृगनैनी करैं रवि की छबि छोटी।
हाथ में मालती माल लिये चली भीतरै ताहि गोसाँइ अँगोटी ॥
पाइन तें सिख लों लखि कै कवि बोधा मजा बरनी यक छोटी।
भाल मैं रोरी की बेंदी लसी है, ससी मै लसी मनो बीरबहूटी ॥२१॥

लखि बेनी जटा न बिभूति मलै सिर गंग नहीं श्रमबुन्द चुये ।
ससि होइ न भाल त्रिपुंड लसै उर हार न व्याल लखै भकुये ।
बिन काजहि बोधा लदाई करै पहिचानै न बावरे अन्ध भये ।
अरे जोगिनी प्रेमबियोगिनी हैं हम होंहि न शंभु मनोज मुये ॥२२॥

छाँड़ि सखीन की सीख सबै कुलकानि निगोड़ी बहाइबे ही है ।
ह्वै कै लटू लपटाइ हिये हरि हाथ ते बंसी छुटाइबे ही है ।
बोधा जरैलुन के उपहार अंगेजु कै कुंजनि जाइबे ही है ।
लाज सो काज कहा बनिहै बृजराज सों काज बनाइबे ही है ॥२३॥

कबहूँ मिलिबो कबहूँ मिलिबो यह धीरज ही मैं धरैबो करे ।
उर ते कढ़ि आवै गरै ते फिरै मन की मनहीं मैं सिरैबो करै ।
कवि बोधा न चाउसरी कबहूँ नितहीं हरवा सो हिरैबो करै ।
सहते ही बनै कहते न बनै मनहीं मन पीर पिरैबो करै ॥२४॥

दहियै बिरहानल दाहन सों निज पापन तापन को सहियै ।
चहियै सुख तौलों रहै दुख कै दृग वारियै बोधन कै चहियै ।
कवि बोधा इतै पै हितू न मिलै मन की मन ही मैं पचै रहियै ।
गहियै मुख मौन भई सो भई अपनी करि काहू सों का कहियै ॥२५॥

जब ते बृजराज को रूप लख्यौ तब ते उर और न आनतु है ।
निसि बासर संग रहै उनके हमको धौं कबै पहिचानतु है ।
कवि बोधा भयो अलमस्त महा कहूँ काहू की सीख न मानतु है ।
तुम ऐसहीं मोहि लटी करती मन मेरो कही नहि मानतु है ॥२६॥

मुख बोलै न हेरै हसै न लसै न धसै दरवाने बसै पलहूँ ।
रजा तेरी सुभान सुभान तुही यौं कहै न कहै कछू भीख चहूँ ।
उर याके लगी सुन कोऊ लखै कहने को नहीं सहने वरहूँ ।
मन जोगिया प्रेमवियोग परे भँवरी दै फिरै न थिरै कबहूँ ॥२७॥

मुख चारि भुजा पुनि चारि सुने हद बाँधन बेद पुरानन की ।
तिनकी कछू रीति कही न परै यह रूप औ कोकिल तानन की ।
कवि बोधा सुजान वियोग कियो छबि सोइ कलानिधि आननकी ।
हम तौ तबहीं पहिचानि गई चतुराई सबै चतुरानन की ॥२८॥

त्याग को जोग जहान कहैं हम तौ तबहीं चुकी त्यागि जहानै ।
मौत कलेस को लेस नहीं कवि बोधा गोपाल में चित्त समानै ।
खैंचती पौन को मौन गहे अरु नींद अहार नहीं उर आनै ।
ऊधौ जू जोग की रीति कहो हम जोग ना दूजो वियोग ते जानै ॥२९॥

ह्यां तौ नजीकी भयौ उधवा कवि बोधा लहै सो महादुखदायक ।
ह्वाँ हनुमान नजीकी रहैं कर जोरे भ्रुवैं परखैं खलवायक ।
ए बृजराज मिले हमको जिनके न कहूँ करुना उर भायक ।
जानिये राम गरीबनेवाज, सिया धनि जाके पिया रघुनायक ॥३०॥

नेह तज्यौ घर सों बर सों बरहूँ बटमार के हाथ बिकाने ।
त्यागि तिन्हैं तिनुका करि कूबरी हाथु लै आधिक राति पराने ।
काहू सों को अनकूल जहान में सो जस बोधा कहाँ न बखानै ।
ऊधो जू यामै कछू सक ना हम आकिलही ते खुदा पहिचानै ॥३१॥

हा हम सों बलि कौल करौ कहती हमै नाहिनै संक धका की ।
या घर ते कबहूँ न कढ़ौ कवि बोधा धरौ घर भीत तका की ।
खेलौतौ खेलौ खुसी सों लली जो न खेलौ तौ छोड़ौ य रीति बका की ।
दो दो अनोखियें कैसे सधे इतै आसिकी ये उतै कानि कका की ॥३२॥

अरति आइ बरिआई, खात न चाऊ ।
बरि बरि उठति परोसिनि, करि बरिआउ ॥३३॥

सेवती जासो जुही कचनार अनार करील कनैर निहारी ।
पाँड़र मौर शिरी मचकुन्द कदम्ब लौं बोधा लखी फुलपारी ।
केतकी केवरी कुन्द नेवारि सो देखि लता यह चाड़ निवारी ।
मालती एक बिना भ्रमरी इतै कोऊ न जानत पीर हमारी ॥३४॥

बिन स्वाद पुरानी लता सिथरी तिनहूँ मैं कछू गुन ज्ञान नतो ।
लखि केतकी और नेवारी जुही मनमानै न सेवती बीच रतो ।
कवि बोधा न प्रापति आदर को दरकार करी करि येक मतो ।
यहि आसरे या बगिया बिलम्यौ वा चमेली नबेली सो नेह हतो ॥३५॥

भट भैर फिरो सिगरी बसुधा सुविसेखि लखो सब एक रुखी ।
जित बाल तितै सुखी हाल सबै जित बाल नहीं तित हाल दुखी ।
तब तौ रति चाह न दूजी रहै कबि बोधा सोहात ओही सुरुखी ।
दुःख ठौर सबै विधि और रचे सुख ठौर अकेली सरोजमुखी ।।३६।।

चाँदनी सेज जराय जरी गदिया अरु गेड़आ देखि रिसाती ।
राती हरी पियरी लगी झालरें केशरिवारो बिरो नहीं खाती ।
बोधा इते सुख मै न रमै उतै चाहि कै साँवरोरूप सिहाती ।
यार के साथ पयार बिछाइ कै डेलन मैं परि खेलन जाती ।।३७।।

पक्षिन को बिरछो हैं घने बिरछान को पक्षियो हैं बड़े चाहक ।
मोरन को हैं पहार घने औ पहारन मोर रहैं मिलि नाहक ।
बोधा महीपन को मुकुता औ घने मुकुतानि के होंहि बेसाहक ।
जो धनु है तो गुनी बहुतै अरु जो गुन है तो अनेक हैं गाहक ।।३८।।

हरिश्चन्द्र

(जन्म सं० १९०७—अवसान सं० १९४१)

भारतेन्दु हिन्दी के युग-प्रवर्तक साहित्यकार थे। खड़ी बोली साहित्य और गद्य-युग का वास्तविक आरम्भ उन्हीं से होता है। उनका सर्वतोमुखी व्यक्तित्त्व काव्य, नाटक, निबन्ध, कथा, उपन्यास, इतिहास, आदि साहित्य की विभिन्न दिशाओं में क्रियाशील हुआ। जिसका परिचय देना भी यहाँ कठिन है। अन्य क्षेत्रों में तो उन्होंने नवीन दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित किया किन्तु जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है उनकी आत्मा पूर्णतया प्राचीन संस्कारों में आबद्ध थी और यह भी सत्य है कि उनकी आभ्यंतरिक भावाभिव्यक्ति का सर्वप्रधान माध्यम काव्य ही रहा। उनके कवि-हृदय में वैष्णव भक्ति-भावना और रीतिकाल की शृंगारिक प्रेमानुभूति दोनों संयुक्त रूप से निवास करती थीं। तुलसीदास की तरह भारतेन्दु ने भी अपने युग की सभी प्रचलित काव्य-शैलियों तथा भाषा रूपों में काव्य-रचना की। उनका कवि रूप विविध तत्त्वों से निर्मित है और स्वतन्त्र परिशीलन की अपेक्षा रखता है। रीतिकाव्य में वे मुख्यतया घनानन्द, ठाकुर और बोधा जैसे प्रेमी कवियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। यों उनकी रचनाओं पर देव, बिहारी, पद्माकर, द्विजदेव आदि का भी गहरा प्रभाव है। 'सुंदरी सिंदूर' नाम से देव के तथा 'सुंदरी तिलक' नाम से अपने समय तक के ब्रजभाषा कवियों के सरस एवं भावपूर्ण सवैयों का सुंदर संकलन उन्होंने प्रस्तुत किया जो उनकी विशिष्ट काव्य-रुचि का परिचायक है। रीतिकालीन शैली में रचे गये उनके कवित्त-सवैयों का संकलन मुख्यतया 'प्रेममाधुरी' में मिलता है। कुछ 'कृष्णचरित',

'विनयप्रेमपचासा', और 'प्रेम-प्रलाप' जैसी मिश्रित प्रकार की रचनाओं में भी उपलब्ध होते हैं। 'सतसई सिंगार' नाम से बिहारी के कतिपय दोहों पर उन्होंने कुंडलियों का निर्माण किया। 'चंद्रावली' एक नाटिका होते हुए भी अनेक भावपूर्ण छंदों से आपूरित है। उसका प्रसिद्ध प्रारंभिक दोहा भारतेन्दु के कृष्णप्रेम की गंभीर अभिव्यक्ति करता है—

भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर ॥

भारतेन्दु वल्लभीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे। अष्टछाप के कवियों की पदशैली में उन्होंने 'प्रेमाश्रुवर्णन', 'प्रेम-प्रलाप', 'प्रेम-तरंग', 'रागसंग्रह', 'प्रेमफुलवारी' आदि अनेक रचनाएँ कीं। दोहा-छप्पय में भक्तमाल का उत्तरार्ध लिखकर नाभादास के कार्य को पूर्णता देनी चाही। गीतगोविंद नाम से वैष्णवों के प्रियग्रंथ 'गीतगोविंद' का अनुवाद किया। जयदेव के अनुकरण पर उन्होंने संस्कृत में उसी तरह की अष्टपदियाँ रचीं। भक्त सर्वस्व, कार्तिक स्नान, वैशाख माहात्म्य जैसी कृतियाँ उनके भक्तरूप का ही विस्तार है। 'जैनकुतूहल' भारतेन्दु ने अपने 'प्यारे' कृष्ण को 'नया तमाशा' दिखाने की इच्छा से रचा। इस तरह की भावुकता उनके स्वभाव का एक अभिन्न अंग थी।

खयाल, लावनी, बंगला, रेखता, गज़ल, ठुमरी, आदि अनेक लोक प्रचलित काव्य रूपों में उन्होंने अपनी प्रतिभा को व्यक्त किया। 'प्रेमतरंग' और 'होली' में उनके ऐसे प्रयत्न संग्रहीत हैं। 'फूलों का गुच्छा' उर्दू शैली की कविताओं का संग्रह है। इन सब के अतिरिक्त भारतेन्दु ने अनेक अष्टक, पंचक और कई लीलाएँ स्तुतियाँ तथा प्रशस्तियाँ रचीं, साथ ही मराठी, बंगला, गुजराती तथा पंजाबी आदि विविध प्रान्तीय भाषाओं में भी कविताएँ बनायीं। सम्पूर्ण काव्यकृतियों को देख कर उनकी बहुमुखी प्रतिभा और रुचि-वैचित्र्य पर आश्चर्य होता है।

भाषा के सम्बन्ध में भी ऐसी ही स्थिति है। ब्रजभाषा की प्रशस्ति उन्होंने पद्यबद्ध व्याख्यान रचकर की। काव्य के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक रूपों में सरल तथा संस्कृतनिष्ठ दोनों प्रकार की खड़ी बोली का प्रयोग किया। अरबी, फारसी मिश्रित सितारेहिन्द की सरकारी उर्दू का उन्होंने विरोध किया और भारतीय-संस्कृति को रक्षित एवं व्यक्त करने वाली हिन्दी का पक्ष लिया। हिन्दी को राजकीय मान्यता दिलाने के आन्दोलन का सूत्रपात, उन्हीं के समय में हुआ था। 'सितारे-हिन्द' के विरुद्ध उनके सहयोगियों ने उन्हें सन् १८८० में 'भारतेन्दु' की उपाधि से विभूषित किया और उनका 'मंडल' धीरे-धीरे अधिक विस्तृत होने लगा।

भारतेन्दुमंडल में उस समय के प्रायः सभी साहित्यकार थे जिनमें प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट तथा राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख थे। उन्होंने सारी साहित्य-साधना गोष्ठियों के सौहार्द्रपूर्ण विनोदमय वातावरण में की जिसकी सृष्टि का बहुत कुछ श्रेय भारतेन्दु को ही है। वस्तुतः भारतेन्दु व्यक्ति न होकर एक विशाल संस्था बन गये थे। उनका व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार देश और विदेश के गार्सीद तासी, पिनकाट, ईश्वरचन्द विद्यासागर तथा बंकिमचंद्र आदि गण्यमान्य विद्वानों से होता रहता था।

हरिश्चन्द्र का जन्म इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचंद के सुसम्पन्न परिवार में हुआ था जो मुर्शिदाबाद से आकर काशी के रामकटोरा बाग में बस गया था। उनके पिता गिरिधरदास ब्रजभाषा के कुशल कवि थे। अपने पिता के गौरव, का स्मरण करते हुए भारतेन्दु ने गर्वोक्ति लिखी है—

जिन श्री गिरिधरदास कवि रचे ग्रंथ चालीस।
ता सुत श्री हरिचंद को को न नवावै सीस॥

बाल्यावस्था से ही उनकी प्रखर काव्य-प्रतिभा प्रकट होने लगी। पंजाब, ब्रज, राजस्थान और जगन्नाथजी की यात्राओं ने उनको नवीन अनुभव प्रदान किया। प्रारंभिक जीवन में उन्होंने अंगरेजों को हितैषी समझ कर उनके प्रति प्रगाढ़ राजभक्ति व्यक्त की किन्तु कालान्तर में उनके अर्थशोषण एवं कूटनीति से क्षुब्ध होकर उनसे देश के स्वातन्त्र्य की कामना करने लगे। राष्ट्रीय-भावना के विकास में उनका यह भाव परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है।

अपने साहित्यिक जीवन में कवियों को संगठित एवं प्रोत्साहित करने के निमित्त भारतेन्दु ने सन् १८६९ में 'कवि वचन सुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। उसी के कुछ समय वाद 'कवि सम्र्वाधिनी सभा' की स्थापना की। सन् १८७३ में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकाली जिसने आगे चलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का नाम धारण कर लिया। काव्य गोष्ठियों में उन्होंने कवियों को प्राचीन कवियों के आदर्श पर कविताएँ रचने की प्रेरणा दी और समस्यापूर्ति आदि के रूप में काव्य विनोद की दरबारी परम्परा को जीवित रक्खा। भारतेन्दु ने सारा जीवन राजसी वैभव-विलास आमोद-प्रमोद तथा काव्यानन्द में बिताया।

कविता के बाद उनकी विशेष प्रवृत्ति नाटक-रचना की ओर रही। संस्कृत और बंगला से उन्होंने अनेक नाटकों का अनुवाद किया और स्वयं भी अनेक मौलिक नाटक लिखे जिनमें 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'विषस्यविषमौषधम्', भारत

दुर्दशा, नीलदेवी आदि प्रमुख हैं। अनुवादों में मुद्राराक्षस विशेष प्रसिद्ध है। अपने नाटकों में भारतेन्दु ने तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक समस्याओं को व्यंगपूर्ण तथा तथा गंभीर दोनों रूपों में प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति पर भी हरिश्चन्द्र ने प्रकाश डाला तथा 'काश्मीर कुसुम' और 'बादशाह दर्पण' लिखकर उन्होंने अपने ऐतिहासिक अध्ययन को व्यक्त किया।

आदरभाव से लोगों ने उनके नाम पर 'हरिश्चन्द्राब्द' नाम से सम्वत् चलाया और उनके गौरव को मान्यता प्रदान की।

संकलन

पहिले ही जाय मिले गुन में श्रवन फेरि,
रूप-सुधा मधि कीनो नैनूह पयान है ।
हँसनि नटनि चितवनि मुसुकानि सुघराई,
रसिकाई मिलि मति पय पान है ।
मोहि मोहि मोहन मई री मन मेरो भयो,
'हरीचंद' भेद ना परत कछु जान है ।
कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय,
हिय में न जानी परै कान्ह है कि प्रान है ॥१॥

गुरु जन बरजि रहे री बहु भाँति मोंहिं,
संक तिनहूँ की छाँड़ि प्रेमरंग राँची मैं ।
त्योंही बदनामी लई कुलटा कहाई हौं,
कलंकिनिहु बसी ऐसी प्रेम-लीक खाँची मैं ।
कहै 'हरिचंद' सबै छोड़्यौ प्रान प्यारे काज,
यातें जग झूठ्यौ रह्यो एक भई साँची मैं ।
नेह के बजाय बाज, छोड़ि सब लाज आज,
घूँघट उघारि ब्रजराज हेतु नाची मैं ॥२॥

बाढ़्यो करै दिन ही छिन ही छिन कोटि उपाय करौ न बुझाई ।
दाहत लाज समाज सुखै गुरु की भय नींद सबै संग लाई ।
छीजत देह के साथ में प्रानहु हा 'हरिचंद' करौं का उपाई ।
क्योंहू बूझै नहिं आँसू के नीरन लालन कैसी दवारि लगाई ॥३॥

सोई तिया अरसाय कै सेज पै सो छबि लाल बिचारत ही रहे ।
पोंछि रुमालन सों श्रम सीकर भौंरन कौं निरुवारत ही रहे ।
त्यौं छबि देखिबै कौं मुख तें अलकैं 'हरिचंद जू' टारत ही रहे ।
द्वैक घरी लौं जके से खरे वृषभानु-कुमारि निहारत ही रहे ॥४॥

बोल्यौ करै नूपुर श्रवन के निकट सदा,
पद-तल लाल मन मेरे बिहर्यो करै ।
बाजी करै बंसी धुनि पूरि रोम रोम मुख,
मन मुसुकानि मंद मनहि हँस्यो करै ।
'हरिचंद' चलनि मुरनि बतरानि चित,
छाई रहै छबि जुग दृगन भर्यो करै ।
प्रानहू ते प्यारो रहे प्यारो तू सदाई तेरो,
पीरो पट सदा जिय बीच फहर्यो करै ॥५॥

कह कहौं प्यारे जू बियोग में तिहारे चित्त,
बिरह अनल लूक भरकि भरकि उठै ।
कैसे कै बिताऊँ दिन जीवन के हा हा काम
कर लै कमान मोपै तरकि तरकि उठै ।
भूलै नाहि हँसनि तिहारी 'हरिचंद' तैसी,
बाँकी चितवनि हिय फरकि फरकि उठै ।
बेधि बेधि उठत बिसीले नैन बान मेरे,
हिय में कँटीली भौंह करकि करकि उठै ॥६॥

रोकहिं जौ तो अमंगल होय औ प्रेम नसै जो कहैं पिय जाइए ।
जौ कहैं जाहु न तो प्रभुता, जौ कछू न कहैं तो सनेह नसाइए ।
जौ 'हरिचंद' कहैं तुमरे बिन जीहैं न तो यह क्यों पतिआइए ।
तासौं पयान समै तुमरे हम का कहैं आपै हमैं समझाइए ॥७॥

मिलि गाँव के नाँव धरौ सब ही चहुँधा लखि चौगुनौ चाव करौ ।
सब भाँति हमैं बदनाम करौ कढ़ि कोटिन कोटि कुदाँव करौ ।
'हरिचंद' जू जीवन को फल पाय चुकीं अब लाख उपाव करौ ।
हम सोवत हैं पिय-अंक निसंक चवाइनै आओ चवाव करौ ॥८॥

जानि कै मोहन के निरमोहहि नाहक बैर बिसाहि बरें परी ।
त्यौं 'हरिचंद' बिगारि कै लोक सो बेद की लीक भलै निदरें परी ।
आपुनि ही करनी को मिल्यो फल तासों सबै सहते ही सरें परी ।
यामैं न और को दोष कछू सखि चूक हमारो हमारे गरें परी ॥९॥

नेह लगाय लुभाय दई पहिले बृज की सब ही सुकुमारियाँ ।
बेनु बजाय बुलाय रमाय हँसाय खिलाय करी मनुहारियाँ ।
सो 'हरिचंद' जुदा ह्वै बसे, बधि कै छलसों ब्रज-बाल बिचारियाँ।
वाह जू प्रेम निबाह्यो भलें बलिहारियाँ लालन वे बलिहारियाँ ।।१०।।

जिय पै जु होइ अधिकार तो बिचार कीजै,
लोक लाज भलो बुरो भलें निरधारिए ।
नैन श्रौन कर पग सबै परबस भए,
उतै चलि जात इन्हैं कैसे कै सम्हारिये ।
'हरिचंद' भईं सब भाँति सों पराई हम,
इन्हौं ज्ञान कहि कहो कैसे कै निबारिए ।
मन मैं रहै जो ताहि दीजिये बिसारि, मन—
आपै बसै जामें ताहि कैसे कै बिसारिए ।।११।।

होते न लाल कठोर इते जु पै होते कहूँ तुमहूँ बरसानियाँ ।
गोकुल गाँव के लोग कठोर करें छल हीय में मारि निसानियाँ ।
यौं तरसावत हौ अबलागन को मुख देखिबे को दधि दानियाँ ।
दीनता की, हमरे तुमरे निरदैपनहू की चलैंगी कहानियां ।।१२।।

प्रानपियारे तिहारे लिये सखि बैठे हैं देर सों मालती के तर ।
तू रही बातें बनाय बनाय मिलै न बृथा गहिकै कर सों कर ।
तोहि घरी छिन बीतत है 'हरिचंद' उतै जुग सो पलहू भर ।
तेरी तो हाँसी उतै नहिं धीरज, नौ घरी भद्रा घरी में, जरै घर ।।१३।।

एक ही गाँव में बास सदा घर पास इहौ नहिं जानती हैं ।
पुनि पाँचएँ सातएँ आवत जात की आस न चित्त में आनती हैं ।
हम कौन उपाय करें इनको 'हरिचंद' महा हठ ठानती हैं ।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं ।।१४।।

व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन हैं हमहूँ पहिचानती हैं ।
पै बिना नंदलाल बिहाल सखा 'हरिचंद' न ज्ञानहि ठानती हैं ।
तुम ऊधौ यहै कहियो उन सों हम और कछू नहिं जानती हैं ।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहीं मानती हैं ।।१५।।

हाय दशा यह कासों कहौं कोउ नाहिं सुनै जौ करे हूँ निहोरन।
कोऊ बचावनहारो नहीं 'हरिचंद' जू यों तो हितू हैं करोरन।
सो सुधि कै गिरिधारन की अब धाइ कै दूर करौ इन चोरन।
प्यारे तिहारे निवास की ठौर कों बोरत हैं अँसुआ बरजोरन।।१६।।

हित की हम सों सब बात कहौ सुख मूल सबै बतरावती हौ।
पै पिया 'हरिचंद' सौं नैन लगे केहि हेत ये बातें बनावती हौ।
यहाँ कौन जो मानै तिहारो कह्यौ हमें बातन क्यों बहरावती हौ।
सजनी मन पास नहीं हमरे तुम कौन को का समुझावती हौ।।१७।।

आजु लौं जौ न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं।
जो 'हरिचंद' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावैं।।१८।।

रोवैं सदा नित की दुखिया बनि ये अँखियाँ जिहि द्यौस सों लागी।
रूप दिखाओ इन्हें कबहूँ 'हरिचंद' जू जानि महा अनुरागी।
मानिहैं औरन सों नहिं ये तुव रंग रँगी कुल लाजहि त्यागी।
आँसुन को अपने अँचरान सों लालन पोंछि करौ बड़ भागी।।१९।।

हौं कुलटा हौं कलंकिनी हौं हमने सब छाँड़ि दयो कहा खोलौ।
आछी रहौ अपने घर में तुम क्यों यहाँ आइ करेजहि छोलौ।
लागि न जाय कलंक तुम्हें कहूँ दूर रहौ संग लागि न डोलौ।
बावरी हौं जो भई सजनी तो हटो हम सो मति आइ कै बोलौ।।२०।।

घेरि घेरि घन आए छाय रहे चहुँ ओर,
कौन हेत प्राननाथ सुरति बिसारी है।
दामिनी दमक जैसी जुगनूँ चमक तैसी,
नभ में बिशाल बग पंगति सँवारी है।
ऐसी समै 'हरिचंद' धीर न धरत नेकु,
बिरह बिथा तें होत ब्याकुल पियारी है।
प्रीतम पियारे नंदलाल बिनु हाय यह,
सावन की रात किधौं द्रौपदी की सारी है।।२१।।

भूली सी भ्रमी सी चौंकी जकी सी थकी सी गोपी,
दुखी सी रहत कछू नाहीं सुधि देह की ।
मोही सी लुभाई कछु मोदक सों खाए सदा,
बिसरी सी रहै नेक खबर न गेह की ।
रिस भरी रहे कबौं फूलि न समाति अंग,
हँसि हँसि कहै बात अधिक उमेह की ।
पूछै तें खिसानी होय उतर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेह की ॥२२॥

आई आज कित अकुलाई अलसाई प्रात,
रीसै मति पूछै बात रंग कित ढरिगो ।
सोने से या गात छ्वैन सोनो भयो आप कै वा,
आतप प्रभात ही को प्रगट पसरिगो ।
'हरीचंद' सौतिन की मुख द्युति छीनी कै वा,
आपनो बरन कहुँ पाय धाय ररिगो ।
नील पट तेरो आज औरै रंग भयो काहे,
मेरे जान बिछुरि पिया तें पीरो परिगो ॥२३॥

सास जेठानिन सों दबती रहै लीने रहै रुख त्यों ननदी को।
दासिन सों सतरात नहीं 'हरिचंद' करै सनमान सखी को।
पीय को दच्छिन जानि न दूसत चौगुनो चाउ बढ़ै या लली को।
सौतिनहू को असीसै सुहाग करै कर आपने सेंदुर टीको ॥२४॥

सिसताई अजों न गई तन तें तऊ जोबन जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचंद' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी।
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी ॥२५॥

जानत ही नहिं हौं जग में किहि कों
सबरे मिलि भाखत हैं सुख ।
चौंकत चैन को नाम सुने सपनेहू
न जानत भोगन को रुख ।

ऐसन सों 'हरिचंद' जू दूर ही
बैठनो का, लखनो न भलो मुख।
मो दुखिया के न पास रहौ उड़ि कै
न लगै तुमहू को कहूँ दुख ॥२६॥

ऊधो जू सूधो गहो वह मारग
ज्ञान की तेरे जहँ गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानिहै ह्याँ इक
श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है।
ये ब्रजबाला सबै इक सी
'हरिचंद' जू मंडली ही बिगरी है।
एक जौ होय तो ज्ञान सिखाइए,
कूप ही में यहाँ भाँग परी है ॥२७॥

लाज समाज निवारि सबै प्रन प्रेम को प्यारे पसारन दीजिये।
जानन दीजिये लोगन कों कुलटा कहि मोहिं पुकारन दीजिये।
त्यों 'हरिचंद' सबै भय टारि कै लालन घूंघट टारन दीजिये।
छाँड़ि सकोचन चंदमुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिये ॥२८॥

कबहुँक वारिन में कुंजन निवारिन में,
इत उत बेलिन कों चौंकि चितवत है।
कासन कपासन पै फिरत उदास कबौं,
पल्लवन बैठि बैठि दिन रितवत है।
'हरीचंद' बागन कछारन पहारन मैं,
जित तित परचो गुनि नेह हितवत है।
सूखे सूखे फूलन पै, तरुगन मूलन पै,
मालती बिरह भौंरि दिन बितवत है ॥२९॥

काले परे कोस चलि चलि थक गये पाय,
सुख के कसाले परे ताले परे नस के।
रोय रोय नैनन में हाले परै, जाले परै,
मदन के पाले परे प्रान पर बस के।

'हरीचंद' अंग हू हवाले परे रोगन के,
सोगन के भाले परे तन बल खसके।
पगन में छाले परे नाँधिबे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के ॥३०॥

थाकी गति अंगन की मति पर गई मंद,
सूख झाँझरी सी ह्वै कै देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई,
सुख के समाज जित तित लागे दूर जान।
'हरीचंद' रावरे बिरह जग दुखमय,
भयो कछू और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे बैनहु अथान लागे,
आओ प्राननाथ अब प्रान लागे मुरझान ॥३१॥

जानि सुजान मैं प्रीति करी सहिकै जग की बहु भाँति हँसाई।
त्यों 'हरिचंद' जू जो जो कह्यो सो करचो चुप ह्वै करि कोटि उपाई।
सोऊ नहीं निबही उनसों उन तोरत बार कछू न लगाई।
साँची भई कहनावति वा अरी ऊँची दुकान की फीकी मिठाई ॥३२॥

इन नैनन मैं वह साँवरी मूरति देखति आनि अरी सो अरी।
अब तो है निबाहिबो याको भलो 'हरिचंद' जू प्रीति करी सो करी।
उन खंजन के मद गंजन सों अँखियाँ ये हमारी लरी सो लरी।
अब लोग चवाव करो तौ करो हम प्रेम के फंद परी सो परी ॥३३॥

मन मोहन तें बिछुरीं जब सों तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचंद' जू प्रेम के फंद परीं कुल की कुल लाजहि खोवती हैं।
दुख के दिन कों कोऊ भाँति बितै बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हम हीं अपनी दसा जानैं सखी निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं ॥३४॥

सुनी है पुरानन में द्विज के मुखन बात,
तोहि देखैं अपजस होत ही अचूक है।
तासों 'हरिचंद' करि दरसन तेरो जिय,
मेट्यो चाहै कठिन मनोभव की हूक है।

ऐसो करि मोंहि सबै प्यारे नँदनंद जू सों,
मिली कहूँ लावैं मुख सौतिन के लूक है।
गोकुल के चंद जू सों लागै जो कलंक तौ तू,
साँचो चौथ चंद ना तो बादर को टूक है ॥३५॥

यह सावन सोक नसावन है मन भावन यामें न लाजै भरो।
जमुना पै चलो सु सबै मिलि कै अरु गाइ बजाइ कै सोक हरो।
इमि भाषत हैं 'हरिचंद' पिया अहो लाडिली देर न यामैं करो।
बलि झूलो झुलावो झुको उझको, यहि पाषैं पतिव्रत ताषैं धरो॥३६॥

उमड़ि उमड़ि दृग रोअत अबीर भए,
मुख दुति पीरी परी बिरह महा भरी।
'हरीचंद' प्रेम माती मनहुँ गुलाबी छकीं
काम झर झाँकरी सी दुति तन की करी।
प्रेम करीगर के अनेक रंग देखौ यह
जोगिआ सजाए बाल बिरिछ तरे खरी।
आँखिन में साँवरी हिए में बसै लाल वह,
बार बारी मुख तें पुकारत हरी हरी॥३७॥

तुमरे तुमरे सब कोऊ कहैं तुम्हैं सो कहा प्यारे सुनात नहीं।
बिरुदावलि आपनी राखो मिलौ मोंहि सोचिबे की कछु बात नहीं।
'हरिचंद' जू होनी हुती सो भई इन बातन सों कछु हात नहीं।
अपनावते सोच बिचारि तबै जल पान कै पूछनी जात नहीं॥३८॥

पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरन को अब पेखिये का।
सुख छाँड़ि के संगम को तुमरे इन तुच्छन को अब लेखिये का।
'हरिचंद' जू हीरन को बेवहार के काँचन को लै परेखिये का।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यौ उन आंखिन सों अब देखिये का॥३९॥

इन दुखियान को न सुख सपनेहूं मिल्यौ,
तासों. सदा ब्याकुल बिकल अकुलायँगी।
प्यारे 'हरिचंद' जू की बीती जानि औध, प्रान
चाहत चले पै ये तो संग ना समायँगी।

देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहि यातें,
जौन जौन लोक जैहें तहाँ पछतायँगी।
बिना प्रानप्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
मरेहू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ॥४०॥

आई गुरुलोग संग न्योते ब्रजगाँव नई,
दुलही सुहाई शोभा अंगन सनी रही।
पूछे मनमोहन बतायो सखियन यह,
सोई राधा प्यारी वृषभानु की जनी रही।
'हरिचन्द' पास जाय प्यारे ललचायो डीठ
लाज की धँसी सो मानो हीर की अनी रही।
देखो अनदेखो देखो आधोमुख हाय तऊ
आधो मुख देखिबे की हौंस ही बनी रही ॥४१॥

हौं तो याही सोच में बिचारति रही री काहे,
दरपन हाथ ते न छिन बिसरत है।
त्यों ही 'हरिचन्द' जू बियोग औ संयोग दोऊ,
एक से तिहारे कछु लखि न परत है।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात तू तौ,
परम पुनीत प्रेम-पथ विचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है ॥४२॥

खेलौ मिलि होरी ढोरो केसर, कमोरी फेंकौ
भरि भरि झोरी लाज जिय में बिचारौ ना।
डारौ सबै रंग संग चंग हू बजाओ गाओ,
सबन रिझाओ सरसाओ संक धारौ ना।
कहत निहोरि कर जोरि 'हरिचन्द' प्यारे,
मेरी बिनती है एक हाहा ताहि टारौ ना।
नैन हैं चकोर मुख-चंद तें परैगी ओट,
या तें इन आँखिन गुलाल लाल डारौ ना ॥४३॥

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुन खानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
'हरिचंद' नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह
नेही नेह के दिवाने सदा सूरति निवानी के।
सर्वस रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के ॥४४॥



चयनिका

चयनिका

अजबेस

छाप छला नवला को गिरै तौ उठाय लला धरि राखत नीकैं।
धोखेहु पाय धरा पै धरै 'अजबेस' सरोखें सहेलिन ठीकैं।
कानन हूँ न सुनी अब लों सो सखी लखी नैनन ऐसी अलीकैं।
लागै धुवाँ अलबेली के आँखिन धावैं लला के ललाई की लीकैं।

कविन्द

कैसी है लगन जामे लगन लगाई, वह
प्रेम के पगन के परेखे हिए कसके।
केतको छपाय कै उपाय उपजाय प्यारे
तुमसो मिलाप के बढ़ाय चोप चसके।
भनत 'कविन्द' हमैं कुंजन बुलाय आप
बसे कित जाय चित्त दै कर अबस के।
पायन में छाले परे नाँघिबे को नाले परे
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।

कान्ह

कानन लौं अँखियाँ ये तिहारी हथेरी हमारी कहाँ लगि फैलिहैं।
मूँदे तऊ तुम देखती हौ यह कोरैं तिहारी कहाँ धौं सकेलिहैं।
कान्हर हू को सुभाव यहै उनको हम हाथन ही पर मेलिहैं।
राधे जू मानौ भलो कि बुरो अँखिमीचनि संग तिहारे न खेलिहैं।

महाकवि

राधिका माधवै एक ही सेज पै धाय लै सोई सुभाय सलोने।
पारै 'महाकवि' कान्ह कौ मध्य मैं राधे कही यह बात न होने।
साँवरे सौं मिलि ह्वैहै न साँवरी बावरी बात बताई है कोने।
सोने को रंग कसौटी लगै पै कसौटी को रंग लगै नहि सोने।

कालिदास

चूमौ कर कमल ये अमल अनूप तेरे
रूप को निधान नेक मो तन निहारि दे।
'कालिदास' कहैं नेक मेरी ओर हेरि हँसि
माथे धरे मुकुट लकुट कर डारि दे।
कुँवर कन्हैया मुख चन्द की जुन्हैया चाहि
लोचन चकोरन की प्यास निरवारि दे।
मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे
लट उरझी है नेक बेसरि सुधारि दे।

किसोर

फूलन दे अबै टेसू कदम्बन अम्बन बौरन छावन दे री।
री मधुमत्त मधूकन पुंजन कुंजन सोर मचावन दे री।
क्यों सहिहै सुकुमारि 'किसोर' अरी कल कोकिल गावन दे री।
आवत ही बनिहै घर कंतहि बीर! बसंतहि आवन दे री।

गदाधर

बस ह्वै मुरली सुर लीन किधौं, किधौं कूल कलिंदी के टोहन गो।
किधौं पीतपटी लखि या लकुटी, किधौं मोर पखा छवि जोहन गो।
किधौं लाल के माल के मध्य फँस्यो किधौं काम कमान सी भौंहन गो।
हम कासों 'गदाधर' योग करैं मन तो मनमोहन गोहन गो।

गंग

मृगनैनी की पीठ पै बेनी लसै सुख साज सनेह समोइ रही।
सुचि चीकनी चारु चुभी चित में भरि भौन भली खुसबोइ रही।
कवि 'गंग' जू या उपमा जो कियो लखि सूरति ता श्रुति गोइ रही।
मनौ कंचन के कदली दल पै अति साँवरी साँपिन सोइ रही।

कान्ह चले कहि आयो कछू न, कँपी, कदलीदल ज्यों थहरानी।
सोचत ही सब द्यौस गयो पुनि रात पुकारत राधिका रानी।
आई न बास को ज्यौं नित आवत आँखिन में परि पैरि परानी।
'गंग' सु तो फिरि फेर फिरी नहीं बूड़न के डर नींद डरानी।

अधर-मधुप से बदन अधिकानी छबि,
बिधि मानो बिधु कीन्हो रूप को उदधि कै ।
कान्ह देखि आवत अचानक मुरछि परचो,
बदन छपाइ सखियान लीन्हौ मधि कै ।
मारि गई 'गंगा' दृग-सर बेधि गिरधर,
आधी चितवन में अधीन कीन्हो अधिकै ।
बान बधि बधिक बधे को खोज लेत फेरि
बधिक-बधू न खोज लीन्हो फेरि बधिकै ।

गिरधर

सोरह कला को चंद पूरन मुखारविंद,
सोरह सिंगार किये सोरह बरस की ।
आभरन बारह कनक बानि बारह की,
बारहो चरन चूमे चोप कंज रस की ।
आठो दंत चौकन सो आठो अंग हीरा हार,
आठहू वरंगना सो विधना सरस की ।
चार खग चार मृग चार फल की सी छबि
चार भुज आरत निकाई है दरस की ।

गिरधारन

सोवत बाल गोपाल लखी मुख अंचर टारिकै मोद भरे उर ।
को कवि जो छबि भाखि सकै भ्रम भूरि रहै मन पूरि सुरासुर ।
माँग मैं सेंदुर सोहि रह्यो गिरधारन है उपमा न तिहूँ पुर ।
मानो मनोज की लागी कृपान परचो कटि बीच ते राहु बहादुर ।

गिरिधारी

मातु सौं कहत उठि आँखिन उनींदे स्याम,
चाखन को दाखन दे माखन दे रोटी दे ।
कहे 'गिरधारी' दही दोना दे खिलोना दे री
भाल दे मुकुट दे विसाल नोय मोटी दे ।

गाइन को छोरि दे बहोरि दे बछरन को
गाइन चराइबे को सोंटी बड़ी छोटी दे ।
बेत दे बिसान दे बसन दे री बाँसरी दे
कामरी दे काँधनी दे कामरी कछोटी दे ।

न्यारी होहु नीर ते तो देहिं चीर ऐसी सुनि,
न्यारी भईं नीर हू ते तीर में कढ़े कढ़े ।
कहैं 'गिरधारी' देत कस न वसन स्याम,
रसना पिरानी हाहा विनती पढ़े पढ़े ।
मीत जो मही के बीच नीचे करि पावनी तौ,
कौतुक दिखावती विनोदन बढ़े बढ़े ।
छीनि लेती अंबर पितंबर समेत सब,
कहौ कान्ह बातें जू कदंब पै चढ़े चढ़े ।

जोइसी

रुचि पाँइ झवाँइ दई मिहँदी जिहि को रँग होत मनो नग है ।
अब ऐसे में स्याम बुलावैं सखी कहि क्यों चलौं पंक भयो मग है ।
अधराति अँधेरी न सूझै कछू भनि 'जोइसी' दूतिन को सँग है ।
अब जाउँ तौ जात धुयौ रँग है, रँग राखौं तौ जात सबै रँग है ।

जसवंत

भूमि पै पाँव धरै कबहूँ नहिं सूरज देखि सकै नहिं जाकों ।
मानस की चरचा का चलाइये चंद चितै न सकै पुनि याकों ।
औचक झाँकि झरोखन में जसवंत विलोकत ताकी प्रभा कों ।
लाऊँ कहौ केहि भाँति कन्हाई हवाल हवा लौं न जानति जाकों ।

तोष

गोपिन के अँसुवान के नीर पनारे बहे बहिके भये नारे ।
नारे भये नदियाँ बहिके, नदियाँ नद ह्वै गये काटि कगारे ।
वेगि चलौ तौ चलौ ब्रज को कवि 'तोष' कहैं ब्रजराज दुलारे ।
वै नद चाहत सिंधु भये अब सिंधु ते ह्वैहैं जलाहल भारे ।

द्विज

बैठी सिंगार सिंगारिकै बाल दयो मृगबिंदु अनूपम भाल पैं।
का कहियै उपमा तिहि की घँघुवारी लुर अलकैं दोऊ गाल पैं।
पाटिन बीच सिंदूर की लीक बिराजति है 'द्विज' ऐसे सुहाल पैं।
मैन महीप मनो जग जीति कै खून भरी बरछी धरी ढाल पैं।

देवकीनन्दन

वे अँगुरी के छुए सिसकैं करवार सी पातरी जो मैं चढ़ाऊँ।
दन्तन दाबतीं जीभै उतै इत प्यारी के नैन रुखाई बचाऊँ।
'देवकीनन्दन' मोहि बड़ो दुख कौतुक होय सो काहि लखाऊँ।
छोड़िहौं गाँव बबा कि सौं मैं पर चूरी न ह्याँ पहिरावन आऊँ।

नरेश

क्रूरि से कौने लये बन बाग ये कौने जु आँबन की हरिआई।
कोयल काहे कराहति है बन कौने चहूँदिसि धूरि उड़ाई।
कैसी 'नरेस' बयारि बहै यह कौन धौं कौन सों माहुर नाई।
हाय न कोई तलास करै ये पलासन कौने दवारि लगाई।

नेवाज

देखि हमैं सब आपुस में जो कछू मन आवत सो कहती हैं।
ये घरहाई लोगाई सबै निसि द्योस 'नेवाज' हमैं दहती हैं।
बातैं चबाव भरी सुनिकै रिस लागति पै चुप ह्वै रहती हैं।
प्रान पियारे तिहारे लये सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती हैं।

सुनती हौ कहा भजि जाहु घरै बिंधि जाहुगी मैन के बानन में।
यह बंसी 'नेवाज' भरी बिष सों, बिष सो बगरावति प्रानन में।
अबहीं सुधि भूलिहौ मेरी भटू भभरौ जनि मीठी सी तानन में।
कुलकानि जो आपनी राखी चहौ, दै रहौ अँगुरी दोऊ कानन में।

प्रवीनराय

सीतल समीर ढार मंजन कै घनसार,
अमल अँगौछे आछे मन से सुधारिहौं।
दैहौं न पलक एक लागन पलक पर,
मिलि अभिराम आछी तपनि प्रहारिहौं।

कहत 'प्रवीनराय' अपनी न ठौर पाय,
सुन बाम नैन या वचन प्रतिपारिहौं।
जबहीं मिलैंगे मोंहि इन्द्रजीत प्रान प्यारे,
दाहिनो नयन मूँदि तोहीं सों निहारिहौं।

परमेस

पापी पियासे सदा ही रहे दृग पायो न मैं कहूँ पानिप पीको।
घेरि रहे न भये चहुँधाँ घरहाँई करै उपहास किती को।
नाहक हौं बदनाम भई न भयो 'परमेस' मनोरथ जी को।
जौ कहूँ अंक में लागती री तौ कलंक हू लागिबो लागतो नीको।

प्रताप

सेवती चमेली बेली मालती निवारी कुन्द,
खिलि रहे फूल खिली चाँदनी में चन्द की।
नूपुर सितार बेनु बाँसुरी मृदंग बाज
नाचत गुपाल तीर तनया कलिन्द की।
नाचि रहे मोर चारो ओर सो 'प्रताप' देखो,
फूलन पै नाचि रही अवली मलिन्द की।
आगे गति नाचि रही नारि कुंज केसर में
बेसर में नाचि रही मूरति गोबिन्द की।

प्रहलाद

आजु आली माथे की सुबेनी गिरै बार बार,
मुख पर मोतिन की लरी लरकति है।
धरत ही पग कोल चूरे की निकरि जाति
जब तब गाँठि जूरे हू की भरकति है।
जानि न परत 'प्रहलाद' परदेस पिउ
मसकि उरोजन सों आँगी दरकति है।
तनी तरकति, कर चूरी चरकति, अंग—
सारी सरकति, आँखि बायीं फरकति है।

बीर

फुहि फुहि बूँद झरें बीर वारि बाहन ते,
कुहूँ कुहूँ सुनि परै कूक कोकिलान की।
ताही समै श्यामा श्याम झूलत हिंडोल चढ़े,
वारों छवि कोटिक मैं रति-पंचबान की।
कुंडल लटक सोहै, भृकुटी मटक मोहै,
अटकी चटक पट पीत फहरान की।
झूलत समै की सुधि भूलत न, हूलत री,
उझकनि, झुकनि, झिकोरनि भुजान की।

बेनी

करि की चुराई चाल, सिंह को चुरायो लंक
ससि को चुरायो मुख, नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन, मृग को चुरायो नैन,
दसन अनार हँसी बीजुरी गँभीर की।
कहै कवि 'बेनी' बेनी व्याल की चुराय लीन्ही,
रती रती सोभा सब रती के सरीर की।
अब तौ कन्हैया जू को चित्तहू चुराय लीन्हो,
छोरटी है गोरटी या चोरटी अहीर की।

भौन

ग्रीषम ते तचि बचि पावस मरूकैं पाई,
तामे फूकैं जुगुनू झबूकैं लागै पौन की।
हूकैं उठैं हिय में कनूकैं लखैं बुंदन की,
झिल्लि हू न मूकैं ये बिसासी वैरी भौन की।
चपला चहूँकैं त्यों त्यों तन में भभूकैं उठैं,
ऊकैं मारे मुरवा कहों मैं कौन कौन की।
दादुर की हूकैं घाय करत अचूकैं उर,
कोकिल की कूकैं तापै बूकैं देती नौन की।

नन्दराम

जालिम जुलमदार जाहिर जहान जौन,
डगर डगर विष बगर बगारिगो ।
कहै 'नंदराम' व्रज गाम की गरीबिनिन,
रावरे की चेरिन पै वेरिन कों मारिगो ।
ऊधो जू हवाल कहि दीजो नंदलाल जी सों,
गोकुल की गैल गैल गजब गुजारिगो ।
फूले ना पलाश ये पलाश कै वसंत बाज
काढ़ि कै करेजो डार डारन पै डारिगो ।

बैठी मृगनैनी खोलि बेनी सुखदैनी ऐन
सजन सिंगार लागी अँगना दिवारी में ।
'नंदराम' तौलें मनमोहन विहारी कहूँ,
मधुर बजाई फूँकि बाँसुरी कि यारी में ।
खटकी करेजे तान अटकी अनोखे नेह,
चटकी चली दै ताल पटकी पछारी में ।
सेज गिरी जेहरी अँगूठी देहरी के द्वार,
मारग में बाजूबंद बाँक फुलवारी में ।

बैठी हती गुरु मंडली में मन ते मनमोहन को न बिसारति ।
त्यों 'नंदराम जू' आइ गये बन ते तहाँ मोरपखा सिर धारति ।
लाज तै पीठि दै बैठी बहू पतिमातु की आँखि तें आँखि न टारति ।
सासु की नैन की पूतरी में निज पीतम को प्रतिबिंब निहारति ।

लोकन सँवारो तौ सँवारो ना बिगारो कछु,
लोकन सँवारी नरनारि न सँवारतो ।
कीन्हे नरनारि तै न प्रेम को प्रचार देतो,
प्रेम को प्रचारो तौ न मैन को प्रचार तो ।
मैन को प्रचारो तो प्रचारो न सँयोग दे तो,
कीन्हो जो सँयोग तो वियोग ना विचारतो ।
'नंदराम' कीन्हो जो वियोग विधना तो भूलि
बौरे बन बागन बसंत ना बगारतो ।

आयो री बसंत कूकि क्वैलिया पुकारैं लगीं,
हम सी गरीबिनी को गात गारि डारेंगी।
मंद मंद मारुत सुगंध सरसान लगीं,
ज्वाल को जगाइकैं जरूर जारि डारेंगी।
'नंदराम' बागन में फूलें लगीं वेली बन,
करि कै अधीरिनी सुधीर ढारि डारेंगी।
एरी तसवीर तौ देखा दे मोंहि मोहन की,
आखिर कदंबन की डारें मारि डारेंगी।

अंगना अनंग कैसी आई उठि आँगन में,
रैनि को न भूलत विलास हास नाह को।
छहरि छहरि उठैं छाती पर छूटे बार,
टूटो हार हिय में बढ़ावे चित्त चाह को।
कहैं 'नंदराम' बार बाम के उनींदे नैन,
मैन कैसे तीर ताकि तोरत सनाह को।
बाहन उठाइ कै जम्हाति अँगराति बाल,
ठाढ़ी मानो लेति सुख सागर की थाह को।

जाती हतीं यमुना जल को हरि आवैं तहाँ सँग लीने सखान री।
औचक भेंट भई वहि मारग हेरि हमारे हियो हरखान री।
त्यों 'नँदराम' जू नेक चितै चित चूर कै दैगो कपूर चखान री।
मोर पखान धरे मिलिगो भयो ता दिन ते मन मोर पखान री।

पाती लिखी नँदनंदन को कछु द्योस में घेरि घटा घहरै है।
दादुर की वै दरारन को सुनि धीर अधीर न क्यों धर जैहै।
ज्वाब कछू लिखि दीजो हमैं 'नँदराम' न ताप हिये सरसै है।
आइहौ जो मनमोहन तौ वह कूबरी दूबरी दूबरी ह्वै है।

अंक में लावत ही इक औचक आई अली दोउ लाज मढ़े हैं।
बोली तबै 'नँदराम जू' बाम अरी लखु, मोहन के झगड़े हैं।
मानत ना परछाँही लखे कब के मुख सों मुख जोरे खड़े हैं।
आई भली, झगरो निरवारि दै मैं बड़ी की बृजराज बड़े हैं।

मंडन

अलि हौं तौ गई जमुना जल कों सु कहा कहौं वीर विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई इतने ही में गागरि सीस धरी।
रपट्यो पग घाट चढ़ो न गयो कवि 'मंडन' ह्वै कै बिहाल गिरि।
चिर जीवहु नंद को वारो अरी गहि बाँह गरीब नै ठाढ़ी करी।

रूप की रीझनि प्रेम परचो किधौं रूप की रीझनि प्रेम सौं पागी।
'मंडन' मैन जग्यो मनसा बस कै मनसा बस मैन के जागी।
लाजहि लै कुलकानि भगी किधौं लाज लिए कुलकानहि भागी।
नैन लगे वहि मूरति माई किधौं वह मूरति नैननि लागी।

बिरुझानी सी सास रिसानी सी नन्द जेठानी कछू अनखानी रहै।
पिय प्यारे की प्यारी दुलारी बहू अब ताहि रसोई में जाने कहै।
कवि 'मंडन' बोलत भाव तो हो सखि कोऊ न एतो सयान गहै।
यह सोनो सो अंग सोहाग भरो कहौ कैसे के आगी की आँच सहै।

मकरन्द

कीधौं वहि देस घन घुमड़ि न बरषत,
कीधौं 'मकरंद' नदी नद पथ भरिगे।
कीधौं पिक चातक चतुर चक्रवाक बक,
कीधौं मत्त दादुर मधुर मोर मरिगे।
मेरे मन आवत न आली प्यारे आवत जो,
काम कूर निकरि मही तें धौं कि करिगे।
कीधौं पंचसर हर फेर के भसम कियो,
कीधौं पंचसर जू के पाँचौ सर सरिगे।

मधुसूदन

आयो बसन्त दहन्त सखी घर आये न कंत न पाये सँदेसे।
कोकिल कूकि उठी चहुँ ओर तें हूकि उठी हिय लूक सो लेसे।
याही तें जीय डरैं 'मधुसूदन' जाति नहीं बन वाही अँदेसे।
फूलि पलास रहे जितहीं तित, लोहू भरे नख नाहर कैसे।

महराज

बात चली चलिबे की जहीं फिरि बात सुहानी न गात सुहानो।
भूषन साजि सकै कहि को 'महराज' गयो छुटि लाज को बानो।
यों कर मीड़ति है बनिता सुनि पीतम को परभात पयानो।
आपने जीवन को लखि अंत सु आयु की रेख मिटावति मानो।

मून

उतै आई नायिका नबेलिन विहाय 'मून'
इतै कढ़े बेलिन ते स्याम यहि धाक री।
जुरिगे दुहूँ के दृग लालची लचीले लोल,
ललित रसीले लोक लाज को अदा करी।
मुरि मुसुकाइ के छबीली पिकबैनी नेक
करत उचार मुख बोलन को बाँक री।
ताक री कुचन बीच काँकरी गोपाल मारी,
साँकरी गली में प्यारी हाँ करी न ना करी।

मीरन

पौढ़ी हती पलँगा पर मैं निसि ज्ञान'रु ध्यान पिया मन लाये।
लागि गईं पलकैं पल सों पल लागत ही पल में पिय आये।
ज्योंहि उठी उनके मिलिबे कहँ जागि परी पिय पास न पाये।
'मीरन' और तो सोय कै खोवत हौं सखि! पीतम जागि गँवाये।

मुबारक

कान्ह के बाँकी चितौनि चुभी चित कालिह तू झाँक री बाल गवाछन।
देखिहै नोखी सी चोखी सी कोरनि ओछे फिरै उभरे जित जा छन।
मारचो सँभारि हिये मो 'मुबारक' हैं सहजे कजरारे मृगाछन।
काजर दै नहीं ए री सुहागिनि! आँगुरी तेरी कटैंगी कटाछन।

कनक बरन बाल नगन लसत भाल,
मोतिन की माल उर सोहै भलीभाँति है।
चंदन चढ़ाय चारु चन्द्रमुखी मोहिनी सी
प्रात ही अन्हाइ पगु धारे मुसुकाति है।

चूनरी विचित्र स्याम साजि कैं 'मुबारक जू'
ढाँकि नख सिख ते निपट सकुचाति है ।
चन्द्र में लपेटि कै समेटि कै नखत मानौं,
दिन को प्रनाम किये राति चली जाति है ।

गूंजेंगे भौंर पराग भरे पर कूजेंगी कोकिल बेसुर गाय कै ।
फूलेंगे केसू कुसुंभ जहाँ लगि दौरेंगो काम कमान चढ़ाय कै ।
पौन बहैगी सुगंध 'ममारख' लागैगी ही में सलाक सी आय कै ।
मेरो मनायो न मानैगी भामती ऐहै बसंत लै जैहै मनाय कै ।

वैह साँकरी कुंज की खोरी अचानक राधिका माधव भेंट भई ।
मुसक्यानि भली अँचरा की अली त्रिबली की बली पर दीठि गई ।
झहराय, झुकाय, रिसाय 'ममारख' बाँसुरिया हँसि छीनि लई ।
भृकुटी मटकाइ गुपाल के गाल में आँगुरी ग्वालि गड़ाय गई ।

हमको तुम एक अनेक तुम्हें उनकी के विवेक बनाए बहो ।
इत आस तिहारी बिहारी उतैं सरसाय कै नेह सदा निबहो ।
करनी है 'मुबारक' सोइ करो अनुराग लता जिन बोए दहो ।
घनस्याम सुखी रहो आनँद सों तुम नीके रहो उनही के रहो ।

मुरलीधर

कोऊ न आयो उहाँ ते सखी री जहाँ मुरलीधर प्रान पियारे ।
याही अँदेसे में बैठी हुती उहि देस के धावन पौरि पुकारे ।
पाती दई धरि छाती लई दरकी अँगिया उर आँनद भारे ।
पूछन को पिय की कुसलात मनो हिय द्वार किवाँर उघारे ।

मोतीराम

पीउ-पीउ कहति, मिलै जो मोहिं आज पीउ,
सौने चौंच चातक मढ़ाऊँ अति आदरन ।
कठिन कलापिन के कंठन कटाय डारौं,
देत दुख दारुन चिराय डारौं दादरन ।

'मोतीराम' झिल्ली-गन-मंदिर मुँदाय डारौं,
बधिक बुलाय बधौं बन के बिरादरन।
बिरह की ज्वालन सों झर्राहि जराइ डारौं
स्वाँसन उड़ाऊँ बैरी बेदरद बादरन।

रघुनाथ

देखिये देखि या ग्वारि गँवारि की नेकु नहीं थिरता गहती हैं।
आँनद सों 'रघुनाथ' पगीं पगीं रंगन सौं फिरतै रहती हैं।
कोर सों छोर तरचोना के छ्वै करि ऐसी बड़ी छवि को लहती हैं।
जोबन आइबे की महिमा अँखियाँ मनौं कानन सों कहती हैं।

मेघ जहाँ तहाँ दामिनी है अरु दीप जहाँ तहाँ जोति है भातें।
केस जहाँ तहाँ माँग सुबेस है, है गिरि गेरु तहाँ रँग रातें।
मोहन सों मिलिबे को बलाय ल्यों मैं 'रघुनाथ' कहौं हठ यातें।
होत नयो नहीं आयो चल्यो रँग साँवरे गोरे को संग सदातें।

दे कहि मीर-सिकारन कों इहि बाग न कोइल आवन पावै।
मूँदि झरोखन मंदिर के मलयानिल आय न छावन पावै।
आये बिना 'रघुनाथ' बसंत कों ऐबो न कोऊ सुनावन पावै।
प्यारी कों चाहै जियाओ, धमार तौ गाँव में कोऊ न गावन पावै।

ऐसे बने 'रघुनाथ' कहै हरि काम कलानिधि के मद गारे।
झाँकि झरोखे सों आवत देखि खड़ी भई आइकै आपने द्वारे।
रीझी सरूप सौं भीजी सनेह यों बोली हरें रस आखर भारे।
ठाढ़ हो तो सों कहौंगी कछू अरे ग्वाल बड़ी बड़ी आँखिन वारे।

अंजन दै दृग खंजन से करि केसरि आनन सौं मसली हौ।
पान को आनि अहार रह्यो अरु हार के भार चलें फसती हौ।
देखती हौं 'रघुनाथ' कछू दिन तें इहि छैलता में लसती हौ।
साँची कहो तुम्है मेरियै सौं तुम कौन की आँखिन में बसती हौ।

केसरि सों पहिले उबट्यो अँग रंग लस्यो जिमि चंपकली है।
फेरि गुलाब के नीर न्हवाय पिन्हाई जो सारी सुगंध रली है।
नाइन या चतुराइन सौं 'रघुनाथ' करी बस गोपलली है।
पारत पाटी कढ़्यो फिरि यों ब्रजराज सों आज मिलौ तौ भली है।

राम

चौतनी चकोर चहुँओर जानि चंदमुखी,
रही बचि डरनि दसन दुति दम्पा के।
लीलि जाते बरही बिलोकि बेनी बनिता की,
गुही जौ न होती तो कुसुम सर कम्पा के।
'रामजो' सुकवि ढिग भौंहैं ना धनुष होतीं,
कीर कैसे छाँड़ते अधर बिम्ब झम्पा के।
दाख के से झौंरा झलकत जोति जोबन की,
चाटि जाते भौंरा जो न होती रँग चम्पा के।

रिषिनाथ

गुंजहरा 'रिखिनाथ' गरें कढ़ि कुंजन ते छवि पुंजन छाइगो।
मंद हँसी है वसी करसी सरसीरुह लोचन लोल नचाइगो।
सूही सजी सिर पै पगरी लिये फूल छरी इत औंचक आइगो।
ह्वै नियरें सियरे दृग को पियरे पट को हियरे में समाइगो।

रूप

कैधौं कली बेला की चमेली की चमक चारु
कैधौं कीर कमल में दाड़िम दुरायो है।
कैधौं द्युति मंगल की मंडल मयंक मध्य,
कैधौं बीजुरी को बीज सुधा में सिरायो है।
कैधौं मुकुताहल महावर में रोष राखे,
कैधौं मन मुकर में सीकर सुहायो है।
'रूप' कवि राधिका बदन में रदन छवि,
सोरहौं कला को काटि बत्तिस बनायो है।

लछिराम

गोरस बेंचिबे गोकुल मैं, बनिकै गुजरेटी गलीन अरे हैं।
नाइनि चारु चितेरिनिओ, चिरीमारिनि ह्वै चतुराई करे हैं।
जा छिन तें 'लछिराम' लखैं, वह भाँवरे लाखन भाँति भरे हैं।
रावरो रूप निहारिबे को, बहुरुपिनी लौं बहु रूप धरे हैं।

वाहिद

सुंदर सुजान पर, मंद मुसकान पर,
बाँसुरी की तान पर, ठौरन ठगी रहै।
मूरति बिसाल पर, कंचन की माल पर,
खंजन सी चाल पर, खौरन खगी रहै।
भौहैं धनु मैन पर, लोने जुग नैन पर,
सुद्ध रस बैन पर, 'वाहिद' पगी रहै।
चंचल से तन पर, साँवरे बदन पर,
नंद के नँदन पर, लगन लगी रहै।

विदुष

कुंती, पानचाली, दमयंती, तारा, सकुंतला,
कि अहिल्या, मंदोदरी, पहिले सुधारे हैं।
मैनका, घृताची, रंभा, मंजुघोषा उर्वशी,
तिलोत्तमा को तिनहू ते हलकी निहारे हैं।
'विदुष' सुकवि भनै गिरा, रमा, जमा, सिया,
मोहिनी हू रचि फिरि मन में विचारे हैं।
राधे को बनाय विधि धोये हाथ जामो रंग,
ताको भयो चंद कर झारे भये तारे हैं।

संभु

सोये लोग घर के बगर के कँवार खोलि,
जानि मन मोहि निज गई जुग जामिनी।
चुप चाप चोरा चोरी चौंकत चकित चली,
प्रीतम के पास चित चाह भरी भामिनी।

पहुँची सँकेत के निकेत 'संभु' सोभा देत,
ऐसी बन वीथिन बिरान रही कामिनी।
चामीकर चोर जान्यो, चम्प लता भौंर जान्यो,
चन्द्रमा चकोर जान्यो, मोर जान्यो दामिनी।

गाँव कै लोग धरैं सब नाँव, चबाव चहूँ दिसि तें उनयो है।
भीतर 'सम्भु' सदा रहिये, जमुना को अन्हाइबो छूटि गयो है।
देखत ही लगि जात कलंक निसंक ह्वै काहू न अंक लयो है।
गोकुल में अरी नन्दलला, अबलान को चौथि को चन्द भयो है।

आजु हौं गई ती 'सम्भू' न्योते नंद गाँव ब्रज
साँसति बड़ी है रूपवती बनितान की।
घेरि घेरि तियन तमासो करि मोहिं लख्यो
गहि गहि गुलुफ लोनाई तरुवान की।
एक कल बोलि बोलि औरन दिखायो रीझि
रीझि सुघराई अरुनाई मेरे पान की।
घूँघुट उघारि मुख लखि लखि रहै एकै
एकै लगी नापन बड़ाई अँखियान की।

दोऊ दुहूँ पहिरावत चूनरी दोऊ दुहूँ सिर बाँधत पागैं।
दोऊ दुहूँ के सिंगारत अंग गरे लगि दोऊ दुहूँ अनुरागैं।
'संभु' सनेह समोय रहे रस ख्यालन में सिगरी निसि जागैं।
दोऊ दुहूँन सौं मान करैं अरु दोऊ दुहूँन मनावत लागैं।

कौंहर कौंल जपादल विद्रुम का इतनी जो बँधूक में कोति है।
रोचन रोरी रची मेंहदी 'नृपसंभु' कहैं मुकुता सम पोति है।
पाँय धरै ढरै ईंगुर सो तिन मैं मनि पायल की घनी जोति है।
हाथ द्वै तीनि लौं चारिहूँ ओर तें चाँदनी चूनरीके रँग होति है।

आयो बसंत दहंत सखी घर आये न कंत न पाये सँदेसन।
'संभु' कहैं पथिकाये सबै अरु कोऊ विदेसी रहे न विदेसन।
चंदमुखी दृगते अँसुवा ढुरि आनि परे कुच याही अँदेसन।
मानो मयंक सरोजन में मुकुताहल लै लै चढ़ावै महेसन।

शिवनाथ

मेघा होत फूहर, कलपतरु थूहर,
परमहंस चूहर की होत परिपाटी को।
भूपति मँगैया होत, ठाढ़ काम गैया होत,
गैवर चुअत मद चेरो होत चाटी को।
कहै 'सिवनाथ' कवि पुन्य कीन्हें पाप होत,
बैरी निज बाप होत, साँप होत साँटी को।
स्यार सुत सेर होत, निधन कुबेर होत,
दिनन को फेर होत मेर होत माटी को।

लुरि लुरि ढुरि ढुरि झुकि झुकि रीझि रीझि,
आधे आधे बरन कहति किलकारी सों।
सुनत सोहात नेको समुझि परत कैसो,
चुभकि चिबुक गाढ़ परत हहारी सों।
खैंचि खैंचि पीतपट लचि लचि गात उर,
अम्बुक उमगि मुसुकानि अरुनारी सों।
ढीली ढीली भौंहन रसीली छवि 'सिवनाथ'
दै दै करतारी प्यारी हँसै गिरधारी सों।

चंद की मरीची कान तोरि बिथराय दीन्हों,
कैधों हीरा फोरिकै कनूका धरि धरि गये।
कैधौं काम मंदिर की झँझरी बनाई विधि
कैधौं सोनजुही के पुहुप झरि झरि गये।
कामिनी मनोरथ सु आलबाल 'सिवनाथ'
मैन के मतंग माते बेलि चरि चरि गये।
अमल कपोलन पै दाग नहीं सीतला के
डीठि गड़ि गड़ि गई, गाड़ परि परि गये।

सेवक

अँगना में बुलाय बनी अँगना अँगना पहिनाय दे जोसिनी को।
दक्षिणा दिल खोलि कै दीजै अली सुबधाई सुनाव सुतोसिनी को।
कवि 'सेवक' पाँव परो सब के विधि दाहिनो आजु अदोसिनी को।
तजि औषधि मैं तो अराम भई पति आइगो मेरी परोसिनी को।

श्रीपति

एहो ब्रजराज एक कौतुक बिलोको आज,
भानु के उदै में वृषभानु के महल पर ।
बिनु जलधर बिनु पावस गगन धुनि,
चपला चमक्कै चारु घनसार थल पर ।
'श्रीपति' सुजान मनमोहत मुनीसन को,
सोहै एक फूल चारु चंचला अचल पर ।
तामें एक कीर चोंच दाबे है नखत युग,
सोभित है फूल स्याम लोभित कमल पर ।

जल भरे झूमैं मानौं भूमैं परसत आइ,
दसहू दिसानि घूमैं दामिनी लये लये ।
धूरि धार धूसरित धूम से धुंधारे कारे,
धारे धुरवानि धावै छवि सों छये छये ।
'श्रीपति' सुजान कहूं घरी घरी घहरायँ,
तावत अतन तन ताप सो तये तये ।
लाल बिन कैसे लाज चादर रहैगी अब,
कादर करत मोंहि बादर नये नये ।

बैठी अटा पर औध बिसूरत पाये सँदेस न 'श्रीपति' पीके ।
देखत छाती फटै निपटै, उछटै जब बिज्जु छटा छवि नीके ।
कोकिल कूकैं लगैं मन लूकैं उठै हिय हूकैं वियोगिन ती के ।
वारि के वाहक देह के दाहक आये बलाहक गाहक जी के ।

हनुमान

न सरोजन की कली चाहौ अली तौ कहौं तोहि मैं मन दै चलौ री ।
फिरि देहौं कलंक वृथा ही सबै इहितें पहिले ही बचै चलौ री ।
तुम और कहूँ जो कहौगी चलै चलिहौं 'हनुमान' अबै चलौ री ।
मन भाये न फूल मिलैंगे तुमै न सरोवर पै हमें लै चलौ री ।

हरजन

मेरे नैन अंजन तिहारे अधरन पर
सोभा देखि गुमुर बढ़ावें सब सखियाँ।
मेरे अधरान में ललाई पीक लीक तैसी
रावरे कपोल गोल नोखी लीक लखियाँ।
कवि 'हरजन' मेरे उर गुन माल तेरे
बिनु गुन माल रेख शेख देख कखियाँ।
देखौ लै मुकुर देखौ कौन की अधिक लाल
मेरी लाल चूनरी कि तेरी लाल अखियाँ।

हठी

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के बगर को।
नरु कीजै तौन जौन राधे राधे नाम रटै
तरु कीजै वरु कूल कालिंदी कगर को।
एतने पै जो कछु सो कीजिये कुंअर कान्ह,
राखियै कला निधान 'हठी' के झगर को।
गोपी पद पंकज पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर को।

कलप लता के कैधौं पल्लव नवीन दोऊ,
हर मंजुता के कंजता के बनताके हैं।
पावन पतित गुन गावें मुनि ताके, छबि—
छैल सब ताके जनता के गरुता के हैं।
नवोनिधि सिद्धिता के आले हैं असल 'हठी'
तीनों लोक ताके प्रभु ताके प्रभुता के हैं।
कटैं पाप ताके बँधैं पुन्य के पताके, जिन
ऐसे पग ताके वृषभानु की सुता के हैं।

मोरपखा, गरे गुंज की माल करे नव वेष बड़ी छवि छाई।
पीत पटी दुपटी कटि में लपटी, लकुटी 'हठी' मो मन माई।
छूटी लटैं डुलैं, कुंडल कान, बजै मुरली, धुनि मंद सुहाई।
कोटिन काम गुलाम भये जब कान्ह ह्वै भानुलली बनि आई।

भौ नते गौन कै भानुलली कढ़ि देखन आई सबै ब्रज नारैं।
पैरो दुकूल सिंगार सजै मनौं फूलि रही बन चम्पक डारैं।
पाँइम तें अँगुरी नख ह्वै 'हठी' लाली की लीकैं कढ़ी असरारैं।
मैली भई उपमा सगरी मनौ फैली मही मैं महावर धारैं।

हीरालाल

हिमकर वैरी और हाथी औ हरिन हरि,
खंजरीट वैरी तेरो मीन औ मराल री।
कदली, कपूर फेर कोकिल की बैरिनि तू,
दाड़िम, बँधूक, विम्ब वैरी है सेवाल री।
चम्पा, सम्पा, चंचरीक कीर कम्बु हीरा, लाल
जमुना औ सौति बैरी कुंदन औ ब्याल री।
एते सबै बैरी तेरे एक हितू स्याम तेरे,
स्याम हू ते बैर तेरो ह्वैहै कौन हाल री।

हरिचरन दास

आँनद को कंद बृषभानुजा को मुखचंद
लीला ही ते मोहन के मानस को चोरै है।
दूजो तैसो रचिबे को चाहत विरंचि नित,
ससि को बनावै अजौं मन को न मोरै है।
फेरत है सान आसमान पै चढ़ाय फिरि
पानी पै चढ़ाइबे को वारिधि में बोरै है।
राधिका के आनन को जोड़ न बिलोकै विधि,
टूक टूक तोरै पुनि टूक टूक जोरै है।

●

कुछ अज्ञात-नाम कवियों के छन्द—

सूधी चितौनि चितै न सकै औ सकै न तिरीछी चितौनि चितै।
गुड़ियान को खेलिबो फीको लगै अरु काम कला को बिलास कितै।
लरिकापन यौवन संधि भई, दुहूँ बैस को भाव मिलै न हितै।
बिबि चुम्बक बीच को लोह भयो मन जाइ सकै न इतै न उतै।

बातें बनावती क्यों इतनी हमहूँ सों छिपा नहिं आज रहा है।
मोहन की बनमाल को दाग देखाइ रह्यो उर तेरे अहा है।
तू डरपै करै सौहैं सु मेरे अरी! सुनु साँच को आँच कहा है।
अंक लगी तो कलंक लग्यो, जो न अंक लगी तौ कलंक कहा है।

नेक ही के बिछुरे सब ही सुख साज भये दुख दायक भारे।
नैनन नीर झरी बरसैं, तरसैं छतियाँ बिन प्रान पियारे।
आली! वियोग बिथा ढरिबे तें भलो मरिबो मन मान्यो हमारे।
एक को दुःख मरे मिटि जात, बियोग मैं होत हैं दोऊ दुखारे।

सखि जा दिन ते परदेस गये पिय ता दिन ते तन छीजतु है।
निसि बासर भौन सुहात नहीं सुधि आये उसासन लीजतु है।
अब और बनाव बनै न कछू अनुभौ इतनो सुख कीजतु है।
उनकी अनुहारि निहारि सखी ननदीमुख देखि कै जीजतु है।

साहस कै हँसिकै रस के मिस माँगी विदेस विदा मृदुबानि सों।
सो सुनि बाल गई मुरझाइ दही बर बेलि ज्यों धीर दवानि सों।
नैन गरो हियरो भरि आयो पै बोलि न आयो कछू वा सुजानि सों।
सालैं अजौं उर माझ गड़ी वे बड़ी अँखियाँ उमड़ी अँसुवानि सों।

बैठे अकेले रहे रँग रावटी प्यारी पठाई गई तहाँ नाइन।
देखत ही रहे रीझि लला अति वाके सरूप सु सील सुभाइन।
कै बिनती उलटोहीं भई सुगही उन बाँह परी तब पाइन।
एजू! अजू! अजू ऐसी न कीजिये हा! हा! हमैं खिझिहैं ठकुराइन।

खंजन मीन बखानि कुरंगन, वारत कंजन प्रीति पथ्यो करैं।
डोरनि पूतरी कोरनि मोरनि, ओरनि मों यदुबीर छक्यो करैं।
गायो करैं गुन लायो करैं, मन पायो करैं रस रंग थक्यो करैं।
मेरे बड़े बड़े नैननि ओर, बड़े बड़े नैननि स्याम तक्यो करैं।

श्रीपति औ वृषभानु लली न मिले उर लाजन प्रेम अगाधिका।
तैसी गुलाब कली चटकारिन डारी मरोरि मनोज की वाधिका।
बेलिन सों उरझी सुरझी सुरझी सी समीर सुगंधनमाधिका।
राधे परी कहि माधव माधव, माधव टेरत राधिका राधिका।

सावन सुहावन ह्याँ लागत भयावन सो,
आवत अवधि अब सोचे गजगामिनी।
आय हैं कबहुँ बल बीर ह्याँ कि नाहीं ऊधौ,
कैसे धीर धरैं ये अधीर ब्रजकामिनी।
जहाँ तहाँ जीवन की ज्योति जगैं ज्वाल जैसे,
जम की जमाति सी जनाति जाति जामिनी।
जारै है पपीहरा, पुकारै पीउ पीउ टेरि,
घेरि मारै बादर, दरेरि मारै दामिनी।

छ्वैहैं नहिं इंदीवर न्हैहैं ना कलिंदी माँहि,
नाहिं अब सखी स्याम बिंदी हू लगाइहैं।
आनि जनि नील मनि भूषननि मेरी बीर,
दूरि करि ए री मृगमद को न लाइहैं।
आली काकपाली की न सुनिहैं रसाली कूक,
अब तो तमालन के कुंज में न जाइहैं।
देखिहैं घटान को न चढ़िहैं अटान बाम,
स्याम संग बैर अब हमहूँ बढ़ाइहैं।

गंग नहीं मुकुता भरी माँग है, चंद नहीं यह उद्यत भाल है।
नील नहीं मखतूल को पुंज है, सेस नहीं सिर बेनी विसाल है।
भूति नहीं मलयागिरि है, विजया है नहीं विरहा सों विहाल है।
ऐरे मनोज सँभारि कै मारियो, ईस नहीं यह कोमल बाल है।

ग्वारि गई एक ह्याँकी उहाँ मग रोकि सुतौ मिस कै दधिदान को।
वासों भटू भरि भेंटी भुजा पुनि नातो निकास्यो कछू पहिचान को।
आई निछावरि कै मन-मानिक, गोरस दै, रस लै अधरान को।
वाही दिना तें हिये में गड़्यो वह ढीठ बड़ो बड़री आँखियान को।

जाके लये यह गाँउ चबाय में नाम धराय कै बाल सही री।
जाके लये गृह गोकुल छोड़ि कै जाइ कै कुंजन बैठि अही री।
जाके लये पति को परिहास विलास तज्यो अरु लाज बही री।
मोहि मनाय रहे बिनती करि, ता हरि सों हम रूठि रही री।

आपने ओर की चाहें लिख्यो लिखि जाति कथा उत मोहन ओर की।
प्यारी दया करि बेगि मिलौ, सहि जाति व्यथा नहिं मैन मरोर की।
आपु ही बाँचि लगावति अंक अहो किन आनी चिठी चितचोर की।
राधिके राधे रही जकि, भोर लौं ह्वै गई मूरति नंदकिसोर की।

हेरे हँसे नहिं औरन को अरु चौगुनो चित्त बढ़ावत मेरो।
नाहक तू बदनाम करै ब्रज की बनितान करै घर घेरो।
दोस न दीजिये मेरी भटू परनारिन को सपनो नहिं हेरो।
मारिबो पी को न सालत है पर सालत सौति बचाइबो तेरो।

मानी न मानवती भयो भोर सु सोच तें सोय गये मन भावन।
नेह तें सासु कही दुलही भई बार कुमार को जाहु जगावन।
ऐबे को सोच, जगैबे की लाज लगी पग नूपुर पाटी बजावन।
सो छवि हेरि हेराय रहे हरि कौन को रूसिबो काको मनावन।

सुंदर गोल कपोलन पै अनमोल सो कुंडल डोलनि प्यारी।
ही हलकैं द्युति मोहन की झलकैं सुथरी अलकैं घुँघुरारी।
वा मुसुकानि विलोकत ही कुलकानि सबै तजि होति बिदारी।
लागि जो जाहिं तौ कीजै कहा सखि ये अँखियाँ रिझवारि हमारी।

है यह नायक दच्छिन छैल सु तो अनुकूल कियो चितचोर है।
है अभिमानी सु आपन रूप को दीन ह्वै तोसों रहो निसि भोर है।
है तन स्यामरो, गोरो रँग्यो मन तेरेई प्रेम परो झकझोर है।
है सुखदायक नैनन नागर, है ब्रजचंद पै तेरो चकोर है।

बंक बिलोकनि दीठि चलाय री नेह लगाय के पीठि न दीजै।
बौरी न हूजिये मान कह्यो अब पीतम को अपनाय के लीजै।
मोहन रूप की बैस ही पाइकै को नहिं जोबन के मद भीजै।
ऊजरी जो पै करी करतार तौ गूजरी! एतो गरूर न कीजै।

न्हातई न्हात तिहारई स्याम कलिन्दियौ स्याम भई बहुतै है।
धोखेहू धोयहौं या मैं कहूँ तो यहै रँग सारिन मैं सरसैहै।
साँवरे अंग को रंग कहूँ यह मेरे सुअंगन में लगि जैहै।
छैल छबीले छुऔगे जो मोंहि तो गातन मेरे गोराई न रैहै।

सारद मास मैं रास रच्यो यमुना तट पुंज बिलास की छावौं।
बीन मृदंग पखावज बेनु बजाय बताय प्रताप हौं गावौं।
ऊधो सुभौंह कटाछ के कोर करोर कै प्रीति की रीति रिझावौं।
रीझे गोपाल जो कूबर पै तब कूबर आज मैं कौन पै पावौं।

दै दधि दीन्हो दिखावत का चख काछनियाँ तनियाँ तन हेरो।
हेरो कहूँ बछरान को जाइ सो नाहक क्यों बनितान को घेरो।
घेरो कियो घरि चारि लौं मोहन मोतिन हार छुवो जनि मेरो।
मेरो कह्यो करि जाहु न तौ लुटि जायगो साँवरे गाँव रे तेरो।

दिन द्वै ते अरी लखि देह दसा, दृग नीचे किये तृण तोरै लगी।
सुनि कै मिलिबे की कछू चरचा सखि सों कर जोरि निहोरै लगी।
नहिं लाल के सौंहे कढ़ै कबहूँ ! पै, छिपाछिपी प्रेम बटोरै लगी।
अब तौ मन ही मन आपने, वै कछु नातो गोपाल सों जोरै लगी।

नैन के बान चलाय कै स्याम गिरावत हौ ब्रजबाम घनीन कों।
आजु कलंक लग्यो तिहिं कों अरु नंदहु कों नँद की घरनीन कों।
चेतै न जो वृषभानु सुता दुख ह्वैहै बड़ो इहिं की सजनीन कों।
जाय के खाय परैंगी सबै वा अहीर के द्वार पै हीर कनीन कों।

संग सखी के गई अलबेली महासुख सों बन बाग बिहारन।
बाढ़े वियोग, विलास गये सब देखत ही वै पलास की डारन।
जानि बसंत औ कंत बिदेस सखी लगी बावरी सी है पुकारन।
स्वै चलिहैं चुरियाँ चलि आवरी ! आँगुरियाँ जनि लाव अँगारन।

दूरि ही ते दुरि दुरि देखत दृगन मोरि,
नेरे नेंक चलौ मैं दिखाऊँ घनस्याम री।
आँखिन विलोके बीर ! काहू की भजत भूख,
पानी की कहानी क्यों सिरात प्यास ताम री।

बन वनमाली आली गोकुल की गैलनि मैं
छैलनि छबीलो छविवारी कोर काम री।
एरी भटू बावरी अयानी तै न जानी यह,
लै लै तेरो बीन मैं बजावै नित नाम री।

सुंदरि साज सिंगार सुधारति सौति के गर्बहि गंजन को।
गंग लिये कर सारसुता मनमोहन के मनरंजन कों।
कज्जल चारु दिये अँगुरी तिहि मैं मेंहदी रँग अंजन कों।
ऐसी जची हिय मैं उपमा मनो गुंज चुँगावति खंजन कों।

रीतिकाव्य संबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, डॉ० नगेन्द्र : सम्पादक
२. रीतिकाव्य की भूमिका ... डॉ० नगेन्द्र
३. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास ... डॉ० भगीरथ मिश्र
४. हिन्दी रीतिसाहित्य ... डॉ० भगीरथ मिश्र
५. रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन ... डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी
६. हिन्दी रीतिपरम्परा के प्रमुख आचार्य ... डॉ० सत्यदेव चौधरी
७. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना ... डॉ० बच्चनसिंह
८. मध्यकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्तियाँ ... श्री परशुराम चतुर्वेदी

अनुक्रमणिका

[भूमिका भाग में प्रयुक्त ग्रन्थ, ग्रन्थकार तथा अन्य प्रसिद्ध नाम]
संलग्न अंक पृष्ठ-संख्याओं के द्योतक हैं।


CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
New Delhi

